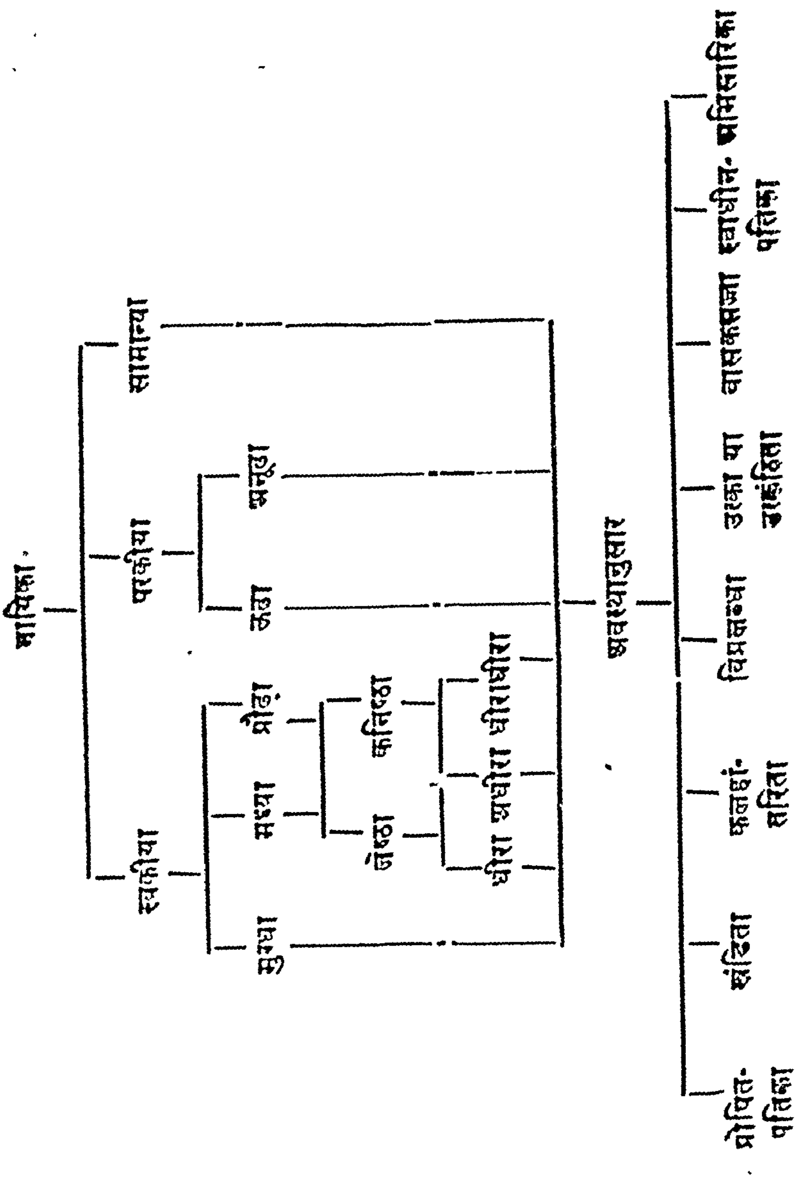

नायिका
स्वकीया
परकीया
सामान्या
मुग्धा
मध्या
प्रौढ़ा
ऊढ़ा
अनूढ़ा
ज्येष्ठा
कनिष्ठा
धीरा
अधीरा
धीराधीरा
अवस्थानुसार
प्रोषित-पतिका
खंडिता
कलहांतरिता
विप्रलब्धा
उत्का या उत्कंठिता
वासकसज्जा
स्वाधीन-पतिका
अभिसारिका

# दो शब्द

काव्य-कल्पद्रुम के लेखक विद्वद्वर पोद्दारजी हिंदी-साहित्य के
छे ज्ञाता, सुप्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ और श्रेष्ठ कवि हैं। आपका
ग्रंथ हिंदी-संसार में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुका है। अब
बार यह संस्करण समुचित संशोधन, संवर्द्धन और संपादन
साथ निकल रहा है। आशा है, हिंदी-संसार इसे
ले की अपेक्षा और अधिक आदर और अनुराग से अप-
एवं हमें पोद्दारजी-जैसे कुशल कवि-कोविद की दूसरी
कृति लेकर उपस्थित होने का अवसर देगा।

गीर, लखनऊ
। २। ३४

दुलारेलाल भार्गव

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

हमारी शाखाएँ—

गंगा-ग्रंथागार सिविल लाइंस, अजमेर
गंगा-ग्रंथागार १६५।१, हरीसन रोड, कल०
गंगा-ग्रंथागार सराफ़ाबाज़ार, सागर

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भा
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआ
लखनऊ

# विषय-सूची

( विषय-अनुसंधान के लिये ग्रंथांत में विस्तृत विषयानुक्रमणिका देखिए )

❀ श्रीहरिः ❀

# भूमिका

"तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ;
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ।"

काव्य के अनिर्वचनीय तत्त्व को कोई विरला ही जान सकता है। पुष्पों के सौंदर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है। उनकी मधुर गंध से सभी का चित्त प्रफुल्लित होता है। पर उनके मधुर रस का मर्मज्ञ केवल मधुव्रत ही होता है। काव्य को बहुत से लोग पढ़ और सुनकर अपना मनोरंजन करते हैं, किंतु इसके अलौकिक रसास्वादन में ब्रह्मानंद सहोदरत्व का अनुभव केवल सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य में यही लोकोत्तर महत्त्व है। इस महत्त्व को जानने के लिये सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि काव्य की उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई? इसके प्रसिद्धाचार्य कौन हैं? इसकी पूर्वकाल में क्या दशा थी? और इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक लाभ क्या हैं?

विचार करने से ज्ञात होता है कि—

## वेद ही काव्य का मूल है।

वेद में ध्वनि-गर्भित—व्यंग्यात्मक—और आलंकारिक भाषा दृष्टिगत होती है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।"

( वृ० मुंडकोपनिषद् खंड १, सं० १ )

इसमें 'अतिशयोक्ति' अलंकार है। ध्वनि आदि परोक्षवाद तो वेद में प्रायः सर्वत्र ही है—'परोक्षवादो वेदोऽयं'। वेद काव्य का मूल है, अतएव सच्चिदानंदघन श्रीपरमेश्वर द्वारा ही लोक में सबसे प्रथम इसकी प्रवृत्ति हुई है।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में काव्य-रचना अनेक स्थलों पर विद्यमान है। वाल्मीकीय रामायण को तो महर्षिवर्य ने 'आदि काव्य' के नाम से ही व्यवहृत किया है। महाभारत को परमेष्टि ब्रह्माजी ने और स्वयं भगवान् व्यासजी ने महाकाव्य संज्ञा दी है[१]। और अग्निपुराण में तो साहित्य-विषय का विस्तृत वर्णन है[२]।

जिस प्रकार व्याकरण, न्याय एवं सांख्य आदि के पाणिनि, गौतम और श्रीकपिल आदि प्रसिद्ध आचार्य हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के

---

१ देखिए, महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १।६१ और १।७२।
२ देखिए, अग्निपुराण, आनंदाश्रम सीरीज़, अध्याय ३३७ से ३४७ तक।

## प्रसिद्ध आचार्य भगवान् भरतमुनि हैं।

यह महानुभाव भगवान् वेदव्यास के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती थे। भगवान् वेदव्यास ने अग्निपुराण में लिखा है—

"भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।"

(३४०। ६)

साहित्य-शास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में सबसे पहला ग्रंथ महानुभाव भरतमुनि का निर्माण किया हुआ 'नाट्यशास्त्र' है। इसके बाद आचार्य भामह, उद्भट, दंडी, वामन, रुद्रट, महाराज भोज, ध्वनिकार श्रीआनंदवर्धनाचार्य, मम्मटाचार्य, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पैय्य दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ आदि अनेक उत्कट विद्वानों ने काव्य-पथ-प्रदर्शक अनेक ग्रंथ-रत्न निर्माण किए हैं। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों के कारण हम लोग साहित्य-संसार में सर्वोपरि अभिमान कर सकते हैं। जिस समय ये ग्रंथ निर्माण हुए थे, उस समय साहित्य की अत्यंत उन्नत अवस्था थी। भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भोज-जैसे गुणग्राहक, साहित्य-रसिक और उदारचेता राजा-महाराजों की काव्य पर एकांत रुचि रहती थी। यहाँ तक कि ये महानुभाव विद्वानों द्वारा उच्च कोटि के ग्रंथ निरंतर निर्माण कराके उन्हें उत्साहित ही नहीं करते थे, वे स्वयं भी अपूर्व ग्रंथों की रचना द्वारा साहित्य-भंडार की वृद्धि करके हंस-वाहिनी, वीणा-पाणि भगवती सरस्वती की अपार सेवा करते थे। उन्होंने

श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के एकाधिकरण में न रहने के लोकापवाद को सचमुच मिथ्या कर दिखाया था। उनके सिद्धांत थे—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।'

(भर्तृहरि)

परिवर्तनशील कराल काल के प्रभाव के कारण इस समय हमारा साहित्य अवनत दशा में पड़ा हुआ है। इस—

## अवनति के कारण

अनेक हैं। प्रथम तो राजा-महाराजों में तादृश रुचि का अभाव है। जिसका फल यह है कि विद्वत्समाज हतोत्साहित हो रहा है। दूसरे, भारतीय विद्वान् विदेशी भाषा में अनुराग रखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य विद्वान् हमारे साहित्य पर मुग्ध हो रहे हैं, और हमारा विद्वत्समाज इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

जड़-बुद्धि जनों को छोड़ दीजिए, उनके अतिरिक्त कितने ही ऐसे भी साक्षर व्यक्ति हैं जो केवल स्वयं ही यह नहीं समझते हैं कि काव्य केवल कवि-कल्पना है, किंतु वे दूसरों के हृदय में भी यही नीच भाव उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं कि लाभ काव्य से कुछ नहीं होता, यह निःसार है; किंतु ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं।

## काव्य से लाभ

क्या हैं ? इस विषय में मम्मटाचार्य ने लिखा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ;
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ।"

(काव्यप्रकाश)

अर्थात् काव्य यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-नाश, शीघ्र परमानंद और कांता के समान मधुरता-युक्त उपदेश का साधन है। इस कथन में आलंकारिकता या अत्युक्ति सर्वथा नहीं है। देखिए, काव्य द्वारा प्राप्त—

### यश

कितना चिरस्थायी है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास और गोस्वामी महात्मा तुलसीदासजी आदि का कैसा अक्षय यश हो रहा है। कालिदास आदि के पैतृक कुल को कोई नहीं जानता, न इनका कोई दान आदि ही प्रसिद्ध है। एकमात्र काव्य ही इनकी आसमुद्रांत प्रसिद्धि का कारण है।

द्रव्योपार्जन के लिये निस्संदेह बहुत मार्ग हैं। किंतु काव्य-रचना द्वारा

### द्रव्य-लाभ

करना एक गौरव की बात है। संस्कृत के प्राचीन महा-कवियों की तो बात ही क्या, उद्भट-जैसे विद्वान् को प्रतिदिन

एक लक्ष सुवर्ण-मुद्रा का वेतन मिलना इतिहास-प्रसिद्ध है[१]। हिंदी-भाषा के भी केशवदास, भूषण, पद्माकर, मतिराम आदि को और राजस्थान के महाराजों से चारण जाति के बहुत से प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् कवियों को सम्मान-पूर्वक अमित द्रव्य-लाभ होना प्रसिद्ध है। इस समय भी पाश्चात्य देशों में— जहाँ विद्वत्ता का मूल्य है—विद्वानों को प्रचुर पारितोषिक देकर प्रोत्साहित किया जाता है।

### सुखोपभोग

देवतों की स्तुतिरूपात्मक काव्य से मनोवांछित फल प्राप्त होना पुराणेतिहासों से सिद्ध है। और

### लोक-व्यवहार-ज्ञान

के लिये तो काव्य एक मुख्य और सुख-साध्य साधन है। महाकवियों के काव्य केवल लोक-व्यवहार-ज्ञान के भंडार ही नहीं हैं, किंतु शृंगार-रस के सुमधुर और रोचक वर्णनों द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा के भी सर्वोत्कृष्ट साधन हैं।

### उपदेश

के लिये जब नीति-शास्त्र हैं तब काव्य से क्या अधिक उपदेश मिल सकता है, ऐसा समझना अनभिज्ञता-मात्र है। काव्य द्वारा जिस रीति से उपदेश मिलता है, वैसा और कोई सुगम साधन नहीं है। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—'प्रभु-सम्मित', 'सुहृद्-

---

१ देखिए, राजतरंगिणी।

सम्मित' और 'कांता-सम्मित'। वेद-स्मृति आदि प्रभु-सम्मित शब्द हैं। प्रथम तो उनका अध्ययन सुसाध्य नहीं। दूसरे, इनके वाक्यों का राजाज्ञा के समान भय से ही पालन करना पड़ता है—ये आंतर्य दूषित भावों का निराकरण नहीं कर सकते। पुराण-इतिहास आदि सुहृद्-सम्मित शब्द हैं। ये मित्र के समान सदुपदेश करते हैं, परंतु जो कुमार्गी हैं, उन पर मित्र के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन दोनो से विलक्षण जो काव्य-रूप 'कांता-सम्मित'-शब्द है, वह कांता की तरह रमणीयता से उपदेश देता है। जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के अधीन रहनेवाले अपने प्रियतम को विलक्षण कटाक्षादि भावों की मधुरता से सरसता-पूर्वक अपने में आसक्त कर लेती है, उसी प्रकार काव्य भी सुकुमारमति, नीति-शास्त्र-विमुख जनों को कोमलकांत-पदावली की सरसता से अपने में अनुरक्त करके फिर 'श्रीरामादि की भाँति चलना चाहिए, न कि रावणादि की तरह' ऐसे सार-गर्भित किंतु मधुर उपदेश करते हैं। काव्य की सुमधुर शिक्षा द्वारा हृदय-पटल पर कितना शीघ्र और कैसा चमत्कारक प्रभाव पड़ता है, इसके प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में बहुत हैं। एक अर्वाचीन उदाहरण ही देखिए। जयपुराधीश महाराज जयसिंह बड़े विलासी थे। उनकी विलास-प्रियता के कारण उनके राज्य की शोचनीय अवस्था हो रही थी। कविवर बिहारीलाल ने केवल—

'नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहिंकाल ;
अली कली ही तें वँध्यो आगे कौन हवाल ।'

इसी शिक्षा-गर्भित शृंगार-रसात्मक एक दोहे को सुनाकर महाराज जयसिंह को अंतःपुर की एक अनखिली कली के बंधन से विमुक्त करके राजकार्य में संलग्न कर दिया था।

उपदेश में मधुरता होना दुर्लभ है। महाकवि भारवि ने कहा है—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।'

परंतु यह अनुपम गुण केवल काव्य में ही है। और—

## दुःख-निवारण

के लिये भी काव्य एक प्रधान साधन है। काव्यात्मक देव-स्तुति द्वारा असंख्य मनुष्यों के कष्ट निवारण होने के इतिहास महाभारतादि में हैं। मध्यकाल में भी श्रीसूर्यदेव आदि से मयूरादि*

* कहते हैं, मयूर कवि कुष्ठ-रोग से पीड़ित होकर हरिद्वार गए थे। 'या तो सूर्य के अनुग्रह से कुष्ठ दूर हो जायगा, नहीं तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा' यह प्रण करके वह किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा से लटकते हुए एकसौ रस्सी के छींके पर वैठकर श्रीसूर्य की स्तुति करने लगे और एक-एक पद्य के अंत में एक-एक रस्सी को काटते गए। सब रस्सियों के काटे जाने के पहले ही, काव्यमयी स्तुति से भगवान् भास्कर ने प्रसन्न होकर उनका रोग निर्मूल कर दिया।

कवियों के दुःख निःशेष होने के उदाहरण मिलते हैं। और काव्य-जन्य आनंद कैसा निरुपम है, इसका अनुभव सहृदय काव्यानुरागी ही कर सकते हैं। अत्यंत कष्ट-साध्य यज्ञादिकों के करने से स्वर्गादिकों की प्राप्ति का आनंद कालांतर और देहांतर में मिलता है, पर काव्य के श्रवण-मात्र से ही रस के आस्वादन के कारण तत्काल—

## परमानंद

प्राप्त होता है। इस आनंद की तुलना में अन्य आनंद नीरस प्रतीत होने लगते हैं। कहा है—

> १'सत्कविरसनासूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ;
> तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी।'

(आर्या सप्तशती)

निष्कर्ष यह है कि काव्य द्वारा सभी वांछित फल प्राप्त हो सकते हैं। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—के अतिरिक्त मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। आचार्य भामह ने कहा है—

> 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ;
> करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।'

बहुत लोग काव्य-रचना एवं काव्यावलोकन करते हैं, पर

---

१ सुकवि के जिह्वा-रूपी सूप से सर्वथा तुषरहित किए गए शब्द-रूपी शालि—चावल—पाक से जो तृप्त है, वह अपनी प्रिया के अधर-रस का भी आदर नहीं करता, तब बेचारी सुधा-दासी तो वस्तु ही क्या है।

उनकी काव्य-रचना प्रायः उपयोगी और चित्ताकर्षक नहीं हो सकती और न उनको काव्यावलोकन द्वारा यथार्थ आनंदानुभव ही हो सकता है। इसका कारण यही है कि वे प्रायः साहित्य-शास्त्र से अभिज्ञ नहीं और न वे परिचित होने का कष्ट ही उठाते हैं। काव्य-रचना एवं काव्य के आस्वादन के लिये साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की परमावश्यकता है। कविवर मंखक ने कहा है—

'अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्;
ते गारुडीयाननधीत्य मंत्रान्हालाहलास्वादनमारभन्ते।'

(श्रीकंठ-चरित)

निदान, काव्य-प्रणेता को एवं काव्य-प्रेमी जनों को काव्य-निर्माण के साधन और उसके रहस्य अवश्य जान लेने चाहिए।

काव्य के निर्माण होने में हेतु—

## कारण

क्या है? काव्य-प्रकाश में कहा है—

'शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्;
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।'

शक्ति, निपुणता और अभ्यास काव्य-रचना के लिये आधार हैं।

'शक्ति'—यह काव्य का बीज-रूप एक संस्कार होता है।

इसके द्वारा काव्य के निर्माण करने में सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसके विना काव्य का अंकुर उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यदि होता है, तो उपहास-जन्य। इसको 'प्रतिभा' भी कहते हैं। इसका लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार लिखा है—

'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधामिधेयस्य ;
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।'

( काव्यालंकार )

अर्थात् जिस शक्ति से स्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का स्फुरण और कठिनता-रहित पदों का भान होता है—अनेक प्रकार के शब्दार्थ हृदयस्थ होते हैं—उसे 'शक्ति' कहते हैं।

'निपुणता'—निपुणता कहते हैं प्रवीणता को; अर्थात् स्थावर, जंगम आदि की स्वरूप-स्थिति के लौकिक वृत्त का ज्ञान ; छंद, व्याकरण, कोश, कला, चतुर्वर्ग, गज, अश्व, खड्ग आदि के लक्षण ग्रंथ और काव्य, इतिहास आदि के अध्ययन द्वारा निपुणता प्राप्त करना।

'अभ्यास'—अभ्यास कहते हैं काव्य के निर्माण में और गुरु के सद्-असद् विचार करनेवाले कुशल उपदेश द्वारा उसमें ( काव्य-निर्माण में ) और प्रबंधादिकों के गुंफन करने में वारंवार प्रवृत्त होना।

शक्ति, निपुणता और अभ्यास, दंडचक्रादि-न्याय के अनुसार, तीनो मिलकर, न कि इनमें एक या दो, काव्य के

निर्माण और उत्कृष्टता के हेतु हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि काव्यत्व के लिये निपुणता की अपेक्षा नहीं, केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। हाँ, यह तो निर्विवाद है कि काव्य-निर्माण में प्रतिभा प्रधान है। पर प्रतिभा से केवल हृदय में शब्द और अर्थ का सन्निधान ही साफ़ होता है, सार का ग्रहण और असार का त्याग व्युत्पत्ति—निपुणता—द्वारा ही हो सकता है। अतएव शास्त्रों के ज्ञान द्वारा प्राप्त निपुणता की नितांत आवश्यकता है, और इसी प्रकार काव्य के अभ्यास की भी परमावश्यकता है। अतः अधिकतर आचार्यों का मत यही है कि तीनो ही काव्य के लिये अपेक्षित हैं।

जिसके द्वारा काव्य के निर्माण और रसानुभव का एवं उसके स्वरूप, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे

## साहित्य-शास्त्र

कहते हैं। जिस प्रकार भाषा-ज्ञान के लिये व्याकरण आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य के निर्माण और रसास्वादन के लिये साहित्य-शास्त्र अर्थात् रीति-ग्रंथों के अध्ययन की आवश्यकता है।

## काव्य क्या है[१] ?

इस विषय में यहाँ पर केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि काव्य में—

---

१ काव्य के लक्षण के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का

## ध्वनि और अलंकार

ही मुख्य हैं। ध्वनि कहते हैं व्यंग्यार्थ को। व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता। कहा है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्;
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।'
(ध्वन्यालोक)

अर्थात् महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त जो प्रतीयमान अर्थ—ध्वनि रूप व्यंग्य अर्थ—है, वह एक विलक्षण पदार्थ है। यह अर्थ उसी प्रकार शोभित होता है, जैसे कामिनी के शरीर में हस्तपाद आदि प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य। काव्य के प्राण रस, भाव आदि हैं। वे प्रतीयमान ही होते हैं—'रस', 'भाव'-शब्द कह देने मात्र से ही आनंद नहीं होता—उनकी व्यंजना ही आस्वादनीय होती है। अलंकार कहते हैं आभूषण को। जिस प्रकार सौंदर्यादि गुण-युक्त रमणी आभूषणों से और भी अधिक रमणीयता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार

---

विस्तृत विवेचन भूमिका में करने के लिये प्रथम स्तवक के प्रारंभ में लिखा गया था। पर विस्तार-भय से यहाँ इस विषय पर नहीं लिख सके हैं। हमारा 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' शीघ्र ही प्रकाशित होगा। उसमें इस विषय का सविस्तर विवेचन किया गया है।

अलंकारों के कारण काव्य भी सहृदयों के लिये अधिक आह्लादक हो जाता है। भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है—

'अलंकरणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ;

तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।

( अग्निपुराण ३४४।१०२ )

बहुत-से पश्चिमीय 'सभ्यता' के प्रेमी विद्वान् व्यंग्य और अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट नहीं मानते। वे केवल सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णनात्मक काव्य में ही काव्यत्व की चरम सीमा समझते हैं। यही कारण है कि काव्य-पथ-प्रदर्शक ग्रंथ उनको अनावश्यक प्रतीत होते हैं। इस विषय में यह कहना ही पर्याप्त है कि सृष्टि-वर्णनात्मक काव्य के साथ जब व्यंग्य और अलंकार का संयोग हो जाता है, तभी वे उत्कृष्ट काव्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। देखिए—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ;

यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'

( वाल्मीकीय रामायण )

वाल्मीकीय रामायण का यही मूल-भूत श्लोक है। महर्षि वाल्मीकि के देखते हुए क्रौंच पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त नर क्रौंच को व्याध ने मार डाला। भूमि में गिरे हुए, रुधिर-लिप्तांग उस मृत सहचर की तादृश दशा देखकर वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौंची ने अत्यंत कारुणिक क्रंदन किया। उसे सुनकर दयालु महर्षि के चित्त में उस समय जो

शोक—करुणरस—उत्पन्न हुआ, वही इस श्लोक में ध्वनित होता है। वही शोक-कृपार्द्र-हृदय महर्षि के मुख से क्रौंच-घाती व्याध के प्रति इस श्लोक द्वारा परिणत हुआ है। यह एक साधारण स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन के वाच्यार्थ में कुछ चित्ताकर्षक चमत्कार नहीं, परंतु इसके व्यंग्यार्थ में जो करुणोत्पादक संवाद है, उसमें महानुभाव महर्षि के करुणा-प्लावित चित्त का अप्रतिम मृदुल भाव व्यक्त होता है। और, वह सहृदयों के मन को बलात् आकर्षित कर लेता है।

कहा है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ;
क्रौंचद्वंद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।'

(ध्वन्यालोक)

यह मानसिक ध्वनि-गर्भित अंतःसृष्टि-वर्णन है। ध्वनि-गर्भित बाह्य सृष्टि-वर्णन भी देखिए—

'एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ;
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि।'

(उत्तररामचरित)

शंबूक का वध करके अयोध्या को लौटते हुए श्रीरामचंद्र पूर्वानुभूत दंडकारण्य को देखकर कह रहे हैं—'यह वही मयूरों की केका-युक्त पर्वतों का मनोहारी दृश्य है। यह वही मत्त

हरिणों से सुशोभित वनस्थली है। ये वे ही सौंदर्यशाली वंजुल लताओं से युक्त नीरंध्र-सघन-निचुलवाले नदियों के तट हैं।' यह एक नैसर्गिक वर्णन है। यहाँ दण्डक-वन के निरीक्षण से भगवती जनक-नंदिनी के साथ पहले किया हुआ आनंदमय विहार स्मरण हो आने से भगवान् श्रीरामचंद्र के हृदय में जानकीजी के वियोग के कारण जो आंतर्य वेदना हुई, वह व्यंग्य है—'अवश्य ही ये सारी वस्तुएँ वे ही हैं, जिनके रमणीय दृश्य से जनक-नंदिनी की अलौकिक भाव-माधुरी से प्रमोदित मेरे हृदय में अनुपम आनंद का स्रोत प्रवाहित हो जाता था। हाय! अब उसके वियोग में वही अनुपम दृश्य कुछ और ही प्रतीत हो रहा है—मुझे अत्यंत असह्य संताप दे रहा है'। और यह व्यंग्य ही, जो 'एते, त एव, तान्येव' इत्यादि पदों से ध्वनित हो रहा है, इस नैसर्गिक वर्णनात्मक पद्य का जीवन सर्वस्व है। अब एक अलंकार-मिश्रित नैसर्गिक वर्णन भी देखिए—

'तत्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखो घृतशरेण विशीर्णपंक्ति-
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवाद्रैः ।'

(रघुवंश)

इसमें कवि-कुल-भूषण कालिदास ने महाराजा दशरथ की मृगया का वर्णन किया है। वेगवान् घोड़े पर आरूढ़

तूणीर से बाण निकालते हुए राजा को अपने पीछे आते हुए देखकर इतर-वितर हुए मृग-समूह ने अश्रु-प्लावित और सभय दृष्टि-पात से वन को श्यामल कर दिया है— तीन पादों में यह नैसर्गिक वर्णन है और चौथे पाद में मृग-समूह के उस दृष्टि-पात को, पवन-वेग से सरोवर में विचलित हुए नील कमल-दलों के वृंद की उपमा दी गई है। इस उपमा के संयोग से इस नैसर्गिक वर्णन की मन-मोहिनी छटा में अपरिमित आनंद की घटा वस्तुतः छा गई है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्य-अलंकार-युक्त काव्य को निकृष्ट कहना सहृदयता पर प्रहार करना है। वास्तव में व्यंग्य-काव्य सहृदयों के अंतःकरण को आप्लावित कर देता है, और सर्वोत्कृष्ट कवित्व का ही एक परम मनोहर नामधेय है। हाँ, यह बात और है कि जो वस्तु विशेष किसी को परमप्रिय होती है, वही वस्तु दूसरे को तादृश सुखकारक न होकर कदाचित् अरुचिकर भी हो सकती है।

महाकवि कालिदास ने कहा है—

'अथाङ्गराजादवतार्य चक्षु-
र्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ;
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्-
द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ।'

(रघुवंश ६। ३०)

अर्थात् अंगराज से दृष्टि हटाकर राजकुमारी इंदुमति ने सुनंदा से आगे बढ़ने को कहा। इसका यह अर्थ नहीं कि वह राजा सौंदर्यादिगुण-संपन्न न था, और यह भी बात नहीं थी कि इंदुमति परीक्षा करने में अनभिज्ञ थी। फिर इंदुमति ने इस राजा को क्यों वरण नहीं किया? महाकवि कहते हैं—'अंग राजा को इंदुमति ने वरण नहीं किया, इसलिये वह अयोग्य नहीं कहा जा सकता और न इंदुमति में ही वर-परीक्षा की अयोग्यता कही जा सकती है। वास्तव में बात यह है कि किसी वस्तु के त्याग और ग्रहण में भिन्न-भिन्न रुचि ही एकमात्र कारण है'। सुतरां, किसी को प्राकृतिक वर्णनात्मक और किसी को व्यंग्य-गर्भित काव्य मनोहर प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि काव्य के उत्कृष्ट और निकृष्ट होने का सारा आधार काव्य-प्रणेता कवि की प्रतिभा और निपुणता पर निर्भर है।

## इस ग्रंथ में

श्रव्य काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। और इसे जिन संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथों की सहायता से निर्माण किया गया है, उनकी सूची अन्यत्र दी गई है।

साहित्य-जैसे रसावह और जटिल विषय को भली भाँति समझाने की बहुत आवश्यकता है। इसलिये इस विषय के संस्कृत-ग्रंथों में तो लक्षणों को समझाने और उदाहरणों से लक्षणों का समन्वय करने के लिये वार्तिक—वृत्ति—में

स्पष्टीकरण कर दिया गया है। इस कारण लक्षण और उदाहरणों का समझना सुबोध हो गया है। बहुत-से विषय एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं, उनकी पृथक्ता भी भले प्रकार समझा दी गई है। संस्कृत-ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनसे विषय सरलता से समझ में आ सकता है। किंतु खेद है, हिंदी के प्राचीन ग्रंथकारों ने इन बातों पर सर्वथा ध्यान नहीं दिया। प्रथम तो उनमें जो लक्षण दिए गए हैं, वे पद्य में होने के कारण बड़े संदिग्ध हो गए हैं। इसलिये विषय का समझना ही कठिन नहीं, पर कहीं-कहीं दुर्बोध भी हो गया है। इस अभाव को दूर करने के लिये इस ग्रंथ में प्रत्येक विषय के लक्षण सूत्र-रूप में, गद्य में दिए गए हैं, और उन्हें समझाने की जहाँ आवश्यकता समझी गई, वहाँ उसकी वृत्ति लिख दी गई है। अधिकाधिक उदाहरण देकर विषय को यथासाध्य स्पष्ट कर दिया गया है। और, उदाहरण लेखक की स्वयं रचना के, एवं अन्य महानुभावों की रचना के, दोनो प्रकार के रक्खे गए हैं। अन्य कवियों के उदाहरण इनवर्टेड कॉमा में ( “ ” ऐसे चिह्नों के अंतर्गत ) लिखे गए हैं। जिन पद्यों के आदि-अंत में ऐसे चिह्न नहीं हैं, वे लेखक की निजी रचनाएँ है।

इस प्रसंग में एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कुछ महाशयों ने, जैसे बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्य-प्रभाकर' में, बाबू भगवानदीनजी ने 'अलंकार-मंजूषा' और

'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में और पं० रमाशंकर शुक्लजी 'रसाल' ने 'अलंकार-पीयूष' में, अनेक स्थलों पर इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण ( अलंकार-प्रकाश ) और द्वितीय संस्करण ( काव्य-कल्पद्रुम ) के पद्य और गद्य-प्रकरण अविकल रूप से और अनेक स्थलों पर कुछ परिवर्तित करके उद्धृत करने की कृपा की है। उन ग्रंथों की आलोचनाएँ 'माधुरी' और 'साहित्य-समालोचक' आदि में हुई हैं। वास्तव में तो इन महानुभावों ने इस ग्रंथ का आदर ही किया है। यहाँ इस विषय का इसलिये उल्लेख किया जाना आवश्यक समझा गया कि 'भानुजी' आदि महाशयों ने इस ग्रंथ से उद्धृत अंश को अवतरण रूप में न लिखकर अपनी निजी कृति की तरह उपयोग किया है। यह तीसरा संस्करण उन महाशयों के ग्रंथों के बाद निकल रहा है। अतएव इस ग्रंथ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर समालोचक महोदय यही दोषारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करें।

## तृतीय संस्करण के संबंध में दो शब्द

हर्ष का विषय है कि भगवान् श्रीराधागोविंददेव की कृपा से इस ग्रंथ के तृतीय संस्करण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। निस्संदेह साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों की गुण-ग्राहकता और उनके अनुग्रह का ही यह फल है।

प्रथम संस्करण ( अलंकार-प्रकाश ) का जितना आदर हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा संस्करण ( काव्य-कल्पद्रुम ) लोक-प्रिय सिद्ध हुआ है। अलंकार-प्रकाश को केवल हिंदी-

साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में ही स्थान उपलब्ध हो सका था। काव्य-कल्पद्रुम बी० ए०, एम्० ए० के भी पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

प्रस्तुत संस्करण बहुत परिवर्द्धित हो गया है। द्वितीय संस्करण से इसका दूने से अधिक कलेवर है। द्वितीय संस्करण में लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि और नवरस का विषय संक्षिप्त रूप से था, और अलंकार-विषय पर भी अधिक विवेचन न था। इस संस्करण में प्रत्येक विषय का, विशेषतः नवरस का, बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। कुछ विद्वान् मित्रों का यह भी अनुरोध था कि नव-रस पर कोई ऐसा ग्रंथ लिखा जाय, जिसके द्वारा रस-विषय के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सके। इस अनुरोध को यथासाध्य पालन करने की इस संस्करण में चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम भाग में प्रधानतः रस-विषय है। इसमें रस, भाव आदि के विषय का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का जो विवेचन इस भाग में किया गया है, वह रस-विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है। रस-संप्रदाय ( School ) प्राचीन होने के कारण स्वतंत्र अवश्य है, पर 'रस' व्यंग्यार्थ है—रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जायगा,

रस का वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। ध्वनि और व्यंग्यार्थ को समझाने के लिये शब्द, अर्थ और अभिधा आदि शब्द-शक्तियों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

रस-संबंधी दोष और उनके परिहार का विषय भी इसी भाग में है। 'गुण' रस के धर्म हैं, अतएव उनका निरूपण भी इसी भाग में किया गया है।

हिंदी में रस-विषयक अनेक ग्रंथ हैं। उनमें कुछ ग्रंथ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के प्रणीत किए हुए हैं। संभव है, इस ग्रंथ में उन ग्रंथों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता हो। क्या अपूर्वता है, यह कहना अनावश्यक है।

इस विषय के हिंदी के प्रचलित रस-संबंधी ग्रंथों में नायिका-भेद को प्रधान स्थान दिया गया है। उस विषय के पिष्ट-पेषण से इस ग्रंथ का कलेवर व्यर्थ न बढ़ाकर, रस-विषयक अन्य अत्यंत महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों का, जो प्राचीन एवं आधुनिक हिंदी के ग्रंथों में तो कहाँ किंतु संस्कृत के सुप्रसिद्ध ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रस-गंगाधर आदि ग्रंथों में भी कुत्रचित् दृष्टिगत होते हैं, समावेश किया गया है।

प्रसिद्ध साहित्याचार्यों का जिन-जिन विषयों में मत-भेद है, उन मत-भेदों का, विषय को सुगम्य करने के लिये, प्रसंग-प्राप्त उल्लेख, दिग्दर्शन रूप में, कर दिया गया है।

द्वितीय भाग में अलंकार-विषय है। अलंकार-प्रकरण

भी बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित कर दिया गया है। इस विषय को भी यथासाध्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत संस्करण में अधिकतया सुप्रसिद्ध प्राचीन कवियों के भाव-गर्भित एवं हृदयग्राही पद्य उदाहरणों में रक्खे गए हैं। बहुत-से ऐसे महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों से भी उदाहरण लिए गए हैं, जो इस समय अप्राप्य हो रहे हैं। हिंदी के प्राचीन रीति-ग्रंथों से जो उदाहरण चुने गए हैं, वे जिस विषय का जो उदाहरण उन ग्रंथों में दिया गया है, उसे उसी विषय के उदाहरण में, मक्षिका स्थाने मक्षिका, न रखकर जिस पद्य को जहाँ विषय-विशेष के उदाहरण में दिया जाना उपयुक्त समझा गया, वहीं उसे दिया गया है।

पहले संस्करण की आलोचना करते हुए कुछ महानुभावों ने यह आक्षेप किया है कि इसमें संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतों का ही उल्लेख है, हिंदी के आचार्यों के मत को प्रदर्शित नहीं किया गया है। सत्य तो यह है कि हिंदी के आचार्यों का कोई स्वतंत्र मत नहीं है—उनके ग्रंथों का मूल-स्रोत संस्कृत-साहित्य-ग्रंथ ही हैं। जैसे, महाकवि केशवदासजी की कविप्रिया का मूल-आधार दंडी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्य-मीमांसा और केशव मिश्र का अलंकारशेखर या इसी श्रेणी का अन्य कोई ग्रंथ है। श्रीहरिचरणदास के सभाप्रकाश, श्रीभिखारी-

दास के काव्य-निर्णय का आधार क्रमशः साहित्य-दर्पण और काव्यप्रकाश है। इसी प्रकार महाराज जसवंतसिंह के भाषा-भूषण, पद्माकर के पद्माभरण आदि अलंकार-ग्रंथों का आधार विशेषतः कुवलयानंद है। और भी हिंदी में रस एवं नायिका-भेद के ग्रंथों के आधार प्रायः साहित्य-दर्पण और रस-तरंगिणी आदि हैं।

कोई संदेह नहीं कि हिंदी के प्राचीन कवि बड़े प्रतिभा-शाली हुए हैं। उनका प्रधान ध्येय व्रजभाषा-साहित्य की अभिवृद्धि करना ही था। उन्होंने प्रायः शृंगार-रस के आलंबन विभावनायिका आदि, उद्दीपन विभाव षट्‌ऋतु आदि, एवं अनुभाव-हाव-भाव आदि के वर्णन में ही विषय को समाप्त कर दिया है। अलंकार-विषय का भी उन्होंने निरूपण किया है, पर बहुत साधारण और संक्षिप्त रूप में। संस्कृत-साहित्य-ग्रंथों में किए गए गंभीर और मार्मिक विवेचन को उन्होंने लक्ष्य नहीं किया। इसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रतिभाशाली विद्वानों द्वारा जैसे गंभीर रीति-ग्रंथ लिखे जाने चाहिए थे, वैसे नहीं लिखे गए। ये महानुभाव साहित्य-विषय को स्वयं कहाँ तक समझ सके और अपने ग्रंथों के आधारभूत संस्कृत-ग्रंथों के अनुसार विषय को समझाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए हैं, इस बात पर प्रकाश डालना हिंदी-साहित्य के लिये परम उपयोगी है। इसके लिये विशद आलोचना अपेक्षित है,

जिसके लिये प्रथम तो इस छोटी-सी भूमिका में स्थान नहीं; दूसरे, इस क्षुद्र लेखक को प्राचीन आचार्यों की आलोचना करना भी अभीष्ट नहीं है। उन महानुभावों द्वारा हिंदी-साहित्य की अनिर्वचनीय श्री-वृद्धि हुई है। उन्हीं के अकथनीय परिश्रम का आज यह फल है कि हम लोग साहित्य-क्षेत्र में अभिमान कर सकते हैं। अतएव उन महानुभावों को आदरास्पद समझना और उनके सर्वतोभावेन अनुग्रहित होना ही उचित है। इस ग्रंथ में हिंदी के प्राचीन साहित्य-ग्रंथों के विषय में जो कुछ आलोचना प्रसंग-वश की गई है, वह छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं, किंतु प्रतिपादित विषय की स्पष्टता करने के लिये आवश्यक समझी गई।

आशा है, यह ग्रंथ केवल हिंदी ही के नहीं, संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये भी उपादेय होगा, और हिंदी एवं संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों के भी मनन करने योग्य एवं मनोरंजन की एक नवीन वस्तु होगी।

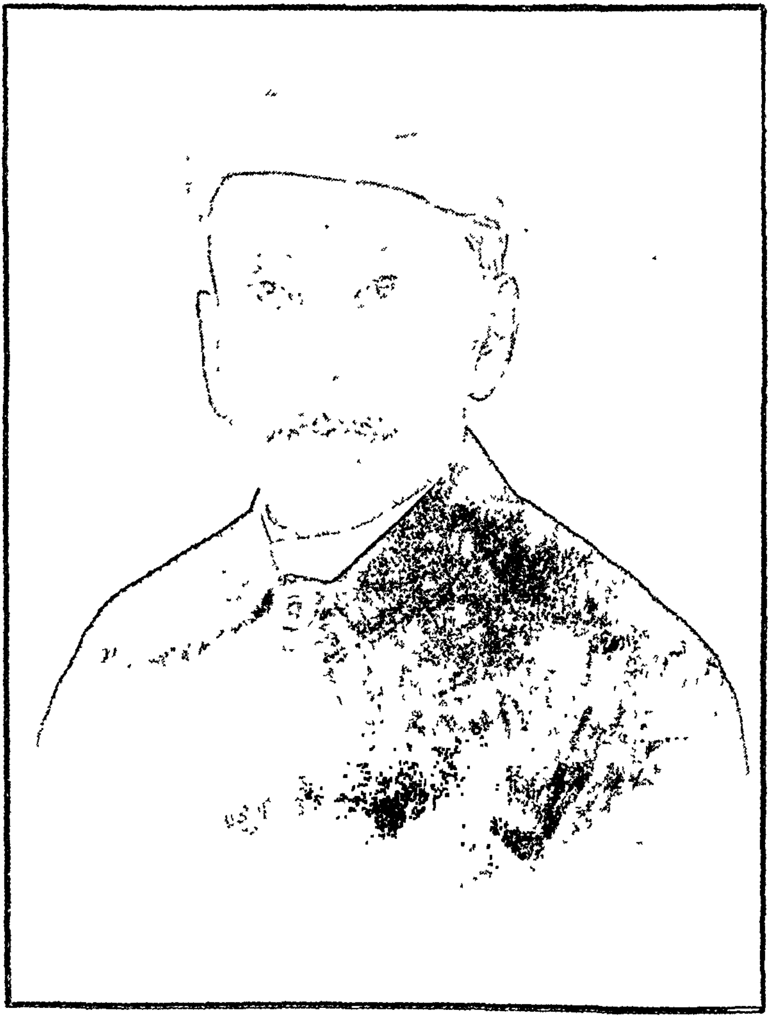
प्रथम तो रस और अलंकार-विषय ही अत्यंत जटिल है। दूसरे, ग्रंथ का अधिकृत आलोचनात्मक विषय तो बहुत ही विवादास्पद है। अतएव इस अनधिकार चेष्टा में, संभव है, बहुत कुछ त्रुटियाँ हों। लेखक इस विषय में कहाँ तक कृतकार्य हो सका है, यह सहृदय काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों की समालोचना पर निर्भर है—'एकः सूते कनकमुपलं तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः'। अस्तु।

अब अधिक कुछ निवेदन न करके सहृदय महानुभाव काव्य-मर्मज्ञों को सेवा में कविराज भट्ट नारायण की निम्न-लिखित सूक्ति प्रार्थना-रूप उद्धृत की जाती है—

कुसुमांजलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र ;
मधुलिह इव मधुविन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान् ।'

विनीत
साहित्य का एक नगण्य सेवक
कन्हैयालाल पोद्दार

काव्य-कल्पद्रुम



कविवर श्रीयुत कन्हैयालालजी पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

# काव्य-कल्पद्रुम

## प्रथम स्तवक

### मंगलाचरण

विघनहरन हो असरन-सरन मुद-करन विमल-मति दूषन दरौ ही गे ;
वरन करन पुनि वरन करन सदा वरन अरुन याहि पूषन करौ ही गे ॥
बंदन चरन जुग ध्यान हिय धारि करौं विनयकरन सुनि भूखन हरौ ही गे ;
वारन-बदन प्रभु ! मदन-कदनजू के भूषन-सदन ग्रंथ भूपन भरौ ही गे १॥

---

१ हे गजानन ! आप विघ्नों को हरनेवाले, अशरण को शरण देनेवाले और आनंदप्रद हैं, अतः मेरी बुद्धि की मलिनता अवश्य हरण करेंगे। आप वर्णों को शोभित करनेवाले हो। महाभारत की रचना के समय उसके आप ही लेखक थे, जगत् के कर्ता होने के कारण ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था करनेवाले भी आप हैं, अथवा वरन, अनेक वर-प्रदान करनेवाले हैं, अतः इस ग्रंथ का पोषण भी अवश्य करेंगे। ध्यान-मग्न होकर मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। आप मेरी विनय सुनकर मेरी भूखों को हरेंगे—मेरी इच्छा पूर्ण अवश्य करेंगे। आप श्रीमहादेवजी के गृह-भूषण हैं, जब आप स्वयं भूषण हैं, तो शरणागत मुझ किंकर के इस ग्रंथ को भूपित क्यों न करेंगे ?

आनँद के कंद नंदनंद यदुवंशचंद !
भक्तन-दुख-द्वंद के हरैया मुकुंद हौ;
गायन चरैया गज-फंद के कटैया प्रभु !
सुवैया फनिंद छीर-सिंधु में सुछंद हौ।
जानि मतिमंद त्यों विवेकमंद, विद्यामंद,
छेदौ तम-वृंद नाथ ! जै जय अमंद हौ;
ग्रंथ के अमंगल टारि मंगल करौ ही गे,
आपै हमारे सदा सहायक गुविंद हौ॥

कल्यानी ! बानी[1] ! सदा प्रनवौं पानी जोर;
मो मुख-रसनातल रुचिर करहु नृत्य थल तोर॥

धोए हरि-पाद[2] आदि विधि के कमंडल सों,
कढ़ि सुरलोक वे अलोक थोक गोय जब;
उत्तरि तहाँ ते ईस-सीस[3] धोय धोए फेर,
सगरज-ढेर[4] हेर धार सत होय तब।
भक्तन भव-तापन औ' पापन हूँ धोवै त्यों,
धोवै संतापन हू ऐसो तव तोय अब—
सोई धोइवे की बान ध्यान करि आदि ही की,
ग्रंथ के अमंगल हू मात गंग ! धोय सब॥

करुन-सरुन[5] पद-पद्म गुरुन तरुन अरुन सम कंजु;
वंदौं जिहिं सुमरन किए होहिं सकल मुद मंजु॥

---

१ श्रीसरस्वती। २ श्रीविष्णु भगवान् के चरण। ३ श्रीशंकर का मस्तक। ४ सगर राजा के साठ हज़ार पुत्रों की भस्म का ढेर। ५ करुणा और शरण के स्थान।

बंदौं व्यासरु आदि कवि सक्र-चाप-जिमि बंक१ ;
विहित-घनालंकार२ पुनि बरन-बिचित्र३ निसंक४ ॥

श्लिष्ट सभंग५ सुवर्ण-मृदु६ गुनजुत सरस निदोस ;
कालिदास बानादि कवि जय-जय नवकृति कोस ॥

कहि हरि-जस न अघाय वालमीकि मुनि व्यास मनु ;
प्रकटे भुवि पुनि आय बंदौं तुलसी-सूर-पद ॥

विघन-हरन७ सुचि नाम कामदतरुवर-सुमति-सिधि ;
सेवहिं बुध सब जास कविपति गनपति जयति नित ॥

# काव्य

काव्य किसे कहते हैं ? इसके लिये प्रथम काव्य का लक्षण और उसके सामान्य भेदों का निरूपण किया जाता है—

**दोष-रहित और गुण एवं अलंकार-सहित अथवा कहीं अलंकार न भी हो, ऐसे शब्द और अर्थ दोनो को काव्य कहते हैं ।**

---

१ इंद्र-धनुष के समान टेढ़े, काव्य-पक्ष में वक्रोक्ति-युक्त । २ इंद्र-धनुष के पक्ष में मेघ-घटा से शोभित और काव्य-पक्ष में अलंकारों से युक्त । ३ इंद्र-धनुष के पक्ष में अनेक रंगोंवाला, काव्य-पक्ष में विचित्र वर्णों की रचना-युक्त । ४ धनुष-पक्ष में शंका-रहित, काव्य-पक्ष में भी शंका-रहित । ५ अभंग श्लेष-युक्त होके भी सभंग श्लेष-युक्त । ६ सुवर्ण सुंदर होकर भी कोमल । ७ इसमें श्लेष से श्रीगणेशजी और जोधपुर-निवासी कविवर स्वामी गणेशपुरीजी, जिनसे ग्रंथ-कर्ता ने सबसे प्रथम भाषा-भूषन पढ़ा था, की स्तुति है ।

अर्थात् काव्य-संज्ञा उन्हीं शब्द और अर्थ—दोनो की मिलकर है, जिनमें दोष न हो, और जो गुण एवं अलंकार-युक्त हों। किंतु किसी रचना में अलंकार न भी हो या स्पष्टतया अलंकार की स्थिति न हो, तो भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य कहा जाता है। काव्य का यह लक्षण आचार्य श्रीमम्मट-प्रणीत काव्यप्रकाश के अनुसार है। संस्कृत-रीति-ग्रंथों में काव्य के लक्षण विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न बतलाए गए हैं। इस विषय में बड़ा मतभेद है, जिसका विवेचन भूमिका-भाग में सविस्तर किया गया है। शब्द-अर्थ एवं गुण-दोष और अलंकारों की स्पष्टता यथास्थान आगे की जायगी।

काव्य के मुख्य तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है, अतएव काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञा व्यंग्यार्थ पर ही अवलंबित है, अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो, उसे उत्तम, जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो, उसे मध्यम और जहाँ व्यंग्यार्थ न हो, केवल वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अधम काव्य माना गया है। इन तीनो भेदों के नाम क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार (चित्र) है। यद्यपि काव्य के भेदों के विषय में भी साहित्याचार्यों का मतभेद है, किंतु काव्यप्रकाशादि अनेक ग्रंथों में उपर्युक्त यही तीन भेद स्वीकार किए गए हैं। इनके सामान्य लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

## ध्वनि

**वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे ध्वनि कहते हैं।**

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की स्पष्टता आगे—द्वितीय स्तवक में—की जायगी। ध्वनि का ही काव्य में सर्वोच्च स्थान है, इसी से इसे उत्तम काव्य की संज्ञा दी गई है।

ध्वनि-उदाहरण—

ये ही अपमान मेरे सत्रु को लखानौं पुनि
वाको इत आनौं गढ़लंक में घिरानौं मैं;
सोहू है तापस, ध्वंस बंस जातुधानन को
देखौं हौं जीवित, धिक रावन कहानौं मैं।
इंद्र के जितैया को हजार हैं धिकार और
जानौं हौं वृथा ही कुंभकर्न को जगानौं मैं;
लूट्यो स्वर्ग तुच्छ वा घमंड सौं प्रचंड अहो
मानौं क्यों न व्यर्थ भुजदंड को फुलानौं मैं।

यहाँ श्रीरघुनाथजी द्वारा असंख्य राक्षस वीरों का विध्वंस हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण का अपने आप पर अधिक्षेप है। इसके पद-पद में ध्वनि है। रावण कहता है कि प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है (यहाँ 'मेरे' पद में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बलशाली इंद्रादि के विजेता रावण के साथ शत्रुता का साहस किया जाना बड़े आश्चर्य और दुःख का कारण है)। इस पर भी वह शत्रु

तापस है ( यहाँ 'वह' पद में हीन दशा की ध्वनि निकलती है, और 'तापस' में यह ध्वनि है कि वह कोई देवता या प्रसिद्ध बलवान् नहीं, किंतु घर से निकाला हुआ, वन में भटकनेवाला, युद्ध-कला-अनभिज्ञ, फिर स्त्री-वियोग से व्यथित एक मनुष्य और मनुष्यों में भी तापस—पुरुषार्थ-हीन, जो हम राक्षसों का भक्ष्य, यह और भी मेरा अपमान है ), फिर उसका यहीं ( 'यहीं' में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही न कि अन्यत्र ) लंका में आ जाना ( 'लंका' में यह ध्वनि है कि किसी साधारण स्थान में नहीं, किंतु समुद्र के मध्य में मेरे द्वारा सुरक्षित लंका में ) फिर ऐसे तुच्छ शत्रु द्वारा मेरा घिर जाना और राक्षस-कुल का विनाश किया जाना और ऐसे अनर्थ को मैं जीता हुआ अपने नेत्रों के सामने ही देख रहा हूँ ( इसमें यह ध्वनि है कि ऐसा घोर अपमान होने पर भी मैं जी रहा हूँ। 'जीवित' पद में काकाक्षिप्त ध्वनि यह है कि क्या मैं जी रहा हूँ ? नहीं, जीता हुआ भी मरे हुए के समान हूँ, जो अब तक ऐसे नगण्य शत्रु का परिहार करने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ )। धिक्कार है मेरे रावण कहाने को ( 'रावण' पद में ध्वनि यह है कि मैं सारे संसार को रुलानेवाला हूँ। इसी से मेरा नाम रावण सार्थक है, पर हाय ! उसे यह तुच्छ तपस्वी भयभीत कर रहा है, इससे बढ़कर क्या अपमान हो सकता है ? )। केवल मुझे ही नहीं, किंतु इंद्र-विजेता मेघनाद को भी हज़ार बार धिक्कार है ( इसमें ध्वनि यह है कि इंद्र को पराजित करके

अपने को विश्व-विजयी समझकर मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है, जब कि यह भी इसे परास्त करने में असमर्थ है )। और, कुंभकर्ण का जगाया जाना भी व्यर्थ हो गया है ( ध्वनि यह है कि जिस कुंभकर्ण को मैंने अभूतपूर्व पराक्रमी समझकर जगाया था, वह भी कुछ न कर सका ), अतएव स्वर्ग-जैसे एक छोटे-से गाँव को लूटकर जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा था, वह व्यर्थ ही फुला रहा था (ध्वनि यह कि जिन भुज-दंडों के अनुपम पराक्रम का अनुभव श्रीशंकर के कैलास को हो चुका है, उन भुजाओं द्वारा इस दो भुजावाले तुच्छ तपस्वी को मैं पराजित नहीं कर सका, तो इन अपनी भुजाओं के बल पर गर्व करना मेरा भ्रम-मात्र था )। इस पद्य में वाच्यार्थ तो वही है, जो स्पष्ट अर्थ ज्ञात होता है, और व्यंग्यार्थ वह है, जो ऊपर ब्रैकटों में दिखाया गया है। यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में ही अधिक चमत्कार है, अतः यह ध्वनि काव्य है।

ध्वनि के विशेष भेदों का निरूपण चतुर्थ स्तवक में किया जायगा।

## गुणीभूत व्यंग्य

**जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो अथवा समान या कम चमत्कार हो—व्यंग्यार्थ प्रधान न हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।**

उदाहरण—

उन्निद्र रक्त अरविंद लगे दिखाने,
गुंजार मंजु अलि-पुंज लगे सुनाने ;
ए देख तू उदय अद्रि लगा सुहाने,
बंधूक-पुष्प-छवि सूर्य लगा चुराने ॥

प्रभात होने पर भी शयन से न उठनेवाली किसी नायिका के प्रति उसकी सखी का यह वाक्य है। यहाँ सूर्य-बिंब द्वारा बंधूक-पुष्प की कांति का चुराया जाना कहा गया है। यही वाच्यार्थ है, और इसमें प्रभात का हो जाना व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट ज्ञात हो रहा है। इसमें कोई अधिक चमत्कार नहीं, अतएव यहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं, किंतु गौण है, नीची श्रेणी का है। इसके विशेष भेद पाँचवें स्तवक में निरूपण किए जायँगे।

## अलंकार

**जहाँ व्यंग्य के विना वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे चित्र अर्थात् अलंकार कहते हैं।**

यद्यपि व्यंग्यार्थ प्रायः सर्वत्र रहता है, किंतु जहाँ कवि की इच्छा व्यंग्यार्थ की तरफ़ नहीं होती, अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ के ज्ञान विना ही केवल वाच्यार्थ में चमत्कार होता है, वहाँ अलंकार होता है। अलंकारों के सामान्यतया मुख्य तीन भेद हैं— शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थ उभयालंकार।

शब्दालंकार-उदाहरण—

फूलन के स्याने कै कमानैं लगी फूलन की,
फूलन ही के खाने सु सुहाने मनै हरै;
फूलन की माला में बिसाल छत्र कंचन को,
बीच उडुजाल बाल-रवि सो लखैं परै॥
तिहिमें बिराजैं रघुराजैं दुति भ्राजैं आज,
तुलसी मुकुट मनि तुरसी करै छुरै;
देखि छवि याकै बिन बैन हाय आखैं
आखैं बैनहू न राखैं तासों भाखैं ना बनै परै॥

इसमें फ, म, न आदि व्यंजनों की कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास और एक ही अर्थवाले 'आखैं' पद का दो बार प्रयोग होने से लाटानुप्रास, यह दोनो शब्दालंकार हैं। इसमें श्रीरघुनाथजी के विषय में प्रेम-सूचन होता है, वह व्यंग्य यहाँ अवश्य है, पर उस व्यंग्यार्थ के ज्ञान विना केवल शब्द-सादृश्य में ही यहाँ चमत्कार है।

अर्थालंकार-उदाहरण—

"भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख दैनी;
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सों इक सारस-नैनी।
'केसव' कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी;
सूरज-मंडल में ससि-मंडल मध्य धसी जनु जाहि त्रिबैनी[1]।"

दर्पण में मुख देखती हुई किसी गोपांगना के मुख के उस

---

१ जिन छंदों के आदि और अंत में " " ऐसे चिह्न—इनवरटेड कॉमा—हैं, उन्हें अन्य कवि-कृत समझना चाहिए।

दृश्य में, जिसके केश-कलाप में रक्त सूत्र की डोरियाँ और मोतियों की लड़ी गुँथी हुई थी, सूर्य-मंडल में चंद्र-मंडल और उस चंद्र-मंडल में शोभित त्रिवेणी की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ भी उत्प्रेक्षा अलंकार जो वाच्यार्थ है, उसी में चमत्कार है।

शब्दार्थ उभयालंकार का उदाहरण—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है;
कहै 'पदमाकर' पराग हू में पौन हू में,
पातन में पीकन पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगंत है;
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में वेलिन में,
वनन में बागन में बगरयो बसंत है।"

यहाँ क, प, द आदि व्यंजनों की कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यानुप्रास शब्दालंकार है, और एक ही वसंत के कूल आदि अनेक आधार वर्णन किए गए हैं, अतः 'पर्याय' अर्थालंकार भी है। इन दोनों में ही चमत्कार है। यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार एकत्र होने से उभयालंकार है।

अलंकारों के विशेष भेद आगे अष्टम, नवम और दशम स्तवकों में वर्णन किए जायँगे।

# द्वितीय स्तबक

## शब्द और अर्थ

काव्य शब्द और अर्थ के ही आश्रित है, अतएव सबसे प्रथम शब्द और अर्थ की स्पष्टता की जाती है।

काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक या लाक्षणिक और (३) व्यंजक। इन तीनों प्रकार के शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के क्रमशः (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ और (३) व्यंग्यार्थ होते हैं। ये अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कही जाती हैं। अर्थात् 'अभिधा' आदि शक्तियाँ शब्द के व्यापार हैं। 'कारण' जिसके द्वारा कार्य करता है, उसे व्यापार कहते हैं। जैसे घट बनाने में मिट्टी, कुम्हार, कुम्हार का दंड और चाक आदि कारण हैं। और भ्रमि (चाक के बार-बार फिरने की क्रिया) व्यापार है। क्योंकि इसी क्रिया द्वारा घट बनता है। इसी प्रकार अर्थ का बोध कराने में 'शब्द' कारण है, और अर्थ का बोध करानेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यंजना व्यापार है। इन शक्तियों को वृत्ति भी कहते हैं, इनकी स्पष्टता इस प्रकार है—

## 'वाचक'-शब्द

**साक्षात् संकेत किए हुए अर्थ को बतलाने-वाले शब्द को वाचक कहते हैं।**

संकेत—किसी वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाकर कहा जाय कि 'इसका यह नाम है' अथवा 'इस नाम का यह वस्तु अर्थ है', इस प्रकार के निर्देश को—बतलाने को—संकेत कहते हैं। जैसे शंख की ग्रीवा ( गरदन ) के आकारवाली वस्तु को दिखलाकर बतलाया जाय कि इसका नाम 'घड़ा' है, अथवा 'घड़ा'-शब्द का अर्थ शंख की गरदन-जैसे आकारवाली यह वस्तु है, इस तरह के निर्देश से 'घड़ा'-शब्द और शंख की गरदन-जैसे आकारवाली वस्तु ( घड़ा ) का जो परस्पर संबंध बतलाया जाता है, वही संकेत है, और जो शब्द साक्षात् संकेत की हुई वस्तु को बतलाता है, वह वाचक-शब्द है।

यहाँ 'साक्षात्' इसलिये कहा गया है कि संकेत दो प्रकार से किया जाता है। साक्षात् और परंपरा-संबंध से। जैसे 'वट'-वृक्ष को प्रत्यक्ष दिखलाकर कहा जाय कि 'यह वट है', यह तो साक्षात् संकेत है, और किसी गाँव में होने से वट का एक वृक्ष प्रसिद्ध है, उस प्रसिद्ध वट के संबंध से उस गाँव को भी लोग 'वट' नाम से कहने लगें, उस अवस्था में उस गाँव का नाम 'वट' हो जाता है, अतः उस गाँव का भी 'वट'-शब्द संकेत तो हो

सकता है, पर वह साक्षात् संकेत नहीं, किंतु वट-वृक्ष के संबंध से वह परंपरा-संबंध से संकेत माना जायगा, अतः 'वट'-शब्द उस गाँव का वाचक नहीं माना जायगा, क्योंकि जो परंपरा-संबंध से संकेतित होता है, वह 'वाचक'-शब्द नहीं, किंतु लाक्षणिक शब्द होता है, जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी।

संकेत का ग्रहण—व्यवहार से, प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य (समीप होने) से, आप्त-वाक्य से, उपमान से, व्याकरण से और कोष आदि अनेक कारणों से होता है। जैसे—

व्यवहार से संकेत ग्रहण—किसी वृद्ध मनुष्य के द्वारा अपने भृत्य से यह कहने पर कि 'गैया ले आओ' यह सुनकर उस भृत्य द्वारा गैया ले आने पर पास में बैठा हुआ बालक, जो अब तक इन शब्दों का अर्थ नहीं जानता था, समझ लेता है कि दो सींग, फटी हुई खुरी के आकारवाले जीव को गैया कहते हैं। इसी प्रकार लोगों के व्यवहार से संकेत ग्रहण होता है।

प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से—यद्यपि 'मधुकर'-शब्द का शहद की मक्खी और भौंरा दोनों अर्थ हैं, पर 'कमल पर बैठा हुआ मधुकर मधु-पान करता है', इस वाक्य में 'मधुकर'-शब्द का अर्थ 'कमल'-शब्द के समीप होने से भौंरा ही ग्रहण हो सकता है, न कि शहद की मक्खी, क्योंकि कमल-शब्द प्रसिद्ध है, और कमल का रस-पान भौंरे ही किया करते हैं,

अतः ऐसे प्रयोगों में प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से संकेत ग्रहण होता है।

आप्त-वाक्य से—आप्त कहते हैं प्रामाणिक पुरुष को। कहीं आप्त के वाक्य से संकेत ग्रहण होता है। जैसे किसी बालक को उसका पिता बतला देता है कि 'इसे घोड़ा कहते हैं', तो वह बालक घोड़े-शब्द का संकेत उस पशु में समझ लेता है।

उपमान द्वारा—जिसने यह सुन रक्खा हो कि गैया के-जैसा गवय ( वनगाय ) होता है, वह जब कभी जंगल में गैया के-जैसा जीव देखेगा, तो झट समझ जायगा कि यह 'वनगाय' है। 'उपमान' कहते हैं सादृश्य को। यहाँ सादृश्य ज्ञान से संकेत ग्रहण होता है।

व्याकरण द्वारा—जैसे 'दशरथस्यापत्यं दाशरथिः'—दशरथ का पुत्र दाशरथी कहा जाता है, यहाँ व्याकरण से संकेत ग्रहण है।

इस प्रकार अनेक कारणों से संकेत का ग्रहण किया जाता है। यह संकेत उपाधि में रहता है। वस्तु के धर्म को उपाधि कहते हैं। वस्तु के धर्म चार प्रकार के होते हैं, अर्थात् वाचक-शब्द के चार भेद हैं—जाति-वाचक, गुण-वाचक, क्रिया-वाचक और यदृच्छा-वाचक। इन्हीं में शब्द के संकेत का ज्ञान होता है—

( १ ) जाति—यह वस्तु का प्राण-भूत धर्म है, किसी भी

पदार्थ का नाम उस पदार्थ की जाति पर ही स्थिर किया जाता है। जैसे गैया को गैया इसलिये कहा जाता है कि गोत्व (गैयापन) अर्थात् दो सींग, फटी हुई खुरी, दूध देना इत्यादि गो-जाति के जो धर्म हैं, वे उसमें हैं, अतः गैया, ६' , मनुष्य आदि शब्द जाति-वाचक हैं, क्योंकि ऐसे शब्द जाति को बतलाते हैं।

(२) गुण—यह वस्तु की विशेषता बतलानेवाला धर्म है। जैसे 'सफ़ेद गाय' यहाँ सफ़ेद गुण है। यह गोत्व प्राप्त करने के लिये नहीं, क्योंकि गो-जाति का अस्तित्व तो पहले 'गो' कहने-मात्र से सिद्ध हो चुका। गुण तो अस्तित्व प्राप्त वस्तु में विशेषता (दूसरे से जुदापन) बतलाता है, जैसे काली, पीली गायों में से सफ़ेद गाय को जुदा बतलाने की इच्छा हो, तब 'सफ़ेद' यह गुण-वाचक विशेषण दिया जाता है। जिसके द्वारा अन्य रंगों की गायों को छोड़कर सफ़ेद गाय का बोध होता है, अतः दूसरे से भेद बतलानेवाले शब्द गुण-वाचक कहे जाते हैं।

(३) क्रिया—जो शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, वे क्रिया-वाचक होते हैं। जैसे 'पाचक' (पाक बनाने-वाला), यहाँ पाक क्रिया के निमित्त से पाचक-शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः पाचक, पाठक आदि क्रिया-वाचक शब्द हैं।

(४) यदृच्छा—यह उपाधि वक्ता की इच्छा से व्यक्ति

पर संकेतित होती है। जैसे किसी का नाम देवदत्त, किसी का धर्मदत्त इत्यादि नाम रखनेवाले की इच्छा पर निर्भर है, जिसका जो नाम वक्ता की इच्छा से रक्खा जाय, वही उसका संकेत है।

## वाच्यार्थ

वाचक-शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। जाति-वाचक शब्दों में जाति, गुण-वाचक शब्दों में गुण, क्रिया-वाचक शब्दों में क्रिया और यदृच्छा-वाचक शब्दों में यदृच्छा रूप वाच्यार्थ होता है, यह महाभाष्यकार का मत है। यद्यपि नैयायिक विद्वान् उक्त चारो प्रकार के शब्दों का एक 'जाति' ही वाच्यार्थ मानते हैं। इसी वाच्यार्थ को मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं। यह मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रथम यही—वाच्यार्थ—उपस्थित होता है, और अभिधेयार्थ इसलिये कहा जाता है कि यह अभिधा-शक्ति का व्यापार है—अभिधा से बोध होता है। अतः अब अभिधा किसे कहते हैं, उसकी स्पष्टता की जाती है—

## अभिधा-शक्ति

**साक्षात् संकेतित अर्थ[1] का बोध करानेवाली मुख्य क्रिया ( व्यापार ) को अभिधा कहते हैं।**

---

१. देखो पेज १२।

'अभिधा' में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

( १ ) रूढ शब्द—जिन शब्दों की व्युत्पत्ति न हो, अर्थात् अवयवार्थ न हो, उन्हें 'रूढ़' कहते हैं—'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढा आखंडलादयः'। जैसे 'आखंडल' इस पूरे शब्द का अर्थ इंद्र है—इस शब्द के अवयवों ( जुदे-जुदे खंडों ) का अर्थ नहीं हो सकता। 'रूढ़'-शब्द में प्रकृति-प्रत्ययार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। समूचे शब्द के प्रयोग की किसी खास अर्थ में प्रसिद्धि होती है। कहा है—'प्रकृति-प्रत्ययार्थमनपेक्ष्य शाब्दबोधजनकः शब्दः रूढः'— शब्द-कल्पद्रुम। 'डित्थ', 'गढ' आदि शब्द भी रूढ़ हैं।

( २ ) यौगिक शब्द—जिन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से बोध होता है, उन्हें 'यौगिक' कहते हैं। जैसे 'सुधांशु' शब्द में 'सुधा' और 'अंशु' दो अवयव ( खंड ) हैं। सुधा का अर्थ है अमृत और अंशु का अर्थ है किरण। इन दोनो अवयवों का अर्थ है 'अमृत की किरणोंवाला', अतः अमृत की किरण-वाले चंद्रमा का सुधांशु नाम यौगिक है। 'नृप'१, 'दिवाकर'२ आदि शब्द भी यौगिक हैं।

योगरूढ़—जो शब्द यौगिक होता हुआ भी रूढ़ हो, अर्थात्

---

१ 'नृप'-शब्द में 'नृ' और 'प' दो अवयव हैं। 'नृ' का अर्थ है नर और 'प' का अर्थ पति है, अतः 'नृप' यह राजा का यौगिक नाम है। २ दिवाकर में 'दिवा' और 'कर' दो अवयव हैं, दिन को करनेवाला होने से सूर्य का दिवाकर नाम यौगिक है।

जिसे किसी ख़ास वस्तु के लिये ही प्रयुक्त किए जाने की रूढ़ि-प्रसिद्धि हो, उसे योगरूढ़ कहते हैं। जैसे 'वारिज'। 'वारि' नाम जल का है, कमल जल से उत्पन्न होता है, इसलिये कमल का 'वारिज' नाम यौगिक तो है, पर जल से केवल कमल ही नहीं, शंख, सीपी आदि भी उत्पन्न होते हैं—वे यद्यपि वारिज ही हैं, किंतु उनको 'वारिज' नहीं कहा जाता, क्योंकि वारिज केवल कमल को ही कहने की रूढ़ि-प्रसिद्धि है, अतः ऐसे शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होने के कारण 'योगरूढ़' कहे जाते हैं। पयोद[1] त्रिफला[2] आदि शब्द भी योगरूढ़ हैं।

पद्यात्मक उदाहरण—

नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अंबुज सरिस;
भुज मृनाल अनुहारु वदन सुधाकर-सम रुचिर।

यहाँ 'नूपुर'-शब्द रूढ़ है। 'अंबुज' शब्द योगरूढ़ है, और 'सुधाकर' शब्द यौगिक है। ये सभी वाचक शब्द हैं, और इनका सरल अर्थ ही वाच्यार्थ है।

## 'लक्षणा'-शक्ति

### लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ

जो शब्द लक्षणा-शक्ति से अर्थ को लक्ष्य कराता है, उसे

१ पयोद का यौगिक अर्थ है पय (जल) देनेवाला, अतः जल देने-वाले कूप, तड़ाग सभी पयोद हैं, किंतु पयोद केवल मेघ को ही कहने की प्रसिद्धि है। २ त्रिफला का यौगिक अर्थ है तीन फल, पर चाहे जिन तीन फलों को त्रिफला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि त्रिफला केवल हरड़, बहेड़ा और आँवला, इन्हीं तीन फलों को कहने की रूढ़ि है।

लाक्षणिक शब्द कहते हैं, और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

## लक्षणा

**मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।**

जिस प्रकार पूर्वोक्त अभिधा-शक्ति शब्द के ज्ञान के साथ तत्काल उपस्थित होकर अपने वाच्यार्थ का बोध करा देती है, उस प्रकार लक्षणा तत्काल उपस्थित होकर लक्ष्यार्थ का बोध नहीं करा सकती, किंतु लक्षणा तभी होती है, जब (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (संबंध) और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं[१]।

(१) मुख्यार्थ का बाध उसे कहते हैं, जहाँ मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) के ग्रहण करने में बाध हो, अर्थात् प्रत्यक्ष विरोध हो, अथवा जहाँ वक्ता (कहनेवाले) का अभिप्राय मुख्यार्थ से न निकलता हो।

---

१ कहा है—'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ;
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।'
—वार्तिककार कुमारिल भट्ट

( २ ) मुख्यार्थ का योग, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर जो दूसरा अर्थ ग्रहण किया जाय, वह ऐसा हो, जिसका मुख्यार्थ के साथ संबंध हो[1] ।

( ३ ) 'रूढ़ि' कहते हैं प्रसिद्धि को, अर्थात् किसी वस्तु को ख़ास तरह से कहने की प्रसिद्धि हो ।

( ४ ) 'प्रयोजन' अर्थात् किसी कारण विशेष से या ख़ास बात की सूचना करने के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाय ।

इन चारो में पहले दो—मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ—के साथ योग ( संबंध ) तो लक्षणा में सर्वत्र होना अनिवार्य है, किंतु पिछले दो में एक ही होता है, रूढ़ि अथवा प्रयोजन अर्थात् लक्षणा उपर्युक्त चारो में तीन कारणों के समूह होने पर होती है । जैसे—

( १ ) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से संबंध और रूढ़ि, यह एक कारण-समूह है ।

( २ ) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध और प्रयोजन, यह दूसरा कारण-समूह है ।

इन दोनो में मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध तो दोनो में ही है, किंतु तीसरा कारण एक समूह में रूढ़ि है, और दूसरे में प्रयोजन है, अतः इस तीसरे कारण द्वारा लक्षणा दो भेदों में विभक्त है, रूढ़ि और प्रयोजनवती ।

---

[1] संबंध अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका ख़ुलासा आगे किया जायगा ।

## रूढ़ि लक्षणा

**जहाँ केवल रूढ़ि के कारण, अर्थात् लोगों के प्रयोग-बाहुल्य या यों कहिए, लोक-प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है।**

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है—'महाराष्ट्र साहसी है'।

यहाँ 'महाराष्ट्र' शब्द लाक्षणिक है, इसका मुख्यार्थ है 'महाराष्ट्र देश' इसमें लक्षणा का पहला कारण समूह है।

(१) 'महाराष्ट्र' का मुख्यार्थ है महाराष्ट्र देश। किंतु यहाँ इस मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि देश जड़ वस्तु है, देश में साहस का होना संभव नहीं, अतः देश को साहसी नहीं कहा जा सकता। यही मुख्यार्थ का बाध यहाँ लक्षणा का एक कारण है।

(२) मुख्यार्थ का बाध होने के कारण यहाँ 'महाराष्ट्र'-शब्द से उस देश से संबंध रखनेवाले—महाराष्ट्र के निवासी पुरुष—यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, अर्थात् महाराष्ट्र देश के निवासी साहसी हैं, ऐसा लक्ष्यार्थ समझा जाता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ जो 'महाराष्ट्र देश' है, उसके साथ आधारा-धेय संबंध है, अर्थात् महाराष्ट्र देश में वहाँ के निवासी रहते हैं, यह संबंध है। यही मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध रूप यहाँ लक्षणा का दूसरा कारण है।

(३) तीसरा कारण यहाँ रूढ़ि है। क्योंकि यहाँ किसी ख़ास प्रयोजन के लिये ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है, किंतु महाराष्ट्र-निवासियों को महाराष्ट्र कहने का रिवाज पड़ा हुआ है, अतः इसमें रूढ़ि ही कारण होने से यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि का दूसरा उदाहरण—'यह तैल शीतकाल में उपयोगी है'। तैल का मुख्यार्थ है तिलों से निकाला हुआ तिलों का तैल, पर सरसों, नारियल आदि से बने हुए को भी तैल कहा जाता है। सरसों आदि के बने हुए स्निग्ध द्रव्य को तैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि वे तिलों से नहीं बने, फिर तैल कैसे कहे जा सकते हैं। पर उनको भी तैल कहे जाने की रूढ़ि—रिवाज—पड़ी हुई है, अतः यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि लक्षणा का पद्यात्मक उदाहरण—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ;
कंप किसोरी दरस ते, खरे लजाने लाल"।

—बिहारी

'ब्रज' का मुख्य अर्थ गाँव या गोपालकों का निवास-स्थान है, अतः वह जड़ है। जड़ का बेहाल होना संभव नहीं, अतः ब्रज को बेहाल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ ब्रज-शब्द का अर्थ ब्रज के निवासियों का लक्षणा द्वारा समझा जाता है। यहाँ भी रूढ़ि ही कारण है।

## प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी ख़ास प्रयोजन के लिये लाक्षणिक

शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

'गंगा पर ग्राम है' ( गंगायां घोषः[1] )—यहाँ 'गंगा' शब्द लाक्षणिक है। गंगा का मुख्यार्थ है गंगा का प्रवाह ( धारा )। यहाँ इस लाक्षणिक शब्द के प्रयोग किए जाने में खास प्रयोजन है, अतः यहाँ पूर्वोक्त दूसरा कारण समूह है।

( १ ) गंगा-शब्द के मुख्यार्थ प्रवाह का यहाँ बाध है, क्योंकि गंगाजी की धारा पर गाँव का होना संभव नहीं, अतः ऐसा कथन नहीं बन सकता, यही बाध है।

( २ ) गंगा-शब्द के मुख्यार्थ का बाध होने से इसका लक्ष्यार्थ 'तट' ग्रहण किया जाता है। क्योंकि लक्ष्यार्थ 'तट' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' के साथ सामीप्य ( समीप में होना ) संबंध है, अतः यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध है। यह लक्षणा का दूसरा कारण है।

ये दोनो कारण—मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध—तो पूर्वोक्त रूढ़ि लक्षणा के समान ही इस 'प्रयोजनवती' लक्षणा में हुआ करते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

---

१ गोपालक—ग्वालों के गाँव को या उनके रहने के स्थान को घोष कहते हैं।

( ३ ) तीसरा कारण यहाँ 'प्रयोजन' है, न कि रूढ़ि। यहाँ 'गंगा-तट पर गाँव' ऐसा स्पष्ट न कहकर 'गंगा पर गाँव' ऐसा कहने में इस वाक्य को कहनेवाले ( वक्ता ) का अभिप्राय अपने गाँव की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना है। इसी प्रयोजन के लिये यहाँ ऐसा कहा गया है। यदि वह कहता कि 'मेरा गाँव गंगा-तट पर है', तो गाँव की पवित्रता और शीतलता का वैसा आधिक्य सूचन नहीं हो सकता था, जैसा कि 'गंगा पर गाँव' कहने से सूचित होता है। क्योंकि वास्तव में पवित्रता आदि धर्म गंगा के प्रवाह के हैं, न कि तट के। अतः गंगा-तट को गंगा कहने से तट में गंगाजी की साक्षात् एकरूपता हो जाने से प्रवाह के पवित्रता आदि धर्म भी तट में अवश्य सूचन होने लगते हैं। बस, यहाँ यही प्रयोजन है, अतः प्रयोजनवती लक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा के भेद इस प्रकार होते हैं—

प्रयोजनवती लक्षणा

- गौणी
  - (१) सारोपा
  - (२) साध्यवसाना
- शुद्धा
  - उपादान ल०
    - (१) सारोपा
    - (२) साध्यवसाना
  - लक्षण-लक्षणा
    - (३) सारोपा
    - (४) साध्यवसाना

इस तालिका में गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद, अर्थात् सब छ भेद जो बतलाए गए हैं, वे गूढ़-व्यंग्य में भी होते हैं, और अगूढ़-व्यंग्य में भी। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के काव्य प्रकाश में यही १२ भेद निरूपित हैं; और रूढ़ि का एक। इस प्रकार कुल १३ भेद वहाँ बतलाए गए हैं, किंतु साहित्य-दर्पण में शुद्धा लक्षणा के समान गौणी के भी उपादान और लक्षण-लक्षणा, ये दो भेद अधिक बतलाकर फिर दोनो को सारोपा और साध्यवसाना में विभक्त करके गौणी के भी चार भेद माने गए हैं। गौणी के ये चार और शुद्धा के चार भेद मिलकर आठ, और ये आठो ही गूढ़-व्यंग्य और अगूढ़-व्यंग्य भेद से १६, फिर ये सौलह भी पदगत और वाक्यगत भेद से ३२, ये ३२ भी कहीं धर्मगत और कहीं धर्मिगत भेद से प्रयोजनवती लक्षणा के ६४ भेद स्वीकार किए गए हैं, और रूढ़ि लक्षणा के भी साहित्य-दर्पण में निम्न-लिखित १६ भेद बतलाए गए हैं—

रूढ़ि लक्षणा

शुद्धा — गौणी

(१) उपादान (२) लक्षणलक्षणा (३) उपादान (४) लक्षणलक्षणा

ये चारो भेद सारोपा और साध्यवसाना दोनो प्रकार के होने पर आठ और फिर वे आठो भी कहीं पदगत और कहीं

वाक्यगत होने पर १६ होते हैं। इस प्रकार रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के उपर्युक्त ६४, सब मिलाकर लक्षणा के ८० भेद वहाँ स्वीकार किए गए हैं, किंतु वे महत्त्व-पूर्ण न होने से विस्तारभय से उनमें से पदगत और वाक्यगत एवं धर्मगत और धर्मिगत भेदों के सिवा अन्य भेदों के उदाहरण यहाँ न दिखाकर काव्य-प्रकाश के अनुसार १२ भेदों की सोदाहरण स्पष्टता की जाती है—

## गौणी लक्षणा

**जहाँ सादृश्य संबंध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, उसे गौणी लक्षणा कहते हैं।**

ऊपर कहा गया है कि लक्षणा तीन कारण-समूह से होती है, उनमें एक कारण मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध होना भी कहा गया है। जहाँ सादृश्य संबंध से, अर्थात् आह्लादकता, जड़ता आदि गुणों की समानता के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है[1], वहाँ गौणी लक्षणा होती है। इस लक्षणा का मूल उपचार है। उपचार कहते हैं अत्यंत पृथक्-पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले दो पदार्थों में सादृश्य के अतिशय से—अत्यंत समानता होने के प्रभाव से—भेद की प्रतीति न होना[2]।

---

१ 'गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्तम्'—एकावली की तरल टीका, पृ० ६८। २ 'अत्यंतविशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशय-महिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः' साहित्य-दर्पण परि० २.

गौणी लक्षणा का उदाहरण—

'मुखचंद्र'।

इसका मुख्यार्थ है 'मुख चंद्रमा है', किंतु इस मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि मुख और चंद्रमा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अतः मुख को चंद्रमा नहीं कहा जा सकता, किंतु चंद्रमा में आह्लादक—आनंददायक—जो गुण है, वह मुख में भी है—मुख भी आनंददायक है, अर्थात् आह्लादक गुण चंद्रमा और मुख दोनो में समान है, इस समान गुण के संबंध से 'चंद्रमा के समान मुख है' इस लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ यहाँ सादृश्य के संबंध से लिया जाता है, अतः गौणी लक्षणा है।

## शुद्धा लक्षणा

सादृश्य संबंध के विना जहाँ अन्य किसी संबंध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

मुख्यार्थ के साथ जहाँ लक्ष्यार्थ का सादृश्य संबंध होता है, वहाँ पूर्वोक्त 'गौणी' और सादृश्य के विना अन्य किसी तरह का संबंध जहाँ होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। शुद्धा लक्षणा में अनेक संबंधों द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे सामीप्य संबंध से शुद्धा लक्षणा का उदाहरण—

पूर्वोक्त 'गंगा पर घर' ही है। इसमें सादृश्य संबंध से तट

का ग्रहण नहीं, किंतु मुख्यार्थ प्रवाह के साथ लक्ष्यार्थ तट का सामीप्य संबंध है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है।

तादार्थ्य१ संबंध से लक्षणा—जैसे यज्ञ में काष्ठ के स्तंभ को इंद्र कहा जाता है। इंद्र का मुख्यार्थ इंद्र देवता है, स्तंभ को इंद्र कहने में मुख्यार्थ का बाध है, वहाँ इंद्र। शब्द का लक्ष्यार्थ 'स्तंभ' अर्थ तादार्थ्य संबंध से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यज्ञ-क्रिया में इद्र का स्थानापन्न स्तंभ मान लिया जाता है। यज्ञ में इंद्र की पूजा का विधान है। उसके स्थानापन्न स्तंभ को पूज्य सूचन करने के लिये उसे इंद्र कहा जाता है, यही प्रयोजन है।

अंगांगीभाव-संबंध से लक्षणा—

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहिराई लाल;
नौलसिरी औरैं चढ़ी मौलसिरी की माल"।

यहाँ मौलसिरी की माला को 'अपने कर गुही' कहा गया है, इसका मुख्यार्थ है 'हाथ से गूँथी हुई'। किंतु माला हाथ के अग्रभाग—उँगलियों—से गूँथी जाती है, न कि हाथ से। अतः उँगली को हाथ कहने में मुख्यार्थ का बाध है, पर हाथ अंगी है, और उँगली उसके अंग हैं, इसलिये यहाँ अंगांगी भाव के संबंध से 'हाथ' शब्द का 'उँगली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

तात्कर्म्य२। संबंध से लक्षणा—जैसे जाति का बढ़ई न होने

---

१ किसी कार्य के लिये जो नियत हो, उसके स्थानापन्न दूसरे को करना 'तादार्थ्य' है। २ तात्कर्म्य का अर्थ है, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए जानेवाले काम को करनेवाला।

पर भी बढ़ई का काम करनेवाले को बढ़ई कहने में मुख्यार्थ 'बढ़ई-जाति' का बाध है। पर वह बढ़ई का काम करता है, इस तात्कर्म्य-संबंध से यहाँ 'बढ़ई' अर्थ ग्रहण किया जाता है। इनके सिवा कुछ अन्य संबंधों के उदाहरण भी आगे दिए जायँगे।

अब ऊपर की तालिका के अनुसार गौणी और शुद्धा लक्षणा के अन्य भेदों की स्पष्टता की जाती है। पृष्ठ २४ की तालिका में शुद्धा लक्षणा के उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा, ये दो भेद दिखाए गए हैं।

## उपादान लक्षणा

**अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।**

उपादान का अर्थ है लेना, अर्थात् इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपना अर्थ ( मुख्यार्थ ) न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींचकर ले आता है, अतः इस लक्षणा को 'अजहत् स्वार्था' भी कहते हैं—अजहत् = नहीं छोड़ा है, स्वार्था = ( स्व अर्थ ) अपना अर्थ जिसने। निष्कर्ष यह कि इसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा रहता है।

उपादान लक्षणा का उदाहरण—

'ये कुंत ( भाले ) आ रहे हैं' ( एते कुंताः प्रविशंति )—इसका मुख्यार्थ है 'ये भाले आ रहे हैं', किंतु भाले जड़ वस्तु हैं,

वे आने-जाने का कार्य नहीं कर सकते, अतः मुख्यार्थ का बाध है। इसलिये 'भाले आ रहे हैं' यह मुख्यार्थ अपने इस अर्थ की सिद्धि करने के लिये—'भाले धारण किए हुए पुरुष आ रहे हैं' इस लक्ष्यार्थ का आक्षेप करता है—खींचकर ले आता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'भालों' के साथ संयोग-संबंध[१] अथवा धार्य-धारक-संबंध[२] है। यहाँ 'भाले'-शब्द ने अपना मुख्यार्थ नहीं छोड़ा है, और 'भाले धारण किए हुए पुरुष' यह लक्ष्यार्थ खींचकर ले लिया है, क्योंकि इस लक्ष्यार्थ के विना उसकी (मुख्यार्थ की) सिद्धि नहीं हो सकती थी, अर्थात् इस वाक्य के कहनेवाले का मतलब नहीं निकल सकता था। यहाँ भालेवाले पुरुषों में भालों जैसी तीक्ष्णता सूचन करने के लिये इस लाक्षणिक वाक्य का प्रयोग है, अतः प्रयोजनवती उपादान लक्षणा है। आगे ध्वनि-प्रकरण में लिखी जानेवाली अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि में यही लक्षणा हुआ करती है। अच्छा, इसका एक और उदाहरण भी देखिए—

'कौओं से दही की रक्षा करो' (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्)—इस वाक्य का मुख्यार्थ है 'कौओं से दही की रक्षा करने को कहा जाना।' यद्यपि इस अर्थ में कुछ असंभवता प्रतीत न होने से साधारणतः मुख्यार्थ का बाध प्रतीत नहीं होता। किंतु यहाँ मुख्यार्थ का बाध इसलिये है कि इस वाक्य के वक्ता

---

१ भालेवालों के साथ भाले हैं, यह संयोग-संबंध है। २ भाले धार्य हैं और भालेवाले धारक हैं, यह धार्य-धारक-संबंध है।

का तात्पर्य केवल कौओं से ही दही की रक्षा करने को कहने मात्र का नहीं है—कौआ-शब्द तो उपलक्षण[1] मात्र है, वास्तव में कौओं के सिवा जितने भी और बिल्ली आदि दही के भक्षक हैं, उन सभी से रक्षा करने के लिये कहने का है। यह बात मुख्यार्थ द्वारा नहीं जानी जाती, इसलिये यहाँ वक्ता का तात्पर्य जो मुख्यार्थ है, उसका बाध है, इसीलिये पहले मुख्यार्थ के बाध की स्पष्टता में मुख्यार्थ के अन्वय का बाध और वक्ता के तात्पर्य का बाध दोनो ही को मुख्यार्थ का बाध बतलाया गया है। यहाँ 'कौआ'-शब्द अपना मुख्यार्थ न छोड़ता हुआ अन्य दधि-भक्षकों का आक्षेप कराता है, अतः ऐसे प्रयोगों में भी उपादान-लक्षणा ही होती है। एक उदाहरण और भी देखिए—

जैसे बहुत-से मनुष्य आ रहे हैं, उनमें एक आगेवाले मनुष्य के पास छत्री ( छाता ) है, और सब विना छाते के हैं, उनको देखकर कहा जाता है 'वे छत्रीवाले आ रहे हैं' इस वाक्य में 'आ रहे हैं' यह बहुवचन की क्रिया है, अतः इसका मुख्यार्थ है सब छत्रीवाले आ रहे हैं, पर उनमें छत्रीवाला तो एक ही है, जो उस मनुष्य-समूह के सबसे आगे है, अतः मुख्यार्थ का बाध है, किंतु 'आ रहे हैं' इस क्रिया में उस एक प्रधानभूत आगे के छत्रीवाले

---

१ एक पद के कहने से उसी अर्थवाले अन्य पदार्थों का कथन जिसके द्वारा किया जाय, उसे 'उपलक्षण' कहते हैं—'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम् उपलक्षणम्'।

के साथ होने के संबंध से अन्य छत्री-रहित आते हुए सभी का आना लक्षणा द्वारा समझा जाता है। यहाँ साहचर्य[1] संबंध है।

## लक्षण-लक्षणा

**जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।**

पूर्वोक्त उपादान लक्षणा अजहत् स्वार्था है, क्योंकि वहाँ मुख्यार्थ अपना अर्थ नहीं छोड़ता, और यह लक्षण-लक्षणा जहत् स्वार्था है, क्योंकि इनमें मुख्यार्थ स्वार्था=अपना अर्थ, जहत्=छोड़ देता है। आगे ध्वनि-प्रकरण में लिखी जानेवाली 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' में यही लक्षणा होती है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त वही है 'गंगा पर गाँव'। इसमें मुख्यार्थ जो प्रवाह है, वह सर्वथा छोड़ दिया जाता है। इस उदाहरण की अधिक स्पष्टता पहले (पृष्ठ २३ में) की गई है।

पद्यात्मक उदाहरण—

"कच समेट करि भुज उलटि खए सीस पर डारि ;
काको मन बाँधे न यह जूरा बाँधनि हारि।"

(बिहारी)

यह जूरा (केश-पाश) बाँधते समय की किसी युवती की

---

१ साथ में रहना।

चेष्टा का वर्णन है। 'मन बाँधै' इस पद में 'बाँधै'-शब्द का मुख्यार्थ बाँधना है, पर मन कोई स्थूल वस्तु नहीं, जिसको बाँधा जाय, अतः मुख्यार्थ का बाध है, अतः इस मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'मन को आसक्त करना' यह लक्ष्यार्थ लिया जाता है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अनुपम सौंदर्य सूचन करना यहाँ प्रयोजन है। एक और उदाहरण देखिए—

सुजनता भवदीय अपार है,
अकथनीय किया उपकार है;
सुहृद! यों करते रहिए कृपा,
मुदित जीवित भी रहिए सदा।

बार-बार अपकार करनेवाले किसी कुटिल के प्रति उसके दिए हुए परितापों से दुःखित किसी व्यक्ति की यह उक्ति है। इसका मुख्यार्थ यह है कि 'हे मित्र! आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया, आपने अत्यंत सज्जनता दिखलाई है।' किंतु ऐसे वाक्य अपकारी के प्रति नहीं कहे जा सकते, अतः इस मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ उपकार का अपकार एवं सज्जनता का दुर्जनता आदि लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का विपरीत संबंध है। अपकार की अधिकता सूचन करना प्रयोजन है। ऐसे उदाहरणों में भी लक्षण-लक्षणा होती है। और, लक्ष्यार्थ विपरीत होने से इसे विपरीत लक्षणा भी कहते हैं।

उपर्युक्त गौणी लक्षणा और उपादान एवं लक्षण-लक्षणा,

जो कि शुद्धा के दो भेद हैं, ये तीनो ही लक्षणा दो प्रकार की होती हैं—सारोपा और साध्यवसाना। जैसा कि तालिका में दिखलाया गया है। इन ( सारोपा और साध्यवसाना ) की स्पष्टता इस प्रकार है—

## सारोपा लक्षणा

**जहाँ आरोप्यमाण ( विषयी ) और आरोप के विषय, दोनो का शब्द द्वारा कथन किया जाय, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।**

पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कही हुई दो वस्तुओं में एक वस्तु के स्वरूप की दूसरी वस्तु में तादात्म्य प्रतीति ( अभेद ज्ञान ) को आरोप कहते हैं। और जिस वस्तु का आरोप किया जाय, उसे आरोप्यमाण और जिस वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय, उसे आरोप का विषय कहते हैं। 'सारोपा' लक्षणा में विषयी ( जिसका आरोप किया जाय ) और विषय ( जिसमें आरोप किया जाय ), दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है। और, विषयी के साथ विषय की तादात्म्य प्रतीति होती है, अर्थात् उन दोनो में अभेद ज्ञान रहता है।

सारोपा गौणी लक्षणा का उदाहरण—

'वाहीक बैल है' ( गौर्वाहीकः )।

वाहीक कहते हैं असभ्य ( गँवार ) को। यहाँ गँवार में बैल का आरोप है। वाहीक जो आरोप का विषय है, और

बैल जो आरोप्यमाण है, उन दोनो का शब्द से स्पष्ट कथन है, अतः सारोपा है। गँवार को बैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। बैल में जड़ता, मंदता आदि धर्म है, गँवार में भी जड़ता और मंदता होती है, अतः इस सादृश्य-संबंध से 'वाहीक बैल के समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, अतः गौणी है। वाहीक ( गँवार ) में मूर्खता का आधिक्य सूचन किया जाना प्रयोजन है। पूर्वोक्त 'मुखचंद्र' उदाहरण में भी यही सारोपा गौणी लक्षणा है। रूपक अलंकार में यही लक्षणा अंतर्गत रहती है।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण—'वे भाले आ रहे हैं।' इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'भाले' आरोप्यमाण है, और भालेवाले पुरुष आरोप के विषय हैं, इन दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, क्योंकि 'वे' इस सर्वनाम से भाले धारण करनेवाले पुरुषों का भी शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। लक्ष्यार्थ जो भालेवाले पुरुष हैं, उनके साथ मुख्यार्थ जो 'भाले' हैं, वह भी लगा रहता है, अतः उपादान लक्षणा है। यहाँ धार्य-धारक-संबंध है, जैसा कि पहले बतलाया गया है, अतः शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा का उदाहरण—

'घृत आयु है' ( आयुर्घृतम् )।

इसमें घृत को आयु कहा गया है। अतः घृत आरोप का विषय है, और आयु आरोप्यमाण है। घृत को आयु कहने

में मुख्यार्थ का बाध है, अतः घृत आयु बढ़ानेवाला है, आयु का कारण है, यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। घृत आयु का कारण है, और 'आयु' कार्य है, अतः कार्य-कारण संबंध होने से शुद्धा है। घृत ने अपना मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अन्य पदार्थों से घृत को विलक्षण आयु-वर्द्धक सूचन करना यहाँ प्रयोजन है। आयु के साथ घृत की तादात्म्य प्रतीति अर्थात् अभेद बतलाया गया है, और घृत तथा आयु दोनों का स्पष्ट शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। इसका पद्यात्मक उदाहरण—

"कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति यदुपति सदा विपद-विदारन हार॥"

(विहारी)

यहाँ यदुपति में संपत्ति का आरोप है—यदुपति को ही संपत्ति कहा गया है। इन दोनों का शब्द द्वारा कथन होने से सारोपा है। मुख्यार्थ संपत्ति का त्याग है। संपत्ति का लक्ष्यार्थ पालक, सुखद आदि ग्रहण किया जाता है, अतः लक्षण-लक्षणा है। तात्कर्म्य संबंध होने से शुद्धा है। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र में प्रेम सूचन करना ही प्रयोजन है, अतः प्रयोजनवती है।

## साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश

**( कथन ) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।**

साध्यवसाना गौणी लक्षणा का उदाहरण—जैसे किसी गँवार को देखकर कहा जाय कि 'यह बैल है' ( गौरयम् )। इसकी स्पष्टता पूर्वोक्त सारोपा गौणी के 'वाहीक बैल है' इस उदाहरण में की जा चुकी है। किंतु वहाँ आरोप का विषय जो वाहीक ( गँवार ) है, उसका और आरोप्यमाण बैल दोनो का शब्द द्वारा कथन है। और, यहाँ आरोप के विषय 'वाहीक' का कथन नहीं, केवल आरोप्यमाण 'बैल' का ही कथन है, अतः साध्यवसाना है। बस सारोपा और साध्यवसाना में यही अंतर है। इसके सिवा वहाँ बैलपन और गँवारपन आदि परस्पर में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर भी अत्यंत सादृश्य के प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् अभेद की प्रतीति कराना-मात्र प्रयोजन है, किंतु यहाँ—साध्यवसाना के 'यह बैल है' इस उदाहरण में 'वाहीक' पद नहीं है, जो विशेष्य-वाचक है, अतएव लक्ष्यार्थ के समझने के प्रथम ही मुख्यार्थ के ज्ञान-मात्र से ही बैलपन और गँवारपन जो परस्पर में इनके भेद बतलानेवाले धर्म हैं, उनकी प्रतीति के बिना ही सर्वथा अभेद कथित है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गँवार को बैल के समान जड़ और मंद तो दोनो ही में सूचन किया गया है, तथापि सारोपा में भेद की प्रतीति होते हुए अर्थात् गँवार और

बैल दो पृथक्-पृथक् वस्तु समझते हुए एकता का—तद्रूपता का—ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है, और साध्यवसाना में दोनो की पृथक्-पृथक् प्रतीति कराए विना ही सर्वथा अभेद अर्थात् 'यह बैल ही है' ऐसा ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है। इन दोनो लक्षणाओं में यही उल्लेखनीय भेद है, जो प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। इसका पद्यात्मक उदाहरण—

लावण्य-पूरित नवीन नदी सुहाती,
देखो, वहाँ द्विरद-कुंभ-तटी दिखाती;
उन्निद्र चंद्र अरविंद प्रफुल्लशाली—
है कांचनीय कदली-युग-दंडवाली।

किसी सुंदरी को उद्देश्य करके यह किसी युवक का वाक्य है। सुंदरी में लावण्य की नदी का और उसके अंगों में—उरोज, मुख, नेत्र और जंघाओं में—तट, पूर्णचंद्र, प्रफुल्लित कमल और सुवर्ण के कदली-दंडों का आरोप है। यहाँ आरोप के विषय सुंदरी और उसके अंगों का कथन नहीं किया गया है, केवल आरोप्यमाण 'तट' आदि का कथनमात्र है, अतः साध्यवसाना है। सुंदरी के अंगों के साथ गज-कुंभ आदि का सादृश्य-संबंध होने से गौणी है। यहाँ अत्यंत सौंदर्य सूचन करना प्रयोजन है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार में यही लक्षणा अंतर्गत रहती है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण—

'कुंत ( भाले ) आ रहे हैं' ( कुंताः प्रविशंति )

पूर्वोक्त (पृष्ठ ३५) सारोपा उपादान लक्षणा के—'वे कुंत आ रहे हैं', इस उदाहरण में और तो सब स्पष्टता की जा चुकी है। उसमें और इसमें भेद यही है कि वहाँ 'वे' इस सर्वनाम के प्रयोग द्वारा आरोप के विषय भालेवाले पुरुषों का भी कथन किया गया है, अतः सारोपा है, किंतु यहाँ केवल 'कुंत आ रहे हैं' कहा गया है, अतः केवल आरोप्यमाण 'कुंत' का ही कथन है, न कि आरोप के विषय का, अतः साध्यवसाना है। और भी उदाहरण—'वंसी गावत है वहाँ'। इसमें श्रीकृष्ण में वंसी का आरोप है। आरोप का विषय जो श्रीकृष्ण है, उनका कथन नहीं है, आरोप्यमाण वंसी मात्र का कथन है—श्रीकृष्ण और वंसी में अभेद कथन है, अतः साध्यवसाना है। वंसी जड़ है, वह गान नहीं कर सकती। अतः मुख्यार्थ वंसी का वाध है, अतः इसका लक्ष्यार्थ 'वंसीवाला' ग्रहण किया जाता है, और इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ वंसी भी लगा रहता है, अतः उपादान है। धार्य-धारक संवंध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण-लक्षणा का उदाहरण—जैसे घृत को दिखलाकर कहा जाय कि 'यही आयु है।' इसकी स्पष्टता सरोपा के 'घृत आयु है' इस उदाहरण में हो चुकी है। उसमें और इसमें एक भेद तो यह है कि वहाँ घृत और आयु—आरोप के विषय और आरोप्यमाण—दोनो का कथन किया जाने से सारोपा है, और यहाँ आरोप के विषय घृत का कथन न किया

जाकर केवल आरोप्यमाण 'आयु' का ही कथन है, अतः यहाँ साध्यवसाना है। इसके सिवा दूसरा भेद प्रयोजन में है, वहाँ पूर्वोक्त सारोपा में आयुवर्द्धक अन्य पदार्थों से घृत को विलक्षण आयुवर्द्धक सूचन करना-मात्र प्रयोजन है, और इस साध्यवसाना में घृत को अव्यभिचार तथा अव्यर्थ आयुवर्द्धक सूचन किया गया है, यद्यपि इन दोनो ( सारोपा और साध्यवसाना के ) उदाहरणों में कार्य-कारण संबंध समान है। पूर्वोक्त 'गंगा पर गाँव' उसमें भी साध्यवसाना लक्षणा ही है, क्योंकि 'तट' में गंगा के प्रवाह का आरोप है, और आरोप के विषय 'तट' का कथन नहीं।

प्रयोजनवती लक्षणा के छओ भेदों के लक्षण और उदाहरण जो ऊपर दिखाए गए हैं, उनमें जिसे प्रयोजन कहा जाता है, वह व्यंग्यार्थ होता है, क्योंकि न तो वह वाच्यार्थ है, और न लक्ष्यार्थ ही, जैसा कि आगे लक्षणा-मूला व्यंजना के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है—गूढ़ और अगूढ़। अतः पूर्वोक्त छओ लक्षणा भी प्रत्येक गूढ़-व्यंग्या और अगूढ़-व्यंग्या होती है।

## गूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है, अर्थात् जिसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, वहाँ गूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

मुख में विकस्यो मुसकान वसीकृत वंकता चारु विलोकन है;
गति में उछलैं बहु विभ्रम त्यों मति में मरजादहु लोपन है।
मुकुलीकृत हैं स्तन, उद्धर त्यों जघनस्थल चित्त प्रलोभन है;
इहिं चंदमुखी-तन में ह्वै उदै हुलसाय रह्यो नव-यौवन है।

किसी तरुणी को देखकर किसी युवक की उक्ति है। इसका मुख्य अर्थ यह है कि (१) इस चंद्रमुखी के अंगों में यौवन का उदय मुदित हो रहा है। (२) इसके मुख में मुसकान-स्मित विकसित है। (३) वंकता को वश करनेवाला कटाक्षपात है। (४) गति में विभ्रमों को उछाल है। (५) बुद्धि में परिमित विषयता का त्याग है। (६) कुच अधखिली कली हैं। (७) जघनस्थल उद्धर है। इनमें लक्षणा और व्यंग्य क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) यौवन कोई चेतन वस्तु नहीं, जो मुदित हो सके, अतः मुख्यार्थ का बाध है। इसका लक्ष्यार्थ है यौवन-अवस्था-जनित उत्कर्ष अर्थात् अत्यंत सौंदर्य और नायिका में अभिलाषा होना व्यंग्य है।

(२) 'विकस्यो' का मुख्यार्थ है प्रफुल्ल होना, किंतु विकसित होना, यह पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान का, अतः मुख को विकसित कहने में मुख्यार्थ का बाध है। विकसित का लक्ष्यार्थ उत्कर्ष ग्रहण किया जाता है। मुख्यार्थ विकसित के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का असंकोच रूप सादृश्य

संबंध है, क्योंकि विकास और आधिक्य दोनो में असंकोच रहता है। मुख को पुष्पों के समान सुगंधित सूचन करना व्यंग्य है। इसमें सादृश्य संबंध होने से गौणी और मुख एवं विकसित दोनो का कथन होने से सारोपा तथैव विकसित ने अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है।

(३) 'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है किसी को अपने वश में कर लेना। किंतु कटाक्षों द्वारा बाँकेपन को वश में करना असंभव है, अतः इस मुख्यार्थ का बाध है। वशीकृत का लक्ष्यार्थ स्वाधीन करना ग्रहण किया जाता है। अपने अभिलषित विषय में प्रवृत्ति रूप संबंध है। अपने प्रेमी में अनुराग सूचन करना प्रयोजन है।

(४) विभ्रम अर्थात् हाव ऐसी वस्तु नहीं, जो उछले। अतः मुख्यार्थ का बाध है; उछले का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' ग्रहण किया जाता है। प्रेर्य-प्रेरक भाव संबंध है। मनोहारी सूचन करना व्यंग्य है।

(५) मर्याद का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है, इसका लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। कार्य-कारण भाव संबंध है। अनुराग का आधिक्य व्यंग्य है।

(६) मुकुलीकृत का मुख्यार्थ अधखिली कली है, किंतु स्तनों को अधखिली कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि कली फूलों की होती है, न कि मनुष्य के अंगों की। इसका लक्ष्यार्थ काठिन्य

है। अवयवों की सघनता रूप सादृश्य संबंध है। मनोहरता सूचन व्यंग्य है।

(७) जघनस्थल को उद्धर कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि यह चेतन का धर्म है। उद्धर का लक्ष्यार्थ है—विलक्षण रति योग्य होना। भार को सहन करने का सादृश्य संबंध है रमणीयता सूचन व्यंग्य है।

इनमें जहाँ सादृश्य संबंध है, वहाँ गौणी और जहाँ अन्य-संबंध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इनमें व्यंग्य हैं, वे सभी गूढ़ हैं, साधारण व्यक्ति द्वारा सहज में नहीं समझे जा सकते—इन्हें काव्य-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। पूर्वोक्त 'सुजनता भवदीय अपार है' इस उदाहरण में भी गूढ़ व्यंग्य ही है।

## अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा

**जहाँ ऐसा व्यंग्य हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।**

उदाहरण—

> श्रिय परिचय सों मूढ़हू जानहिं चतुर चरित्र;
> यौवन-मद तरुनिन ललित सिखवत हाव विचित्र।

यहाँ सिखवत पद लाक्षणिक है, सिखाने का मुख्यार्थ है उपदेश[1] करना। यह चेतन का कार्य है, यौवन जड़ है, उसके

---

[1] उपदेश का अर्थ है न जानी हुई बात को शब्द द्वारा कथन करके समझाना।

द्वारा उपदेश असंभव होने से मुख्यार्थ का बाध है। सिखवत का लक्ष्यार्थ है 'प्रकट होना' प्रकट करना यह सामान्य वाक्य है, और 'सिखाना' यह विशेष वाक्य है, अतः यहाँ सामान्य-विशेष भाव संबंध होने से शुद्धा है। अनायास लालित्य का ज्ञान होना व्यंग्य है। यह व्यंग्य गूढ़ नहीं—सहज ही में समझा जा सकता है। अतः अगूढ़ व्यंग्या है। सिखवत ने अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अगूढ़-गुणीभूत व्यंग्य में यही लक्षणा होती है।

गूढ़ के समान अगूढ़ व्यंग्य भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं बतलाए गए हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लक्षणा का मूल लाक्षणिक शब्द है, अतः लक्षणा, लाक्षणिक शब्द पर ही अवलंबित है।

## पदगत और वाक्यगत लक्षणा

जहाँ एक ही पद लाक्षणिक हो, वहाँ पदगत लक्षणा समझना चाहिए। जैसे पूर्वोक्त 'गंगा पर गाँव' इस उदाहरण में 'गंगा' यह एक ही पद लाक्षणिक है। अतः ऐसे उदाहरण पदगत लक्षणा के होते हैं। और, जहाँ अनेक पदों के समूह से बना हुआ सारा वाक्य लाक्षणिक होता है, वहाँ वाक्यगत लक्षणा कही जाती है, जैसे पूर्वोक्त 'सुजनता भवदीय अपार है' इस उदाहरण में सारा वाक्य लाक्षणिक है।

## धर्मगत और धर्मिगत लक्षणा

यहाँ 'धर्मि' से लक्ष्यार्थ और 'धर्म' से लक्ष्यार्थ का धर्म समझना चाहिए। अर्थात् लक्षणा का प्रयोजन रूप फल जहाँ लक्ष्यार्थ में हो, वहाँ धर्मिगत लक्षणा और जहाँ वह (प्रयोजन) लक्ष्याथ के धर्म में हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है।

धर्मिगत लक्षणा का उदाहरण—

चातक मोरन धुनि बढ़ी, रही घटा भुवि छाय;
सहिहौं सब हौं राम पै वैदेही किमि हाय!

वर्षाकालिक उद्दीपन विभावों को देखकर श्रीजानकीजी के वियोग में किष्किधा-स्थित श्रीरघुनाथजी के वाक्य हैं कि 'यह वर्षाकालिक विरह-ताप मैं तो सब सहन कर सकता हूँ, पर ऐसे समय में वैदेही की क्या दशा होगी ?' यहाँ 'हौं राम' के मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि जब श्रीराम स्वयं वक्ता हैं, तब 'हौं राम' कहा जाना व्यर्थ है। इसका—'मैं वन-वासादि अनेक दुःख सहन करनेवाला कठोर हृदय राम हूँ', यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। और, कठोरता के अतिशय रूप प्रयोजन को सूचन करने के लिये 'हौं राम' पद का प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ इस लक्ष्यार्थ में प्रयोजन होने के कारण यह धर्मिगत लक्षणा है।

और धर्मगत लक्षणा का उदाहरण पूर्वोक्त 'गंगा पर गाँव है।' इसमें गंगा पद का लक्ष्यार्थ 'तट' है, और तट का धर्म

पवित्रता आदि हैं। वहाँ तट के धर्म पवित्रतादि का अतिशय सूचन प्रयोजन है, अतः वहाँ धर्मगत लक्षणा है।

यहाँ तक अभिधा और लक्षणा का निरूपण किया गया। आगे क्रमप्राप्त 'व्यंजना' शक्ति का निरूपण किया जायगा।

# तृतीय स्तवक

## व्यंजक और व्यंग्यार्थ

जिस शब्द का व्यंजना शक्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो, उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। और व्यंजना से प्रतीत होनेवाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि वाचक और लाक्षणिक तो केवल शब्द ही होते हैं, अर्थ नहीं, पर 'व्यंजक' केवल शब्द ही नहीं, किंतु वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य जो तीन प्रकार के अर्थ हैं, वे भी व्यंजक होते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। और वह—व्यंग्यार्थ 'व्यंजना' द्वारा प्रतीत होता है।

## व्यंजना

अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत (शांत) हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के जिस अर्थ की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है, उसे 'व्यंग्य' कहते हैं।

व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा नहीं करा सकतीं, क्योंकि शब्द का, बुद्धि का और क्रिया का एक व्यापार करके विरत ( शांत ) हो जाने पर फिर व्यापार नहीं हो सकता— "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।" अभिप्राय यह कि एक बार उच्चारण किए गए शब्द का एक ही बार अर्थ बोध हो सकता है, अनेक बार नहीं। बुद्धि ( ज्ञान ) उदय होकर एक ही बार प्रकाश करती है, अर्थात् 'घट' आकार से परिणत बुद्धि घट का ही ज्ञान करा सकती है, न कि पट का। तथैव क्रिया भी उत्पन्न होकर एक ही बार अपना कार्य करती है, जैसे बाण एक बार छोड़ा जाने से एक ही बार चलेगा, अनेक बार न जा सकेगा। क्योंकि ये तीनो ही क्षणिक हैं—उत्पन्न होकर अत्यंत अल्प समय ठहरते हैं। इसी न्याय के अनुसार वाच्यार्थ का बोध कराना अभिधा का और लक्ष्यार्थ का बोध कराना लक्षणा का व्यापार है। जब यह अपने-अपने एक-एक व्यापार का अर्थात् अभिधा अपने वाच्यार्थ को और लक्षणा अपने लक्ष्यार्थ को बोध करा देती हैं, फिर उनकी शक्ति क्षीण हो जाने से वे विरत हो जाती हैं—हट जाती हैं, फिर वे किसी अन्य अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं। किंतु ऐसी अवस्था में यदि कहीं वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति होती है, तो वह व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है। क्योंकि जिस प्रकार अभिधा द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध न हो सकने पर लक्ष्यार्थ के लिये लक्षणा-शक्ति का

स्वीकार किया जाना अनिवार्य हुआ, उसी प्रकार अभिधा और लक्षणा जिस अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं, उस अर्थ के लिये किसी तीसरी शक्ति का स्वीकार किया जाना भी अनिवार्य है, और व्यंजना ही ऐसे अर्थ का बोध करा सकती है।

व्यंजना का नामार्थ—अप्रकट वस्तु को प्रकट करनेवाले पदार्थ को अंजन ( नेत्रों में लगाने का सुरमा ) कहा जाता है। अंजन में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यंजन' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है एक विशेष प्रकार का अंजन। साधारण अंजन दृष्टि-मालिन्य को नष्ट करके अप्रकट वस्तु को प्रकट करता है, और यह 'व्यंजन' अभिधा और लक्षणा से अप्रकट अर्थ को प्रकट करता है, अतएव इस शब्द-शक्ति का नाम 'व्यंजना' है।

व्यंजना से जाने हुए अर्थ को व्यंग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ और प्रतीयमान आदि कहते हैं। क्योंकि यह वाच्यार्थ की तरह न तो कथित ही होता है, और न लक्ष्यार्थ की तरह लक्षित ही, किंतु यह व्यंजित, ध्वनित, सूचित, आक्षिप्त और प्रतीत होता है। काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि महत्त्व-पूर्ण पदार्थ है, अतएव उत्तम काव्य वही माना गया है, जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो, जैसा कि पहले कहा गया है।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार ( क्रिया ) केवल शब्दों में ही होता है, किंतु व्यंजना का शब्द और अर्थ दोनो में। व्यनना के निम्न-लिखित भेद होते हैं—

- व्यंजना
  - शाब्दी
    - अभिधा-मूला—जिसके संयोगादि नियंत्रित वाच्या आदि १४ भेद होते हैं—इनकी स्पष्टता आगे की जायगी।
    - लक्षणा-मूला—प्रयोजनवती लक्षणा के काव्य-प्रकाश के अनुसार १२ भेद एवं साहित्य-दर्पण के अनुसार ६४ भेद हैं, जो पहले दिखाए गए हैं, और जिनकी स्पष्टता आगे की जायगी।
  - आर्थी (ये प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की होती हैं— वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्य-संभवा—इस प्रकार कुल ३० भेद होते हैं।)
    - वक्तृ वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - बोधव्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - काकु वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - वाक्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - वाच्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - अन्य सन्निधि वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - प्रस्ताव वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - देश वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - काल वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - चेष्टा वैशिष्ट्यप्रयुक्ता

इस तालिका के अनुसार व्यंजना शाब्दी और आर्थी दो भेदों में विभक्त है। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद हैं—(१) अभिधा-मूला और (२) लक्षणा-मूला।

## अभिधा-मूला व्यंजना

### 'संयोग' आदि से अनेकार्थी शब्दों की वाचकता

का नियंत्रण हो जाने पर जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा-मूला व्यंजना कहते हैं।

जिन शब्दों के एक से अधिक—अनेक—अर्थ होते हैं, वे अनेकार्थी शब्द कहे जाते हैं। अनेकार्थी शब्दों की वाचकता को, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध करानेवाली अभिधा की शक्ति को, 'संयोग' आदि (जिनकी स्पष्टता नीचे की जायगी) एक ही ख़ास अर्थ में नियंत्रित कर देते हैं। अतएव उस ख़ास अर्थ के सिवा अनेकार्थी शब्द के अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। अर्थात् वे अन्य अर्थ अभिधा द्वारा न हो सकने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते। ऐसी अवस्था में अनेकार्थी शब्द के वाच्यार्थ से भिन्न जिस किसी अन्य अर्थ को प्रतीति होती है, वह अभिधा-मूला व्यंजना द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि अभिधा की शक्ति तो 'संयोग' आदि से एक अर्थ बोध कराके रुक जाती है, और पूर्वोक्त मुख्यार्थ के बाध आदि तीन कारणों के समूह के विना लक्षणा उपस्थित नहीं हो सकती। अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही इसे उपस्थित होने का अवसर मिलता है। क्योंकि यह व्यंजना अभिधा के आश्रित है, इसलिये यह अभिधा-मूला कही जाती है।

अनेकार्थी शब्दों के एक मुख्यार्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति को नियंत्रण करनेवाले 'संयोग' आदि जिन

कारणों का ऊपर उल्लेख हुआ है, वे (१) संयोग, (२) वियोग, (३) साहचर्य, (४) विरोध, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिंग, (८) अन्यसन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति और (१४) स्वर आदि हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) संयोग—जैसे 'शंख-चक्र-सहित हरि।' हरि-शब्द के इंद्र, विष्णु, सिंह, वानर, सूर्य और चंद्रमा आदि अनेक अर्थ हैं। किंतु शंख-चक्र का सबंध केवल भगवान् श्रीविष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः यहाँ 'शंख-चक्र' के संयोग ने 'शंख-चक्र-सहित' कहने से 'हरि' शब्द को केवल 'विष्णु' के अर्थ में ही नियंत्रित कर दिया है। यहाँ हरि-शब्द के इंद्र आदि अन्य अर्थ बोध कराने में अभिधा शक्ति 'शंख-चक्र-सहित' कथन से रुक गई है। इसी प्रकार—

पुष्कर सोहत चंद सो वन पलास के फूल।

पुष्कर और वन अनेकार्थी शब्द हैं—पुष्कर का अर्थ आकाश है और तालाब भी। वन का अर्थ जंगल है और जल भी। किंतु यहाँ चंद्रमा के संयोग ने 'पुष्कर' को आकाश के अर्थ में और पलाश के फूल के संयोग ने 'वन' को जंगल के अर्थ में ही नियंत्रित कर दिया है। अतः यहाँ इनका क्रमशः आकाश और जंगल ही अर्थ हो सकता है, दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

(२) वियोग—जैसे 'शंख-चक्र-रहित हरि।' इसमें शंख-

चक्र के वियोग ने 'हरि' शब्द को श्रीविष्णु के अर्थ में नियंत्रित कर दिया है। 'हरि' शब्द का यहाँ विष्णु के सिवा दूसरा अर्थ बोध होने में शंख-चक्र के वियोग ने रुकावट कर दी है। इसी प्रकार—

सोहत नाग न मद विना, तान विना नहिं राग।

'नाग' और 'राग' अनेकार्थी शब्द हैं। नाग का अर्थ हाथी है और सर्प भी। राग का अर्थ अनुराग और रंग है, तथा गाने की रागिनी भी। यहाँ मद के वियोग ने नाग का अर्थ केवल हाथी और तान के वियोग ने राग का अर्थ केवल गाने की रागिनी बोध कराके अन्य अर्थों में रुकावट कर दी है।

( ३ ) साहचर्य—जैसे 'राम लक्ष्मण।' राम और लक्ष्मण दोनो अनेकार्थी हैं। 'राम' का अर्थ दाशरथी श्रीराम, परशुराम और बलराम आदि है, और लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-पुत्र लक्ष्मण, सारस पक्षी और दुर्योधन का पुत्र आदि है। यहाँ लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से—साथ होने से—'राम' शब्द का श्रीदाशरथी राम और राम शब्द के साहचर्य से लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-कुमार लक्ष्मण ही बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में साहचर्य के कारण रुकावट हो जाती है। इसी प्रकार—

विजय तहाँ, वैभव तहाँ, हरि-अर्जुन जिहि ओर।

हरि और अर्जुन दोनो शब्द अनेकार्थी हैं। इनके

परस्पर के साहचर्य से हरि का श्रीकृष्ण और अर्जुन का पांडु-नंदन अर्जुन ही अर्थ हो सकता है। 'संयोग' और साहचर्य में यह भेद है कि जहाँ 'प्रसिद्ध सामान्य-संबंध' शब्द द्वारा कथन हो, वहाँ 'संयोग' होता है, जैसे 'सगाण्डीवोऽर्जुनः' ( गांडीव-सहित अर्जुन )। इसमें 'सहित' शब्द द्वारा प्रसिद्ध संबंध कहा गया है। और जहाँ केवल संबंधियों का कथन-मात्र होता है, वहाँ साहचर्य होता है। जैसे गाण्डीवार्जुनौ' ( गांडीव अर्जुन ) इसमें 'सहित' आदि शब्द के विना संबंधी-मात्र का कथन है।

( ४ ) विरोध—जैसे 'राम-रावण।' राम शब्द अनेकार्थी है, पर वह विरोधी 'रावण' शब्द के समीप होने से यहाँ 'राम' का दशरथ-नंदन राम ही अर्थ हो सकता है। यहाँ साहचर्य नहीं, विरोध ही प्रधान है।

( ५ ) अर्थ—जैसे

'भव-खेद-छेदन के लिये क्यों स्थाणु को भजते नहीं।'

'स्थाणु' का अर्थ श्रीमहादेवजी है, और विना शाखा-पत्रवाले वृक्ष का ठूँठ भी। यहाँ संसार-ताप-नाश करने रूप अर्थ के बल से स्थाणु का अर्थ श्रीमहादेव ही हो सकता है। इसमें चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

( ६ ) प्रकरण—'सैंधव ले आओ।' 'सैंधव' का अर्थ सेंधा नमक और सिंधुदेश में उत्पन्न घोड़ा भी है। यह वाक्य भोजन के प्रकरण में कहा जायगा, तो इसका अर्थ सेंधा नमक

ही होगा, और बाहर जाने के समय कहा जायगा, तो घोड़ा अर्थ होगा। प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके दूसरे अर्थ के बोध कराने में अभिधा रुक जायगी।

( ७ ) लिंग—लिंग का अर्थ यहाँ लक्षण या विशेषता-सूचक चिह्न है। जैसे

'कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही।'

मकरध्वज का अर्थ समुद्र है और कामदेव भी। यहाँ कोप के चिह्न ( लिंग ) से कामदेव का अर्थ ही बोध होता है, क्योंकि समुद्र में वस्तुतः कोप संभव नहीं। इसमें पूर्वोक्त 'संयोग' संबंध के सिवा अन्य संबंध द्वारा संबंध के अनुकूल एक अर्थ ग्रहण किया जाता है।

( ८ ) अन्य सन्निधि—जैसे 'कर सों सोहत नाग।' 'नाग' और 'कर' अनेकार्थी हैं। कर-शब्द की समीपता से नाग का अर्थ हाथी और नाग की समीपता से 'कर' का अर्थ हाथी की सूँड़ ही बोध होता है।

( ९ ) सामर्थ्य—जैसे 'मधुमत्त कोकिल।' 'मधु' शब्द के मदिरा, मकरंद, एक दैत्य, वसंत-ऋतु आदि अनेक अर्थ हैं। किंतु कोकिल को मतवाली बनाने की सामर्थ्य वसंत-ऋतु में ही है, इसलिये 'मधु' का अर्थ यहाँ वसंत ही हो सकता है।

( १० ) औचित्य—जैसे

"रे मन, सबसों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि ;
इहै सिखावन देत है तुलसी निसि-दिन तोहि।"

निरस का अर्थ न्यून और रस-हीन भी है। सरस का अर्थ अधिक और रस-युक्त भी है। यहाँ जगत् से न्यून और राम से अधिक यह अर्थ अनुचित है, इसलिये 'राम के विषय में सरस और जगत् से रस-हीन रहना' औचित्य से बोध होता है। क्योंकि यही अर्थ उचित है।

( ११ ) देश—जैसे

'ज्यों विहरत घनस्याम नभ, त्यों विहरत व्रज राम।'

घन श्याम का अर्थ है श्याम मेघ और श्रीकृष्ण। 'राम' शब्द भी अनेकार्थी है, किंतु 'नभ' और 'व्रज' शब्द देश-वाचक की समीपता से यहाँ घनश्याम का अर्थ मेघ और राम का अर्थ श्रीबलराम ही हो सकता है।

( १२ ) काल—जैसे 'चित्रभानु निसि में लसत।' चित्रभानु का अर्थ सूर्य भी है और अग्नि भी। किंतु रात्रि में अग्नि का ही प्रकाश होता है, न कि सूर्य का, अतः काल-वाचक 'निशि' शब्द ने यहाँ चित्रभानु को अग्नि के अर्थ में ही नियंत्रित कर दिया है।

( १३ ) व्यक्ति—जैसे

"काहे को सोचति सखी! काहे होत बिहाल;
बुधि-छल-बल करि राखिहौं पति तेरी नव-बाल।"

'पति' शब्द अनेकार्थी है। ये परकीया नायिका से दूती के वाक्य हैं—'तेरी पति मैं रख लूँगी।' 'तेरी' स्त्रीलिंग होने से पति का अर्थ यहाँ लज्जा ही हो सकता है, न कि स्वामी। यहाँ 'व्यक्ति' से स्त्रीलिंग, पुंलिंग का तात्पर्य है।

( १४ ) स्वर—आचार्यों का मत है कि स्वर का प्रायः वेद ही में प्रयोग होता है, पर बातचीत में भी स्वर की विलक्षणता से वाक्य का एक खास अर्थ निर्णय किया जा सकता है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन 'संयोग' आदि कारणों से अनेकार्थी शब्दों का एक वाच्य अर्थ ही अभिधा द्वारा बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में अभिधा की शक्ति इनके द्वारा नियंत्रित हो जाती है, अतः अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में अन्य अर्थों के अवाच्य हो जाने पर जब किसी अनेकार्थी शब्द में किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तो अभिधा-मूला व्यंजना द्वारा ही हो सकती है। अभिधा-मूला व्यंजना का उदाहरण—

भद्रात्म है अति विशाल सु-वंश उच्च,
है पास में बहु शिलीमुख भी स-पच्च ;
जो है सदैव परवारण शोभनीय,
दानांबु - सेचनमयी कर है तदीय।

इसमें कवि द्वारा किसी राजा की प्रशंसा की गई है कि जो भद्रात्म=शुद्ध अंतःकरणवाला, विशाल वंश में=उच्च कुल में उत्पन्न है, जिसके समीप स-पक्ष शिलीमुख=पंखदार बाणों का समूह है, जो पर वारण=शत्रुओं को निवारण करनेवाला है, और जिसका कर=हाथ सदा ही दान देने को लिए हुए जल से शोभित रहता है। यह वाच्यार्थ है, क्योंकि कवि द्वारा राजा की प्रशंसा किए जाने का प्रकरण था। इस प्राकरणिक

वाच्यार्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति पूर्वोक्त संयोग आदि कारणों में कथित 'प्रकरण' के द्वारा रुक जाती है। प्रकरणगत राजा को प्रशंसा के सिवा दूसरा अर्थ अभिधा द्वारा बोध नहीं हो सकता। किंतु इस पद्य में 'भद्रात्म' आदि बहुत-से ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जो अनेकार्थी हैं, अतः इस वर्णन में एक दूसरा अर्थ—हाथी के वर्णन का भी—यह प्रतीत होता है कि जो परवारण=श्रेष्ठ हाथी, भद्रात्म=भद्र जाति का, विशालवंश=बड़े बाँस के समान ऊँचा अथवा जिसकी पीठ का बाँस ऊँचा है, और जिसके पास शिली-मुख=भौंरों के समूह रहते हैं, क्योंकि उसकी दानांबु-सेचन-मयी कर है=सूँड़ मद के चूने से सदैव शोभित रहती है। यह दूसरा अर्थ, जो हाथी के वर्णन का है, वाच्यार्थ नहीं, क्योंकि वाच्यार्थ तो उसे ही कहा जायगा, जो अभिधा शक्ति द्वारा बोध हो (जैसा कि वाच्यार्थ की स्पष्टता में पहले कहा गया है), किंतु अभिधा की शक्ति तो प्रकरण के कारण यहाँ राजा के वर्णन का एक अर्थ बोध कराके रुक जाती है—प्रकरण ने अभिधा की शक्ति को दूसरा अर्थ बोध कराने से रोक दिया है। और न यह लक्ष्यार्थ ही है, क्योंकि लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ तो वहीं ग्रहण किया जाता है, जहाँ वाच्यार्थ का बाध होता है, किंतु यहाँ राजा के वर्णन के अर्थ का बाध नहीं। अतः स्पष्ट है कि ऊपर जो हाथी के वर्णनवाला अर्थ है, वह न तो वाच्यार्थ ही है और न लक्ष्यार्थ ही, किंतु उन दोनो से भिन्न है—व्यंग्यार्थ है, जो

अभिधा-मूला व्यंजना का व्यापार है। इस व्यंग्यार्थ को यहाँ अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही उपस्थित होने का अवसर मिला है। 'भद्रात्म' के स्थान पर 'कल्याणात्मक' और 'शिली-मुख' आदि के स्थान पर 'बाण' आदि पर्याय शब्द बदल देने पर हाथी के वर्णनवाले व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, इसलिये यह व्यंजना शब्द के आश्रित होने से शाब्दी है।

इस प्रसंग में एक महत्त्व-पूर्ण बात यह भी उल्लेखनीय है कि अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग में 'श्लेष' अलंकार भी होता है। श्लेष में जो शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं, वे सब वाच्यार्थ ही होते हैं, क्योंकि वे सभी अर्थ प्रकरणगत होते हैं। जिस प्रकार अभिधा-मूला व्यंजना का व्यंग्यार्थ, (अनेकार्थी शब्द का वाच्यार्थ अभिधा द्वारा बोध हो जाने पर) अभिधा की शक्ति के रुक जाने पर, होता है, उस प्रकार श्लेष में अभिधा की शक्ति रुक जाने पर दूसरा अर्थ नहीं होता, किंतु अभिधा शक्ति द्वारा ही सभी अर्थ एक साथ बोध होते हैं। इसके सिवा श्लिष्ट रूपक अलंकार में भी अनेकार्थी शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं, पर वहाँ विशेष्य-वाचक पद अनेकार्थी नहीं होता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। किंतु व्यंजना में विशेष्य-वाचक और विशेषण-वाचक सभी शब्द अनेकार्थी होते हैं। इनमें यही भेद है, अधिक स्पष्टीकरण आगे अलंकार-प्रकरण में किया जायगा।

## लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना

जिस प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की प्रतीति करानेवाली शक्ति को लक्षणा-मूला व्यंजना कहते हैं।

लक्षणा प्रकरण में कह चुके हैं कि प्रयोजनवती लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है, वह व्यंग्यार्थ है। उस व्यंग्यार्थ का ज्ञान करानेवाली लक्षणा-मूला व्यंजना ही है, न कि अभिधा और लक्षणा। जैसे 'गंगा पर गाँव' इस लक्षणा के उदाहरण में लाक्षणिक 'गंगा' शब्द का प्रयोग तट में पवित्रता आदि धर्म सूचित करने के प्रयोजन से किया गया है। इस प्रयोजन का अर्थात् तट में पवित्रतादि धर्मों का सूचन न तो अभिधा ही करा सकती है, क्योंकि अभिधा तो गंगा शब्द का संकेतित वाच्यार्थ जो प्रवाह (धारा) है, उसी का बोध करा सकती है, और न लक्षणा ही, क्योंकि जहाँ मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध और प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं, वहीं लक्षणा हो सकती है। 'तट' गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ है, न कि मुख्यार्थ; यहाँ लक्ष्यार्थ तट का बाध नहीं है, क्योंकि तट पर गाँव का होना असंभव नहीं। और न तट का पवित्रतादि धर्मों से संबंध ही

है, क्योंकि पवित्रतादि धर्म गंगा के प्रवाह के हैं न कि तट के। और न पवित्रतादि धर्मों का (जो स्वयं प्रयोजन हैं) बोध होने में कोई दूसरा प्रयोजन ही है, अर्थात् पवित्रतादि धर्म तट में सूचन करने के प्रयोजन के लिये तो लाक्षणिक गंगा शब्द का प्रयोग ही किया गया है, फिर प्रयोजन में दूसरा प्रयोजन क्या हो सकता है? यदि एक प्रयोजन में दूसरा, दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा प्रयोजन स्वीकार किया जाय, तो इस प्रयोजन-शृंखला का तो कहीं अंत ही न हो सकेगा, फलतः अनवस्था[१] के कारण मूलभूत प्रयोजन भी—जिसके लिये लक्षणा की जाती है—निर्मूल हो जायगा। कहा है—

> यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ;
> फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।
> नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।
> (काव्य-प्रकाश २। १४-१५)

निष्कर्ष यह है कि लक्षणा में जो प्रयोजन अर्थात् व्यंग्यार्थ होता है, उसे अभिधा और लक्षणा दोनो ही प्रतीत नहीं करा सकतीं—केवल लक्षणा-मूला व्यंजना द्वारा ही वह प्रतीत हो सकता है।

उपर्युक्त दोनो अभिधा-मूला और लक्षणा-मूला व्यंजना

---

१ अनवस्था झूठे तर्क को कहते हैं, जो अप्रामाणिक, अंत-रहित प्रवाह-मूलक है, कहा है—'मूलक्षयकरीं चाहुरनवस्था च दूषणम्'।

शाब्दी इसलिये हैं कि ये शब्द पर अवलंबित हैं—अभिधा-मूला तो अनेकार्थी शब्दों पर निर्भर है, और लक्षणा-मूला लाक्षणिक शब्दों पर।

## आर्थी व्यंजना

(१) वक्तृ, (२) बोधव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश और (९) काल आदि के वैशिष्ट्य (विशेषता या विलक्षणता) से जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह आर्थी व्यंजना कही जाती है।

(१) वक्तृ वैशिष्ट्य—वाक्य के कहनेवाले को वक्तृ कहते हैं। वक्ता स्वयं कवि होता है या कवि-निबद्ध पात्र अर्थात् कवि द्वारा कल्पित व्यक्ति। वक्ता की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित होता है, उसे वक्तृवैशिष्ट्य कहते हैं।

उदाहरण—

"प्रीतम की यह रीति सखि, मोपै कही न जाय ;
झिझकत हू ढिग ही रहत, पल न वियोग सुहाय।"

यहाँ कवि-कल्पित नायिका वक्ता है। उसकी इस उक्ति के वैशिष्ट्य से यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'मैं अत्यंत रूपवती हूँ, मेरा पति मुझ पर अत्यंत आसक्त है।' यह आर्थी व्यंजना इसलिये है कि यहाँ 'झिझकत' के स्थान पर 'अनादर' आदि

और 'ढिग' के स्थान पर 'समीप' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द बदल देने पर भी उक्त व्यंग्यार्थ प्रतीत होता रहता है, अर्थात् यहाँ व्यंग्यार्थ शाब्दी व्यंजना की तरह शब्दों पर अवलंबित नहीं, किंतु अर्थ के आश्रित है। आर्थी व्यंजना के सभी उदाहरणों में भी शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती रहती है।

इसी प्रकार—

"मनरंजन अंजन कै तन में अँगराग रचैं रति रंगन में;
गृह के सिगरे नित काज करैं गुरु लोगन के सतसंगन में।
कहिए कहि कौन सों कौन सुनैं सु सहैं बनैं प्रेम-प्रसंगन में;
धनि वे, धनि हैं तिनके लहने, पहिरैं गहने नित अंगन में।"

यहाँ भी प्रेम-गर्विता रूपवती नायिका वक्ता है। इसमें 'मेरा पति मुझे कहीं भी बाहर नहीं जाने देता' यह जो व्यंग्य है, वह वक्ता की उक्ति-वैशिष्ट्य से सूचित होता है।

( २ ) बोधव्य वैशिष्ट्य—श्रोता को बोधव्य कहते हैं। जहाँ वाक्य को सुननेवाले की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचन हो।

उदाहरण—

कुच के तट चंदन छूट्यो सबै, अधरानहु पै न रही अरुनाई;
दृग-कंजन कोर निरंजन भे तनु अंगन में पुलकावलि छाई।
नहिं जानत पीर हितून की तू, अरी! बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई;
इतसों गई न्हाइबे वापी ही तू न गई तिहिं पापी के पास वहाँई!

अपने नायक को बुलाने को भेजी हुई, किंतु वहाँ जाकर

उसके साथ रमण करके लौटी हुई, पर अपने को वापी (तालाब) पर स्नान करके आई हुई बतलानेवाली दूती से यह अन्यसंभोगदुःखिता नायिका की उक्ति है। यहाँ दूती बोधव्य (सुननेवाली) है। नायिका के इन वाक्यों से 'तू वापी स्नान करने को कब गई थी? तुझे तो नायक के पास बुलाने को भेजा था, और तू उसके साथ रमण करके आइ है[१]!' जो व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वह तभी सूचित हो सकता है, जब तादृश दूती—श्रोता—के प्रति ये वाक्य कहे जायँ। यदि इस प्रकार की दूती के अतिरिक्त दूसरे किसी को कहे जायँ, तो उक्त व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। इसलिये बोधव्य की विशेषता से ही इसमें व्यंग्यार्थ है।

और भी—

---

१ इस पद्य में स्नान के कथन की पुष्टि करने के लिये जो वाक्य नायिका के हैं, उनमें रति-चिह्न-सूचक व्यंग्यार्थ हैं। जैसे 'कुचों के तट का चंदन छुट गया' कहने में व्यंग्य यह है कि स्नान करने से केवल ऊपरी भाग का चंदन ही छुटता है, न कि संधि-भाग का। संधि-भाग का चंदन मर्दनाधिक्य से ही छुट सकता है। अधर की अरुणता छुट जाने में व्यंग्य यह है कि स्नान से ऊपर के होठ का भी रंग धुले विना नहीं रह सकता, काम-शास्त्र में नीचे के अधर के चुंबन का ही विधान है। नेत्रों के प्रांत भाग का अंजन भी चुंबनाधिक्य से ही छुटता है, न कि स्नान-मात्र से। रोमांच का होना स्नान और रति दोनो में समान है।

"धाम घरीक निवारिए कलित ललित अलि-पुंज;
जमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज।"

स्वयंदूतिका नायिका के इस वाक्य में संकेत-स्थान का सूचित किया जाना व्यंग्यार्थ है। यहाँ नायक बोधव्य होने से ही व्यंग्यार्थ प्रतीत हो सकता है।

(३) काकु-वैशिष्ट्य—एक विशेष प्रकार की कंठ-ध्वनि से कहे हुए वाक्य को 'काकु' कहते हैं—'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।' जहाँ केवल काकु उक्ति से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ तो गुणीभूत व्यंग्य ही रहता है, और जहाँ काकु उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत हो, वहाँ काकु-वैशिष्ट्य होता है।

उदाहरण—

"कितो न गोकुल कुल-वधू? काहि न किहिं सिख दीन?
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन?"

मुरली की ध्वनि सुनकर विवश हो श्रीनंदनंदन के समीप जाने को उद्यत किसी गोपी की अपनी उस सखी के प्रति यह उक्ति है, जो उसे वहाँ न जाने की शिक्षा दे रही थी। इसमें तीन काकु उक्ति है—(१) 'कितो न गोकुल कुल-वधू'—गोकुल में कितनी कुलांगनाएँ नहीं हैं? (इस काकु उक्ति से यह अर्थ खिंचकर आता है कि प्रायः सभी कुल-वधू ही तो हैं।) (२) 'काहि न किहिं सिख दीन'—किसको किसने शिक्षा नहीं दी? (सभी को सब ऐसी शिक्षाएँ देती रहती हैं।) (३) 'कौने

तजी न कुल-गली'—पर यह बता कि वंशी की मनोहर ध्वनि को सुनकर किसने कुल की मर्यादा नहीं छोड़ी? (सभी ने तो छोड़ दी है।) यहाँ इन काकु उक्तियों के आगे कोष्ठक में जो वाक्य लिखे गए हैं, वे काकु उक्ति के व्यंग्य अर्थ हैं, उन्हीं में इन काकु उक्तियों के प्रश्नों का उत्तर हो जाता है, काकु उक्ति द्वारा इससे अधिक कुछ व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता। किंतु निम्न-लिखित जो व्यंग्यार्थ इस उक्ति में प्रतीत होता है, वह काकु वैशिष्ट्य द्वारा ही है। "तू जो अब मुझे उपदेश दे रही है, क्या कभी मुरलीमनोहर की मुरली की चेतोहारी ध्वनि सुनकर और मेरे-जैसी दशा को प्राप्त होकर तथा उस अवसर पर तुझे भी ऐसी शिक्षा मिलने पर क्या तू श्रीनंदकुमार के समीप न पहुँची थी? फिर मुझे यह झूठा उपदेश क्यों सुना रही है? सच है, उपदेश दूसरों को ही देने के लिये हुआ करते हैं।" यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है, और यही व्यंग्यार्थ प्रधान है। यह काकु उक्ति द्वारा आक्षिप्त नहीं होता—काकु उक्ति तो केवल सहायक मात्र है। अतः यहाँ काकु-वैशिष्ट्य है। गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद 'काकाक्षिप्त व्यंग्य' है। उसमें भी काकु उक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ होता है, पर इसमें और उसमें यह भेद है कि वहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं, किंतु गौण होता है। वह काकाक्षिप्त-मात्र है—काकु उक्ति के साथ तत्काल ही खिंचकर सूचित हो जाता है, जैसा कि ऊपर को तीनो काकु उक्तियों के आगे कोष्ठक में दिखाए हुए वाक्यों के

व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रश्न के साथ ही तत्काल प्रतीत हो जाते हैं।

(४) वाक्य-वैशिष्ट्य—सारे वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का प्रतीत होना।

उदाहरण—

सम कपोल तजि अनत तव दृग न कियो कित गौन ?
मैं हूँ वही, कपोल वह, अब वह पिय ! न चितौन !

ये अपने प्रच्छन्न कामुक नायक को नायिका के वाक्य हैं। 'तव अर्थात् जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिबिंब मेरी कपोलस्थली पर पड़ रहा था, मेरे कपोलों को छोड़कर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कहीं भी नहीं जाती थी, किंतु अब, जब कि वह आपकी प्रेमिका यहाँ से चली गई है, और उसका प्रतिबिंब मेरी कपोलस्थली पर नहीं रहा, यद्यपि मैं वही हूँ, और मेरे कपोल भी वही हैं, पर आपकी दृष्टि वह नहीं—मेरे कपोल पर नहीं आती।' इस सारे वाक्य की विशेषता से यह व्यंग्य सूचन होता है कि 'आपका प्रेम मुझ पर नहीं, उसी युवती पर है, जो अभी यहाँ बैठी हुई थी', इसलिये यहाँ वाक्य-वैशिष्ट्य है।

(५) वाच्य-वैशिष्ट्य—उत्कृष्ट विशेषणोंवाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

उदाहरण—

घन रंभन थंभन पीलन सों रु कदंबन सों सरसावनो है;
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-गुंजन सों मनभावनो है।

मलयानिल सीतल मंद वहै, हिय काम-उमंग बढ़ावनो है;
अवलोकु प्रिये ! जमुना-तट कों सहजैं यह कैसो लुभावनो है।

यहाँ श्रेणी-बद्ध सघन कदली और कदंब-वृक्ष, लता-कुंजों में भ्रमरों का गुंजार और मलय-मारुत आदि कामोद्दीपक विशेषणोंवाले वाक्यार्थ की विशेषता द्वारा रमणोत्सुक नायक की नायिका के प्रति रति-प्रार्थना-रूप व्यंग्यार्थ का सूचन होता है।

( ६ ) अन्य सन्निधि—वक्ता और संबोध्य ( जिसको कहा जाय ) के अतिरिक्त तीसरे पुरुष की समीपता के कारण व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

उदाहरण—

सौंप्यौ सब गृह-काज मुहि अहो निरदई सास !
साँझ समय हू छिनक अलि ! हो न होय अवकास।

अपने प्रेम-पात्र को सुनाकर अपने समीप बैठी हुई सखी के प्रति यह परकीया नायिका की उक्ति है। यहाँ वक्ता नायिका है और संबोध्य उसकी सखी, क्योंकि सखी के प्रति ही उसने यह वाक्य कहा है। यहाँ तीसरे व्यक्ति को—अपने प्रेम-पात्र को—यह वाक्य सुनाकर उससे संध्या समय में मिलने का व्यंग्यार्थ में सूचन किया गया है।

( ७ ) प्रकरण-वैशिष्ट्य—विशेष प्रकरण होने के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ का सूचित होना। उदाहरण—

सुनियत तव पिय आत है साँझ समय सखि आज;
करत न क्यों उपकरन तू, क्यों बैठी बेकाज ?

यह उप-नायक के समीप अभिसार को जाने के लिये उद्यत नायिका के प्रति उसकी अंतरंग सखी की उक्ति है। यहाँ अभिसार को रोकना व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्य अभिसार को जाने का प्रकरण होने से ही सूचित हो सकता है।

( ८ ) देश-वैशिष्ट्य—स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचित होना। जैसे—

चित्रकूट-गिरि है वही, जहँ सिय लछमन साथ—
पास सरित मंदाकिनी वास कियो रघुनाथ।

यहाँ श्रीरघुनाथजी के निवास के कारण चित्रकूट के स्थल की विशेषता से उसकी परम पावनता व्यंग्यार्थ में सूचन होती है। और भी—

"बेलिन सो लपटाय रही हैं तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल, केकी, कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनँद भारी।
सोच करौ जिन, होहु सुखी, मतिराम प्रबीन सबै नर-नारी;
मंजुल वंजुल कुंजन में घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी।"

अनुशयाना नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में जो वंजुल कुंज आदि का होना कहा गया है, उसके द्वारा नायिका को उसकी ससुरार में सहेट स्थान का सूचन किया गया है।

( ९ ) काल-वैशिष्ट्य—समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का सूचित होना। उदाहरण—

गुरु जन परवस पीय! तुम गमन करत मधुकाल;
हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनि हो सब मो हाल।

यहाँ वसंत-काल के कारण यह व्यंग्यार्थ सूचन होता है कि 'वसंत का समय घर पर आने का है, न कि विदेश गमन का। आप भले ही जाइए, पर मेरी दशा आप वहीं यह सुनेंगे कि वह जीती नहीं है।'

( १० ) चेष्टा-वैशिष्ट्य—चेष्टा द्वारा व्यंग्यार्थ का सूचित होना। जैसे—

"न्हाय पहरि पट उठि कियो बेंदी मिस परनाम ;
दृग चलाय घर को चली, बिदा किए घनस्याम।"

कोई गोपांगना यमुना-तट पर स्नान कर रही थी, वहाँ श्रीनंदनंदन को आए देखकर नेत्रों की चेष्टा से उसने संकेत-स्थल पर अपना आना सूचन किया है।

ये सब उदाहरण एक-एक वैशिष्ट्य के हैं। कहीं वक्तृ, बोधव्य आदि अनेक वैशिष्ट्य एक ही पद्य में एकत्रित हो जाते हैं। जैसे—

यह काल रसाल वसंत अहो! कुसुमायुध बान चलावतु री ;
फिर धीर-समीर सुगंधित ये तरुनीन अधीर बनावतु री।
बन मंजुल वंजुल कुंजवनी सजनी ये घनी ललचावतु री ;
नहि पास पिया, करिए जु कहा? अब तू ही तो क्यों न बतावतु री?

अंतरंग सखी के प्रति यह नायिका की उक्ति है। वसंत के कथन से काल-वैशिष्ट्य और वंजुल-कुंज के कथन से देश-वैशिष्ट्य है। नायिका वक्ता है, अतः वक्तृ-वैशिष्ट्य है। संपूर्ण वाक्यार्थ में सखी को प्रच्छन्न कामुक के बुलाने के लिये

कहा जाना वाक्य-वैशिष्टच भी है। इसमें वक्तृ आदि वैशिष्टच से पृथक्-पृथक् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। कहीं अनेक वैशिष्टचों के संयोग से एक ही व्यंग्यार्थ सूचित होता है। जैसे—

हौं इत सोवतु, सास उत, लखि किन लै दिन माय;
अरे पथिक! निसि-अंध तू गिरियो जिन कहुँ आय।

यह कामुक पथिक के प्रति स्वयंदूतिका नायिका की उक्ति है। 'मैं यहाँ सोती हूँ, और मेरी सास वहाँ। तू दिन में यह स्थान देख ले। तुझे रतौंध आती है। रात में कहीं हम लोगों के ऊपर आकर न गिर जाना।' इस उक्ति में वक्ता नायिका और बोधव्य पथिक दोनो के वैशिष्टच से नायिका द्वारा अपना शयन-स्थल सूचन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार दो से अधिक वैशिष्टच के मिलने पर भी व्यंजना होती है।

आर्थी व्यंजना का व्यंग्यार्थ कवि के इच्छानुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनो अर्थों में हो सकता है, अतः उपर्युक्त वक्तृ आदि वैशिष्टचों द्वारा होनेवाली व्यंजना तीन प्रकार की होती है—वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्य संभवा। इनके उदाहरण देखिए—

वाच्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

गृह-उपकरन जु आज कछु तू न बतावति मातु,
कहहु कहा करतव्य अब घोस चल्यो यह जातु।

उप-नायक से मिलने को उत्सुक तरुणी का अपनी माता के

प्रति यह वाक्य है—'अरी अम्मा! गृह-उपकरण—ईंधन, शाक आदि—आज तू घर में नहीं बतलाती है, क्या कुछ बाजार से लाना है? दिन छिपना चाहता है।' इस वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से 'उस तरुणी की अपने प्रेम-पात्र के समीप जाने की इच्छा' व्यंग्यार्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का व्यंजक है।

लक्ष्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

तन स्वेद कढ्यो, अति स्वास बढ्यो छिन-ही-छिन आइबे-जाइबे में;
अरी मो हित तू बहु खिन्न भई, पिय मेरे को एतो मनाइबे में।
कछु दोस न हौं सिर तेरे मढ़ौं, अब का बनी बात बनाइबे में;
सब तेरे ही जोग कियो सखि, तू त्रुटि राखी न नेह निभाइबे में।

अपने नायक को बुलाने को भेजी हुई, पर उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति अन्यसंभोग-दुःखिता नायिका की यह उक्ति है। वाच्यार्थ में दूती के कार्य की प्रशंसा है। पर जिस दूती के अंगों में थकावट आदि रति-चिह्न देखकर यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है, उसको नायिका द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कहना असंभव है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। उक्त वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का लक्ष्यार्थ विपरीत लक्षणा से यह ग्रहण किया जाता है कि 'तूने उचित कार्य नहीं किया। मेरे प्रियतम के साथ रमण करके विश्वासघात किया है। तूने मेरे साथ स्नेह नहीं, किंतु शत्रुता की है।' इस लक्ष्यार्थ द्वारा बोधव्य (दूती)

के वैशिष्ट्य से उस दूती का अपराध-प्रकाशन-रूप व्यंग्यार्थ जो प्रतीत होता है, वह तो लक्षणा का प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसके सिवा नायिका के इस वाक्य में अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचन-रूप व्यंग्यार्थ है, वह इस लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित होता है। अतः लक्ष्यसंभवा व्यंजना है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है, वहाँ लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना भी उसके अंतर्गत लगी रहती है, क्योंकि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन-रूप होता है, वह लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना का विषय है, और दूसरा व्यंग्यार्थ जो लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है, वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना का विषय है। जैसे ऊपर के इस उदाहरण में दूती के विषय में विश्वासघात सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन-रूप है, लक्षणा-मूला व्यंजना का विषय है। और अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना का विषय है। इसके द्वारा शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना का विषय विभाजन भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

व्यंग्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

नलिनी-दल पै देखु यह लसत अचल बक पाँति;
मरकत-भाजन माँहि ज्यों संख-सीप विलसाति।

नायक के प्रति किसी युवती की उक्ति है—'देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठी हुई वक-पंक्ति बड़ी सुंदर लगती है, जैसे

नीलमणि के पात्र में स्थित शंख की सीप ( शंख के आकार की बनी कटोरी ), इस वाच्यार्थ में बकों की निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ है । और इस निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ द्वारा उस स्थान का एकांत होना सूचित होने के कारण रति-प्रार्थना-सूचक दूसरा व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, अर्थात् एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यंजक है, अतः व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना है। पहले व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली वाच्यसंभवा और दूसरे व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली व्यंग्यसंभवा है।

उक्त तीनों ही प्रकार की व्यंजनाओं के पूर्वोक्त 'वक्तृ', 'बोधव्य' आदि वैशिष्ट्यों से अनेक भेद होते हैं। उनकी वाच्य-संभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, लक्ष्यसंभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, व्यंग्यसंभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता इत्यादि संज्ञा होती हैं, जैसा कि पहले व्यंजना की तालिका में बतलाया गया है।

## शाब्दी और आर्थी व्यंजना का विषय-विभाजन

उपर्युक्त शाब्दी और आर्थी व्यंजना के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य तो शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अर्थात् शब्द और अर्थ परस्पर में अन्योन्याश्रित हैं, फिर शाब्दी और आर्थी इस प्रकार व्यंजना के दो भेद बतलाकर शब्द और अर्थ का विषय-विभाग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि काव्य अवश्य ही शब्दार्थ उभयात्मक है,

और व्यंजना व्यापार में भी एक के कार्य में दूसरे की सहकारिता अवश्य रहती है—शाब्दी व्यंजना में अर्थ की और आर्थी व्यंजना में शब्द की सहायता रहती है। अर्थात् केवल शब्द या केवल अर्थ द्वारा व्यंजन व्यापार नहीं हो सकता। पर बात यह है कि जहाँ शब्द की प्रधानता होती है, वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है, वहाँ आर्थी व्यंजना मानी गई है। शाब्दी में शब्द की प्रधानता और आर्थी में अर्थ की प्रधानता किस प्रकार है, इसकी स्पष्टता पहले की जा चुकी है।। जिसकी जहाँ प्रधानता होती है, उसको उसी नाम से कहा जाता है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।'

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तियों के सिवा एक वृत्ति 'तात्पर्याख्या' भी होती है। यद्यपि यह सर्वमान्य नहीं, किंतु साहित्याचार्य श्रीमम्मट आदि ने इसको स्वीकार किया है।

## तात्पर्याख्या वृत्ति

वाक्य के पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय अर्थात् एक पद के अर्थ का दूसरे पद के अर्थ के साथ संबंध का बोध करानेवाली शक्ति को तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं।

इस वृत्ति को समझने के लिये पद और वाक्य किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है।

पद उस वर्ण-समूह को कहते हैं, जो प्रयोग करने के योग्य, अनन्वित अर्थात् किसी दूसरे पद के अर्थ से असंबद्ध (न जुटा हुआ), एक और अर्थबोधक हो। जैसे 'घट' यह दो वर्णों का समूह 'पद' है। व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण इसका प्रयोग हो सकता है। यह किसी दूसरे पद के अर्थ से जुटा हुआ भी नहीं है, और एक है, तथा घट अर्थ का बोधक भी है। 'पद' को अनन्वित इसलिये कहा गया है कि यह वाक्य की तरह दूसरे पद के अर्थ से जुड़ा हुआ नहीं होता, और 'एक' इसलिये कहा गया है कि 'पद' आकांक्षा-रहित होता है—वाक्य की तरह दूसरे पदों की आकांक्षावाला नहीं होता[1]। अर्थ-बोधक कहने का तात्पर्य यह है कि क, च, ट, प, इत्यादि निरर्थक वर्ण-प्रयोग के योग्य होने पर भी पद नहीं कहे जाते, जिसका अर्थ हो सके, वही 'पद' कहा जाता है। यदि सार्थक हो, तो एक वर्ण भी पद कहा जा सकता है।

---

१ श्रीनागेश भट्ट ने कहा है—'वाक्यसमयग्राहिका आकांक्षा। सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वयार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा अस्य अन्वयी कोऽर्थ इत्येवं रूपा पुरुषनिष्ठैव तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः। अयमर्थोऽर्थान्तरमाकांक्षत इति व्यवहारात्' (परमालघुमंजूषा पृ० १२)

वाक्य उस पद-समूह को कहते हैं, जो योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त हो।

योग्यता—एक पद के अर्थ का अन्य पदों के अर्थों के साथ संबंध करने में बाध न होना। जैसे 'पानी से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता है, किंतु 'अग्नि से सींचता है' इसमें योग्यता नहीं, क्योंकि अग्नि जलाने का साधन है, न कि सींचने का। अतः अग्नि का 'सींचने' पद के अर्थ के साथ संबंध विपरीत होने से बाधित है। जहाँ ऐसा 'बाध' न हो, वह योग्यता है।

आकांक्षा—किसी ज्ञान की समाप्ति ( पूर्ति ) का न होना अर्थात् वाक्यार्थ को पूरा करने के लिये किसी दूसरे पद की जिज्ञासा का रहना आकांक्षा है। जैसे 'देवदत्त घर को' इतना कहने पर 'जा रहा है' इत्यादि क्रिया की जिज्ञासा रहती है। क्योंकि 'जा रहा है' कहे विना वाक्यार्थ के ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। अतः गाय, घोड़ा, पुरुष इत्यादि निराकांक्ष ( एक पद दूसरे पद से संबंध न रखनेवाला ) पद-समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे निराकांक्ष स्वतंत्र पद हैं—निराकांक्ष तो पद होता है, न कि वाक्य।

सन्निधि—एक पद का उच्चारण करने के बाद दूसरे पद के उच्चारण में विलंब न होना अर्थात् जिस पद के अर्थ की जिस पद के साथ संबंध की अपेक्षा हो, उसके बीच में व्यवधान न होना सन्निधि है। व्यवधान दो प्रकार का हुआ करता

है—काल द्वारा और अनुपयुक्त शब्द द्वारा। एक पद के कहने के बाद दूसरे पद के कहे जाने में अधिक समय होना काल द्वारा व्यवधान है। जैसे 'रामगोपाल' यह तो आज कहा जाय और 'जा रहा है' यह दूसरे दिन या घंटे-दो घंटे बाद कहा जाय, तो विलंब हो जाने से किसी को 'रामगोपाल' और 'जा रहा है' इन पदार्थों का संबंध मालूम न होगा। और अनुपयुक्त पद द्वारा व्यवधान वह है, जब प्रकरणोपयोगी पदों के बीच में प्रयोग के अयोग्य पद आ जाय। जैसे 'पर्वत भोजन किया ऊँचा है देवदत्त ने' इसमें दो वाक्य हैं—'पर्वत ऊँचा है' और 'देवदत्त ने भोजन किया'। पर्वत का संबंध 'ऊँचा है' के साथ है, पर बीच में 'भोजन किया' यह पद अनुपयुक्त आ पड़ा है, और 'देवदत्त ने' के पहले 'ऊँचा है' पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। इस व्यवधान से सन्निधि के न रहने से इन पदों का संबंध ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिये वाक्य वही कहा जा सकता है, जिसके बीच में व्यवधान न हो।

निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' में योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है। वाक्य में जो एक-एक पद स्वतंत्र होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराके अर्थात् संबंध-रहित पदों का अर्थ बतलाना अभिधा का कार्य है। फिर उन बिखरे हुए पदों के अर्थों को परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोड़कर जो वाक्य के अर्थ का बोध कराती है, वह तात्पर्याख्या वृत्ति

है। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है, और उसका बोधक वाक्य होता है।

इस वृत्ति का स्थान अभिधा के बाद दूसरा है, किंतु जहाँ अभिधा के वाच्यार्थ के तात्पर्य का बाध होने पर लक्षणा की जाती है, वहाँ अभिधा के बाद लक्षणा और लक्षणा के बाद तात्पर्याख्या वृत्ति आती है।

# चतुर्थ स्तवक

## ध्वनि

**जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे ध्वनि कहते हैं।**

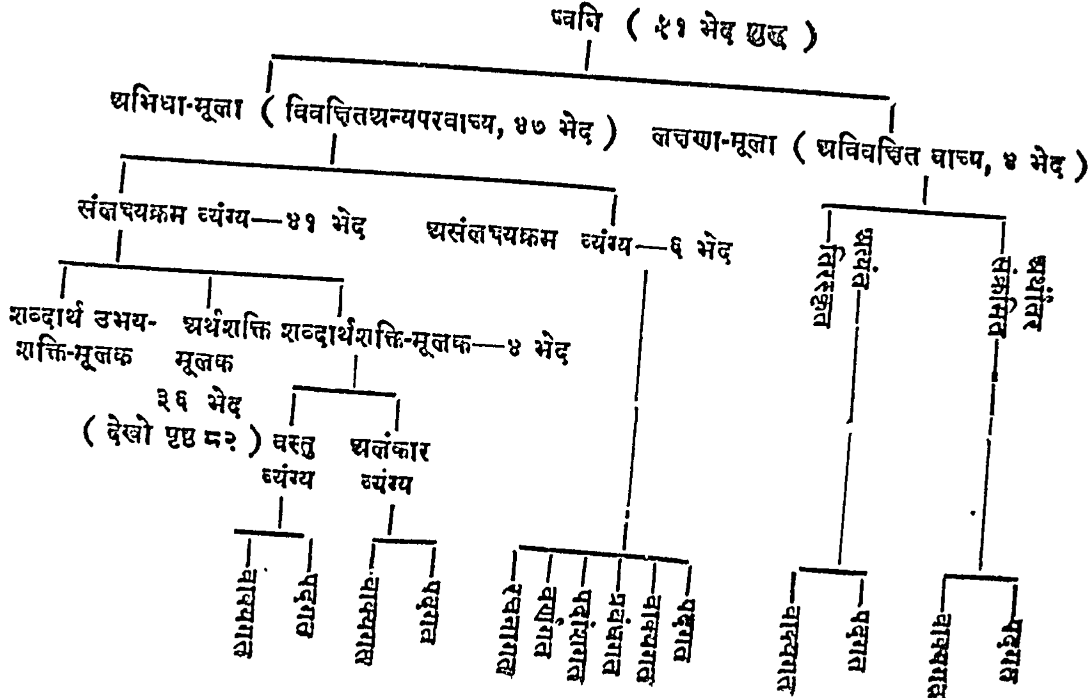
ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। प्रधान का अर्थ है अधिक चमत्कारक होना। ध्वनिकार ने कहा है—

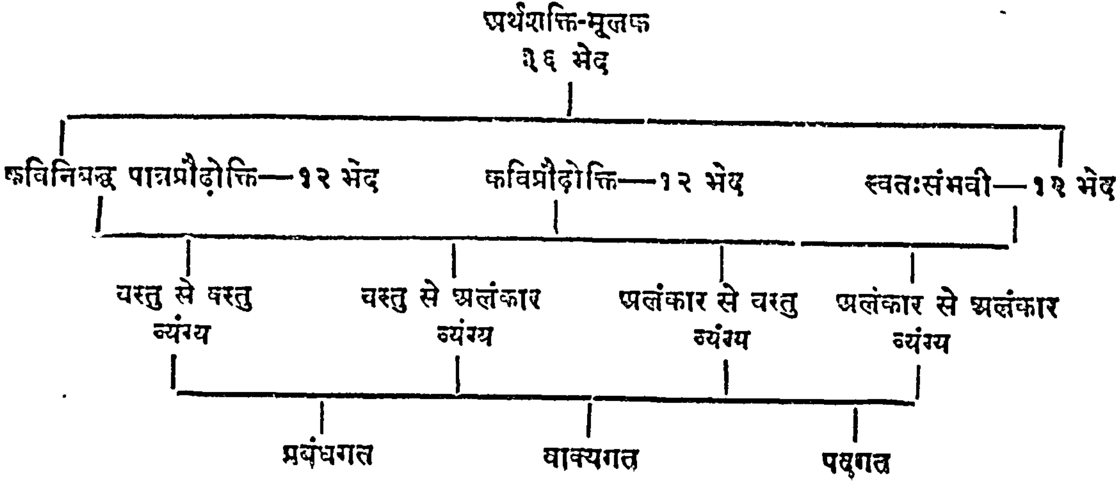
'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्य विवक्षा'।

अर्थात् चमत्कार के उत्कर्ष पर ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता निर्भर है—जहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता और जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता समझी जाती है।

वाच्यार्थ का तो शब्द द्वारा कथन किया जाता है, किंतु व्यंग्यार्थ का शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता—व्यंग्यार्थ की तो ध्वनि ही निकलती है। जैसे घड़ावल (झालर) पर चोट लगाने पर पहले टंकार होता है, फिर उसमें से मीठी-मीठी झंकार—ध्वनि—निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को झंकार समझना चाहिए।

ध्वनि के भेद नीचे की तालिका के अनुसार होते हैं—


ध्वनि ( ५१ भेद शुद्ध )
अभिधा-मूला ( विवक्षितअन्यपरवाच्य, ४७ भेद )
लक्षणा-मूला ( अविवक्षित वाच्य, ४ भेद )
संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—४१ भेद
असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य—६ भेद
शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक
अर्थशक्ति मूलक
२६ भेद
( देखो पृष्ठ ८२ )
शब्दार्थशक्ति-मूलक—४ भेद
वस्तु व्यंग्य
अलंकार व्यंग्य
वाक्यगत
पदगत
वाक्यगत
पदगत
रचनागत
वर्णगत
पदांशगत
प्रबंधगत
वाक्यगत
पदगत
अत्यंत तिरस्कृत
अर्थांतर संक्रमित
वाक्यगत
पदगत
वाक्यगत
पदगत


अर्थशक्ति-मूलक
३६ भेद
कविनिबद्ध पात्रप्रौढ़ोक्ति—१२ भेद
कविप्रौढ़ोक्ति—१२ भेद
स्वतःसंभवी—१२ भेद
वस्तु से वस्तु व्यंग्य
वस्तु से अलंकार व्यंग्य
अलंकार से वस्तु व्यंग्य
अलंकार से अलंकार व्यंग्य
प्रबंधगत
वाक्यगत
पदगत

इस तालिका के अनुसार ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—( १ ) लक्षणा-मूला और ( २ ) अभिधा-मूला । इनकी स्पष्टता इस प्रकार है—

## लक्षणा-मूला ध्वनि

**लक्षणा-मूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं ।**

अविवक्षितवाच्य का अर्थ है वाच्यार्थ की विवक्षा न रहना अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बाध[1] रहने के कारण वह अनुपयुक्त होता है—उपयोग में नहीं लाया जा सकता ( वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता ), जैसा लक्षणा-प्रकरण में स्पष्ट किया गया है । अतः इस ध्वनि के मूल में लक्षणा रहती है, और इसी से इसे लक्षणा-मूला कहते हैं । इसमें प्रयोजनवती गूढ़-व्यंग्या लक्षणा रहती है, न कि रूढ़ि लक्षणा । क्योंकि रूढ़ि लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं, और ध्वनि तो व्यंग्यार्थ रूप ही है । ध्वनि में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अगूढ़-व्यंग्य भी ध्वनि का विषय नहीं, किंतु वह ( अगूढ़ व्यंग्य ) गुणीभूत व्यंग्य के अंतर्गत है ।

---

१ बाध का स्पष्टीकरण लक्षणा-प्रकरण ( पृष्ठ ११ ) में देखिए ।

लक्षणा के मुख्य दो भेद हैं—( १ ) उपादान-लक्षणा और ( २ ) लक्षण-लक्षणा। अतएव इस लक्षणा-मूला ध्वनि[१] के भी दो भेद होते हैं—( १ ) 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' और ( २ ) अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि।

## अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

**जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करता है, वहाँ अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होती है।**

इस ध्वनि के मूल में उपादान लक्षणा रहती है। उपादान लक्षणा में जिस प्रकार वाच्यार्थ का बाध होने पर वह लक्ष्यार्थ में बदल जाता है, उसी प्रकार इस ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित अर्थात् अनुपयुक्त ( उपयोग में लाने के अयोग्य ) होने से अर्थांतर अर्थात् दूसरे अर्थ में बदल जाता है; बस, इसी से इसको अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि कहते हैं। वाच्यार्थ दो प्रकार से अनुपयुक्त हो सकता है—या तो पुनरुक्ति से या जब वह किसी विशेष अर्थ को न बतलाता हो, अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के कहने का तात्पर्य न निकलता हो। यह ध्वनि पदगत ( एक ही पद में ) और वाक्यगत ( कई पदों के बने हुए वाक्य में ) दोनो प्रकार की होती है।

---

१ इस ध्वनि के स्वरूप को भले प्रकार समझने के लिये लक्षणा-प्रकरण को ध्यान में रखना आवश्यक है।

पुनरुक्ति से वाच्यार्थ के अनुपयोगी होने का उदाहरण—

कदली कदली ही अहै करभ हु करभ लखाय ;
मृगनैनी के उरुन की समता कितहु न पाय।

( प्रसन्नराघव नाटक भावानुवाद )

ऊरुओं को केले के वृक्ष के स्तंभ की तथा करभ[1] की उपमा दी जाती है। किंतु यहाँ कहा गया है—'कदली कदली ही है' अर्थात् केला केला ही है और करभ करभ ही। मृगनयनी के ऊरुओं ( जंघाओं ) का सादृश्य तीनो लोकों में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ दुबारा कहे हुए 'कदली' और 'करभ' शब्दों का वाच्यार्थ कदली और करभ ही है। यदि इसी वाच्यार्थ को ग्रहण किया जाय, तो पुनरुक्ति दोष हो जाता है, क्योंकि एकार्थक शब्दों का दो बार कहा जाना व्यर्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ का बाध है—अनुपयोगी होने के कारण यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये यहाँ दुबारा कहे हुए कदली और करभ का जो वाच्यार्थ है, वह 'कदली कदली ही है, अर्थात् जड़ है; और करभ करभ ही है, अर्थात् हथेली के एक तरफ़ का भाग-मात्र है' इस दूसरे अर्थ में ( जो वाच्यार्थ का ही विशेष रूप है ) परिणत हो जाता है। यही अर्थांतर में संक्रमण है। और, यह अर्थांतर वही व्यंग्यार्थ

---

१ हाथ की छोटी उँगली से पहुँचे तक हथेली के बाहरी भाग का नाम करभ है।

है, जिसको उपादान लक्षणा में प्रयोजन कहते हैं। किसी के गुण या अवगुण को सूचन करने के लिये ही एक शब्द को प्रायः दो वार कहा जाता है, जैसे 'कौआ कौआ ही है; और कोकिल कोकिल ही'। इस वाक्य में भी दूसरी बार कहे हुए कौआ और कोकिल का वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, किंतु दूसरी बार कहे हुए कौआ का 'कर्णकटु शब्द करनेवाला' और कोकिल का 'मधुर ध्वनि करनेवाली' अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो वाच्यार्थ का विशेष रूप लक्ष्यार्थ है—वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं जैसा कि पहले उपादान लक्षणा के विवेचन में स्पष्ट किया गया है१।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'व्यंग्यार्थ' शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसकी वाच्यार्थ से ध्वनि ही निकलती है। जैसे 'कदली कदली' आदि के वाच्यार्थ में दूसरे अर्थ की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की सर्वत्र ध्वनि ही निकलती है। और भी उदाहरण देखिए—

तब ही गुन सोभा लहैं, जब सहृदय सु सराहिं;
कमल कमल हैं तबहिं, जब रवि-कर सों विकसाहिं।

यहाँ भी दूसरी वार प्रयुक्त कमल शब्द का 'कमल' ही अर्थ ग्रहण किया जायगा, तो पुनरुक्ति दोष होता है, अतः यह वाच्यार्थ अनुपयोगी है। दूसरी वार के 'कमल' शब्द का

---

१ देखिए पृष्ठ २१-२०।

वाच्यार्थ 'सौरभ और सौंदर्य-युक्त विकसित कमल' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है।

दूसरे प्रकार के अनुपयोगी वाच्यार्थ का उदाहरण—

स्याम घटा घन घोर भलैं उमड़ैं चहुँ ओरन सों वहु जोरन,
सीतल धीर समीर चलै भवैं होहु घनी धुनि चातक मोरन ;
राम हौं, मेरो कठोर हियो हौं, सहौंगो सबैं दुख ऐसे करोरन ,
हा! हा ! विदेह-सुता की दसा अब ह्वै है कहा ये लगैं झकझोरन ।

वर्षाकालिक उद्दीपक सामग्रियों को देखकर जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इसमें 'राम हौं' इस पद के मुख्यार्थ का यहाँ कुछ उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इस वाक्य के वक्ता जब स्वयं श्रीराम ही हैं, तब 'राम हौं' कहना क्या आवश्यक था—केवल 'हौं सहौंगो' कहनेमात्र ही से वाक्य पूरा हो जाता है। अतः यहाँ 'राम हौं' का वाच्यार्थ वाधित है। इसलिये यहाँ 'राम हौं' पद राज्यभ्रष्ट, वनवासी, जटा-वल्कल धारण करनेवाला और प्राणप्रिया जानकी के हरण आदि के असह्य दुःखों को सहन करनेवाला क्रूर-हृदय 'मैं राम हूँ', इस अर्थांतर ( व्यंग्यार्थ ) में संक्रमण करता है। और भी—

सुंदर श्वेत पटंबर कों कसि कै कट स्रौनि पै वाँधि सँवारिए ,
भाल में वाल-मयंक-किरीट हु पन्नग के गन साजि सुधारिए ;
पापी हजारन तारन की-सी सधारन वात न याहि निहारिए ,
मोहि उधारन को है समौ यह भागीरथी ! जिय क्यों न विचारिए।

यह भगवती गंगा को पंडितराज की प्रार्थना है। 'मोहि उधारन को है समौ यह' इस वाक्य के प्रकरणगत अर्थ में 'यह' शब्द का वाच्यार्थ अनुपयोगी है ; क्योंकि 'मोहि उधारन को है समौ' यह है ही। फिर 'यह' पद के वाच्यार्थ की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतः 'यह' शब्द का वाच्यार्थ 'मैं निरंतर पाप करनेवाला हूँ, ऐसे घोर पातकी के उद्धार करने का 'यह' समय है' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है। इसमें व्यंग्य यह है कि मेरे पाप अनिर्वाच्य हैं, कहे नहीं जा सकते ; ऐसे घोर पापी का उद्धार करना है। यहाँ पुनरुक्ति नहीं, किंतु जब तक 'यह' शब्द का लक्ष्यार्थ ग्रहण नहीं किया जायगा, वाच्यार्थ अनुपयोगी है। इन दोनो उदाहरणों में पदगत ध्वनि है। पहले उदाहरण में 'राम हौं' में और इस उदाहरण में 'यह' पद में ध्वनि है।

## अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

**जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार होता है, वहाँ अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि होती है।**

इसमें वाच्य अर्थ को सर्वथा छोड़ दिया जाता है, यही वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार है। इसी से इसे अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि में प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा रहती है। यह भी पदगत और वाक्यगत दोनो प्रकार की होती है। वाक्यगत का उदाहरण—

सुवरन फूलन की धरा जोरत हैं नर तीन—
सूर और विद्या-निपुन सेवा में जु प्रवीन।

इसका वाच्यार्थ सुवर्ण के फूलों की पृथिवी को इकट्ठा करना है, पर न तो सुवर्ण के फूलों की कहीं पृथिवी होती है, और न पृथिवी इकट्ठो ही की जा सकती है। अतः वाच्यार्थ का बाध है—वाच्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है। यहाँ लक्षणा से 'शूर आदि तीनो प्रकार के पुरुष अपने बल, अभ्यास और क्रिया-कौशल से अतुल समृद्धि को प्राप्त करते हैं' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, और शूर-वीरों की, विद्वानों की तथा सेवा में प्रवीण सेवकों की प्रशंसा व्यंग्य से ध्वनित होती है। यह ध्वनि अनेक पदों के समूहरूप सारे वाक्य से निकलती है, अतः वाक्यगत ध्वनि है।

पदगत का उदाहरण—

जगि मुख के निःश्वास अंध भए आदर्स[1] ज्यों,
लजत न चंद्र प्रकास छादित परिघ तुषार सों।

यह श्रीरघुनाथजी द्वारा हेमंत का वर्णन है। यहाँ वाच्यार्थ तो यह है कि मुख के निःश्वास से अंधे (मलीन हुए) दर्पण के समान तुषारावृत—कुहरे से घिरा हुआ—चंद्रमा प्रकाशित नहीं हो रहा है। किंतु अंधा तो वही कहा जा सकता है, जिसके पहले नेत्र रहे हों या जिसमें नेत्रों की योग्यता हो, किंतु दर्पण के न तो कभी नेत्र थे, और न उसमें नेत्रों की योग्यता

---

1 दर्पण।

ही है। फिर उसे अंधा कैसे कह सकते हैं ? अतः यहाँ 'अंध' शब्द के मुख्य अर्थ का बाध है—सर्वथा छोड़ दिया जाता है, और इसका लक्ष्यार्थ 'प्रकाश-हीन' ग्रहण किया जाता है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है। 'अंध' इस एक पद में ध्वनि है, अतः यह पदगत ध्वनि है।

इस ध्वनि का विपरीत लक्षणा के रूप में भी उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे—

कहि न सकौं तव सुजनता, अति कीन्हों उपकार ;
सखे ! करत यों रहु सुखी जीवहु बरस हजार।

यह अपकार करनेवाले के प्रति उसके कार्यों से दुःखित किसी पुरुष की उक्ति है। वाच्यार्थ में उसकी प्रशंसा है, किंतु अपकारी के प्रति प्रशंसात्मक वचन नहीं कहे जा सकते, अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर विपरीत लक्षणा से उपकार का 'अपकार', सुजनता का 'दुर्जनता' और सखे का 'शत्रु' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसमें अत्यंत अपकार करना व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार—

"हमको तुम एक, अनेक तुम्हैं, उनहीं के विवेक बनाय बहौ,
इत चाह तिहारी बिहारी, उतै सरसाय कै नेह सदा निबहौ ;
अब कीवौ 'मुबारक' सोई करौ अनुराग-लता जिन बोय दहौ,
घनस्याम ! सुखी रहौ आनँद सौं, तुम नीके रहौ, उनही के रहौ।"

यह अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका के वाक्य हैं। वाच्यार्थ में तो 'सुखी रहौ', 'उनही के रहौ' कहा गया है, किंतु

लंपट नायक के प्रति नायिका द्वारा ऐसा कथन असंभव है, अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ के विपरीत 'उसके पास न रहौ' इत्यादि लक्ष्यार्थ समझा जाता है।

कहीं वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत होने पर भी अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नहीं होती। देखिए—

इत न स्वान वह आज, अहो भगत! निधरक विचर;
हत्यो ताहि मृगराज, जो या सरिता-तट रहत।

किसी कुलटा स्त्री के संकेत कुंज के समीप कोई धार्मिक भक्त पुष्प लेने आने लगा था। कुलटा अपने कुत्ते को उसके पीछे लगा दिया करती थी, जिससे वह तंग आकर वहाँ आना छोड़ दे, और उसके एकांत स्थल में विघ्न न हो। पर जब वह फिर भी आता ही रहा, तो एक दिन उस कुलटा ने (इस पद्य में) कहा—"भक्तजी, अब आप यहाँ निःशंक आया करें, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, उसे इसी वन के निवासी सिंह ने मार डाला है।" 'निधरक विचर' के कथन से यद्यपि वाच्यार्थ में उसे आने के लिये कहा गया है, किंतु कुत्ते से डरनेवाले उस पुरुष को उस कुलटा के कहने का अभिप्राय यह है कि 'जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, वह तो मारा गया, पर जिसने उसे मारा है, वह सिंह इस नदी-तट के वन में ही रहता है, कभी उसकी झपेट में आ गए, तो मारे जाओगे'। निष्कर्ष यह है कि वाच्यार्थ में तो आने को कहा गया है, पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध

है, अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत है। यहाँ न तो विपरीतलक्षणा ही है और न यह लक्षणा-मूला अत्यंत-तिरस्कृतवाच्यध्वनि ही। विपरीत लक्षणा तो वहीं हो सकती है, जहाँ वाच्यार्थ के अन्वय का या वक्ता के तात्पर्य का बाध होने के कारण वाक्य कहने के साथ ही वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में अर्थात् लक्ष्यार्थ में बदल जाता है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं, क्योंकि वाच्यार्थ असंभव नहीं। यहाँ प्रकरणादि का विचार करने पर वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में परिणत होता है। अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा-मूला ध्वनि नहीं होती, किंतु अभिधा-मूला ध्वनि हुआ करती है, जो नीचे लिखी जाती है।

## अभिधा-मूला ध्वनि

**इस ध्वनि को 'विवक्षित अन्यपरवाच्य' ध्वनि कहते हैं।**

इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ भी वांछनीय रहता है, पर वह अन्यपरक अर्थात् व्यंग्य-निष्ठ होता है। इसीलिये यह विवक्षित अन्यपरवाच्य कही जाती है।

इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है ; जैसे दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसमें

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम कहीं तो स्पष्ट जाना जाता है और कहीं स्पष्ट विदित नहीं होता। इसलिये इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। ये दोनो भेद लक्षणा-मूला ध्वनि के इसलिये नहीं हो सकते कि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती—वाच्यार्थ उपयोग के योग्य ही नहीं रहता, अतः वाच्य अर्थ के साथ व्यंग्यार्थ के क्रम के लक्षित या अलक्षित होने का प्रश्न ही नहीं है।

## असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि

**जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम असंलक्ष्य हो—भले प्रकार प्रतीत न हो—वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है।**

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पौर्वापर्य—पहले-पीछे का—क्रम संलक्ष्य होता है, भले प्रकार प्रतीत होता है, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है, वहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है, जो आगे लिखा जायगा। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पहले-पीछे का क्रम प्रतीत नहीं होता। इस ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि व्यंग्यार्थ होते हैं। और ये रस भावादि, जो व्यंग्यार्थ हैं, विभावानुभावादि ( जो वाच्यार्थ होते हैं ) द्वारा ध्वनित होते हैं। विभावादि

और रस-भावादि का पौर्वापर्य क्रम भले प्रकार प्रतीत नहीं हो सकता। विभाव, अनुभाव आदि कारणों के वाच्यार्थ का बोध होने के बाद ही रस-भावादि की प्रतीति होती है। अतः कारण-कार्य रूप पौर्वापर्य क्रम तो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी रहता है, किंतु अल्पकालिक होने के कारण 'शतपत्र-पत्रभेदन'[1] न्याय के अनुसार लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसीलिये इसे 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा जाता है। यदि इसमें क्रम का सर्वथा ही अभाव होता, तो इसे 'अक्रम व्यंग्य' कहा जाता। 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग का यहाँ यही तात्पर्य है कि क्रम भले प्रकार नहीं जाना जाता है।

"हरि-सुत[2]-श्रौन हर-श्रौन[3] हरि[4]दै हैं कर,
घरी-घरी घोर धनु-घंट घननाटे तें;
भूरि रव भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरंगे भिंदिपाल भननाटे तें।

---

[1] शतपत्र-पत्रभेदन न्याय यह है कि जब शतपत्र (कमल) के सैकड़ों पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सुई की नोक से छेद किया जाता है, तब यद्यपि उन पत्तों का छेदन एक के बाद दूसरे का क्रमशः ही होता है, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे सब पत्तों में सुई एक ही साथ छेद करती हुई-सी मालूम होती है—यह प्रतीत नहीं होता कि उनमें से कौन पहले और कौन पीछे विंध गया है; अतः वह अल्पकालिक क्रम जाना नहीं जा सकता। [2] इंद्र का सुत अर्जुन। [3] रथ के घोड़ों के कानों पर। [4] श्रीकृष्ण।

खप्पर खनक है न खेटक के खप्पर हौं,
खेटकी१ खिसकि जैहैं खग्गा२ खननाटे तें;
भूलि जैहैं जानधर३ जान४ को चलान वान,
यानधर५ मेरे पान६ बान सननाटे तें।"

भारत-युद्ध में ये कर्ण के वाक्य हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन आलंबन हैं, उनके द्वारा भीष्मादि के पतन का स्मरण उद्दीपन है। कर्ण के ये वाक्य अनुभाव हैं, और हर्ष, गर्व, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव७ हैं। इनके द्वारा यहाँ वीररस की व्यंजना है। यद्यपि यहाँ वीररस, जो व्यंग्यार्थ है, आलंबन विभावादि के ज्ञान के बाद ही ध्वनित होता है, अर्थात् विभावादि का और रस का पौर्वापर्य क्रम है, किंतु रस के आनंदानुभव की अपेक्षा वह क्रम अल्पकालिक होने के कारण प्रतीत नहीं होता।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य आठ प्रकार का होता है—(१) रस, (२) भाव, (३) रसाभास, (४) भावाभास, (५) भावशांति, (६) भावोदय, (७) भावसंधि और (८) भावशबलता। अब इनकी क्रमशः स्पष्टता की जाती है—

## रस

काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक

---

१ ढालों को धारण करनेवाले। २ तलवार। ३ रथ को धारण करनेवाले सारथी—श्रीकृष्ण। ४ रथ। ५ बाणों को धारण करनेवाला अर्थात् अर्जुन। ६ हाथ। ७ आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारियों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

आस्वादनीय पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान और इसका आस्वादन ही काव्य के अध्ययन का सर्वोपरि फल है। इसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से होती है। रस संप्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीभरत मुनि ने कहा है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

(नाट्यशास्त्र, अ० ६)

इस सूत्र की संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने बड़ी विस्तृत और मार्मिक विवेचना की है, और इस विषय में उनका बड़ा मतभेद है। रस की निष्पत्ति जिन विभावादि के संयोग पर इस सूत्र में बतलाई गई है, वे विभावादि क्या हैं, इसकी स्पष्टता आचार्य मम्मट ने इस प्रकार की है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च;
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावाअनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः;
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः।"

(काव्यप्रकाश ४। २७-२८)

लोक-व्यवहार में रति आदि चित्तवृत्तियों के या मनोविकारों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण कहे जाते हैं, वे नाटक और काव्य में रति आदि स्थायी भावों[1] के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव,

---

[1] स्थायी भावों की स्पष्टता आगे की जायगी।

अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, और उन विभावादिकों द्वारा स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है। रस के स्वरूप-ज्ञान के लिये प्रथम विभावादिकों का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

## विभाव

विभाव, कारण, निमित्त और हेतु ये पर्याय शब्द हैं—एक ही अर्थ के बोधक हैं[१]। 'रति' आदि जो एक विशेष प्रकार के मनोविकार हैं, और जो काव्य-नाटकों में स्थायी भाव कहे जाते हैं, उन रति आदि स्थायी भावों के उत्पन्न होने के जो कारण होते हैं, उन्हें 'विभाव' कहते हैं। इनको विभाव इसलिये कहते हैं कि इनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारी भावों के आश्रित वाणी और अंगाभिनयादि अनेक अर्थों का विभावन होता है, अर्थात् विशेषतया ज्ञान होता है। कहा है—

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ;
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति कथ्यते।"

(नाट्यशास्त्र, ७। ६)

निष्कर्ष यह है कि सामाजिकों के हृदय में वासना-रूप में अत्यंत सूक्ष्मता से स्थित रति आदि स्थायी एवं व्यभिचारी भावों को ये विभावन अर्थात् आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अतः

---

१ विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः—भरत नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३४७

रस के उत्पादक ( कारण ) होने से इनको विभाव कहते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—( १ ) आलंबन विभाव और ( २ ) उद्दीपन विभाव।

## आलंबन विभाव

जिसका आलंबन करके स्थायी भाव ( रति आदि मनोविकार ) उत्पन्न होते हैं, वे आलंबन विभाव हैं। आलंबन विभाव प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे शृंगार-रस में रति स्थायी भाव के उत्पादक होने से नायक-नायिका आलंबन होते हैं।

## उद्दीपन विभाव

रति आदि मनोविकारों को जो अतिशय दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं—वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। ये भी प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं। शृंगार-रस में सुंदर वेष-भूषणादि की रचना, पुष्प-वाटिका, एकांत स्थान, सुंदर केलि-कुंज, कोकिलादि का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, शीतल धीर समीर आदि रति के बढ़ानेवाले होने से उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। यद्यपि उद्दीपक पदार्थ, स्थायी भाव के उत्पादक कारण नहीं, केवल उद्दीपक हैं, किंतु उत्पन्न स्थायी भाव को इनके द्वारा यदि उत्तेजना न मिले, तो वह अनुत्पन्न के समान ही है। जैसे उत्पन्न अंकुर को जल न मिलने से वह नष्ट हो जाता है।

## अनुभाव

विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। "अनुभावयन्ति इति अनुभावाः"। जैसे शृंगार-रस में नायिका आलंबन और चंद्रोदयादि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय में रति मनोविकार उत्पन्न और उद्दीपन होता है, उसको प्रकट करनेवाले जो कटाक्ष और भ्रूक्षेप एवं हस्तसंचालनादि शारीरिक चेष्टाएँ जब तक न हों, उस अनुराग का उनको परस्पर या समीपस्थ अन्य लोगों को कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। कहा है—"अनुभावो भावबोधकः"। इन अनुभावों द्वारा ही रति आदि स्थायी भाव, काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलंबन विभावों की चेष्टाओं द्वारा, प्रकट होते हैं। अनुभाव असंख्य हैं। जिस-जिस रस में जो-जो अनुभाव होते हैं, उनका दिग्दर्शन रसों के प्रकरण में कराया जायगा।

## सात्त्विक भाव

सत्त्व से उत्पन्न भावों को सात्त्विक कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं—( १ ) स्तंभ, ( २ ) स्वेद, ( ३ ) रोमांच, ( ४ ) स्वर-भंग, ( ५ ) वेपथु ( कंप ), ( ६ ) वैवर्ण्य, ( ७ ) अश्रु और ( ८ ) प्रलय। इनकी सात्त्विक संज्ञा क्यों है, इसकी विवेचना साहित्याचार्यों ने बहुत कुछ की है। आचार्य

मम्मट ने तो इनका पृथक् नामोल्लेख भी नहीं किया है—संभवतः उन्होंने इन्हें अनुभावों के अंतर्गत माना है।

विश्वनाथ का मत है कि सात्त्विक भाव रस के प्रकाशक होने के कारण—रति आदि के कारण होने से—अनुभाव ही हैं। किंतु गोवलीवर्द न्याय[1] के अनुसार ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं[2]। महाराजा भोज कहते हैं कि सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित 'मन' है। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं[3]। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अन्य भाव क्या सत्त्व के विना ही उत्पन्न होते हैं? भरत मुनि कहते हैं—"हाँ, ऐसा ही है। सत्त्व मनःप्रभव है—समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति है। मन के रोमांच, अश्रु और वैवर्ण्य आदि जो स्वभाव हैं, वे अन्य-मनस्क होने पर उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे रोदनात्मक दुःख और हर्षात्मक सुख, दुःख और सुख के विना कैसे उत्पन्न हो सकते हैं[4]?" हेमचंद्राचार्य कहते हैं—

---

१ 'जैसे गाएँ आ गई, बैल भी आ गया' यद्यपि यहाँ गाएँ कहने से ही बैल का आना भी जान लिया जाता है, पर गायों की अपेक्षा बैल की प्रधानता सूचन करने के लिये बैल का कथन पृथक् किया जाता है। इसी को गोवलीवर्द न्याय कहते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक भाव अनुभाव के अंतर्गत होने पर भी सात्त्विक भावों की उत्कृष्टता सूचन करने के लिये इनको सात्त्विक भाव कहते हैं। २ देखिए, साहित्य-दर्पण, परिच्छेद ३।१३४-३५। ३ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। निवृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः।' सरस्वतीकण्ठाभरण ५।२०। ४ देखिए, नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण पृष्ठ ३७१।

"प्राण ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक हैं। प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है, तब स्तंभ; जल का भाग प्रधान होता है, तब बाष्प (अश्रु); तेज का भाग तीव्रता से प्रधान होता है, तब स्वेद (पसीना), एवं वह तीव्रता-रहित प्रधान होता है, तब वैवर्ण्य; आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय; और वायु का स्वातंत्र्य होता है, तब उसके मंद, मध्य और उत्कृष्ट आवेश से रोमांच, कंप एवं स्वर-भेद होता है। और शरीर के धर्म जो स्तंभादिक बाह्य अनुभाव हैं, वे इन आंतरिक स्तंभादिक भावों की व्यंजना करते हैं[1]"। इनके लक्षण[2] इस प्रकार हैं—

(१) स्तंभ—यह हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद और रोषादि से उत्पन्न होता है। इसमें निस्संज्ञ, निष्कंप, खड़ा रह जाना, शून्यता और जड़ता आदि अनुभाव होते हैं।

(२) स्वेद (पसीना)—यह क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, उपघात और व्यायाम आदि से उत्पन्न होता है। इसमें पंखा हिलाना, स्वेद का मिटाना और पवन की इच्छा, आदि अनुभाव होते हैं।

(३) रोमांच—यह स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर का कंटकित होना, पुलकित होना और रोमांचित होना अनुभाव हैं।

---

१ देखिए, काव्यानुशासन, अध्याय २, पृष्ठ १००। २ देखो, नाट्य-शास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३८१-३८२।

(४) स्वर-भंग—यह भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें स्वर का गद्गद होना अनुभाव है।

(५) वेपथु (कंप)—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें कंपादि अनुभाव होते हैं।

(६) वैवर्ण्य—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें मुख का वर्ण बदल जाना आदि अनुभाव होते हैं।

(७) अश्रु—यह आनंद, अमर्ष, धुआँ, जँभाई, भय, शोक, अनिमेष-प्रेक्षण (बिना पलक लगाए देखना), शीत और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें नेत्रों से अश्रुओं का गिरना और उनका पोंछना आदि अनुभाव होते हैं।

(८) प्रलय—यह श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, अभिघात और मोहादि से उत्पन्न होता है। इसमें निश्चेष्ट हो जाना, निष्प्रकंप हो जाना, श्वास का रुक जाना और पृथ्वी पर गिर जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

उपर्युक्त स्तंभ में और प्रलय में यह भेद है कि स्तंभ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता है, किंतु शरीर जड़ हो जाने के कारण चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे—

"पाय कुंज एकांत में भरी अंक व्रजनाथ;
रोकन को तिय करत, पै कह्यो करत नहिं हाथ।"

पर प्रलय में चेष्टा करने का ज्ञान नहीं रहता। जैसे—

"दै चख-चोट अँगोट मग तजी जुवति बन माहिं;
खरी विकल कच की परी, सुधि सरीर की नाहिं।"

यहाँ प्रलय सात्त्विक है।

## संचारी या व्यभिचारी भाव

**चित्त की चिंता आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियों को व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं।**

ये स्थायी भाव (रस) के सहकारी कारण हैं। ये सभी रसों में यथासंभव संचार करते हैं, इसी से इनकी संचारी या व्यभिचारी संज्ञा है[1]। ये स्थायी भाव की तरह रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते। अर्थात् ये अवस्था विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं—

"ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्;
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुद्‍बुदों की तरह प्रकट हो-होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं; जैसे बिजली की चमक चमककर झट अदृश्य हो जाती है। इनकी संख्या ३३ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि संचारी भावों की भी, स्थायी

१ 'विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।' नाट्यशास्त्र, गायकवाड, पृष्ठ ३५६।

भाव और रस के समान, व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनि ही निकलती है, और वही आस्वादनीय होती है। इनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना दोष माना गया है[१]। क्योंकि इनका शब्द द्वारा कथन किए जाने पर ये आस्वादनीय नहीं रह सकते। इनके नाम, लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

( १ ) निर्वेद—वैराग्य के कारण या इष्ट वस्तु के वियोगादि के या दारिद्र्य, व्याधि, अपमान एवं आक्षेप आदि के कारण अपने को धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जहाँ वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद होता है, वहाँ निर्वेद शांत रस का व्यंजक होकर शांत रस का स्थायी भाव होता है, न कि व्यभिचारी। वैराग्य या तत्त्वज्ञान के विना जहाँ इष्ट-वियोगादि अन्य उपर्युक्त कारणों से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहीं यह शांत रस से अतिरिक्त अन्य रसों में व्यभिचारी रहता है, क्योंकि जहाँ इष्ट-वियोगादि से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहाँ शांत रस की व्यंजना नहीं हो सकती। इसमें दीनता, चिंता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास एवं विवर्णतादि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"अब या तनहिं राखि का कीजै।

सुनु री सखी! स्यामसुंदर विन बाँटि विषम-विष पीजै।

---

१ इस विषय का विवेचन इसी स्तवक में, रसों के दोष-विवेचन के प्रसंग में, सविस्तार किया जायगा।

के गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी ! स्वकर सीस सिव दीजै ;
के दहिए दारुन दावानल जाय जमुन धसि लीजै।
दुसह वियोग विरह माधव के कौन दिनहि दिन छीजै ;
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि-सोचि मन खीजै।"

यहाँ श्रीव्रजराज के वियोग में श्रीराधिकाजी द्वारा अपने जीवन का तिरस्कार किए जाने में निर्वेद की व्यंजना है।

और भी—

कबहूँ नहिं साधी समाधि इकंत न काम कलान की जोति लगी ;
न सुनी भगवंत कथा न तथा रस की बतियाँ मृदु प्रेम-पगी।
सहि कष्ट न जोग की आँच तयो न वियोग की आग हिए सुलगी ;
यह बादि ही बैस वितीत भई गल सेली लगी न नवेली लगी।

यहाँ व्यर्थ जीवन व्यतीत होने से उत्पन्न निर्वेद की व्यंजना है।

( २ ) ग्लानि—आधि ( मानसिक ताप ) या व्याधि ( शारीरिक कष्ट ) के कारण शरीर का वैवर्ण्य ( अंगों की शिथिलता ) और कार्य में अनुत्साह आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को ग्लानि कहते हैं।

उदाहरण—

"सूनी किसलय सयन पै लिमि नव ससि की रेख ;
आयो पिय आदर कियो केवल मधुरहि देख।"

यहाँ विरह-जनित संताप से तापित नायिका द्वारा विदेश से आए हुए पति का केवल मधुर कटाक्ष से सम्मान किए जाने में ग्लानि भाव की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"आवेगों से विपुल-शिथिला शीर्ण-काया कृशांगी,
चिंता-दग्धा व्यथित-हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा;
आसीना थी निकट पति के अंबु-नेत्रा यशोदा,
छिन्ना दीना विनत-वदना मोह-मग्ना मलीना।"
(प्रिय-प्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण-वियोग में यशोदाजी की अवस्था के वर्णन में ग्लानि की व्यंजना है।

(३) शंका—मेरा क्या अनिष्ट होनेवाला है? इस प्रकार की चित्तवृत्ति को 'शंका' कहते हैं। इसमें मुख-वैवर्ण्य, स्वर-भंग, कंप, ओष्ठ और कंठ का सूखना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"हे मित्र, मेरा मन न-जाने हो रहा क्यों व्यस्त है;
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो;
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो।"
(जयद्रथ-वध)

महाभारत में संसप्तकगणों के युद्ध से लौटते समय श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन के ये वाक्य हैं। इसमें 'शंका' की व्यंजना है। 'शंका' में भय आदि से उत्पन्न कंप होता है[1], किंतु चिंता में भय नहीं। जैसे—

---

1 शंका की स्पष्टता में कहा है—"इयं तु भयाद्युत्पादनेन कंपादि-कारिणी, नतु चिंता।" रसगंगाधर, पृष्ठ ८०

"अब है है कहा अरविंद सो आनन इंदु के हाय हवाले परयो,
इक मीन बिचारो बिध्यो बनसी पुनि जाल के जाय दुमाले परयो;
'पद्माकर' भापे न भापे बनै जिय कैसो कछूक कसाले परयो,
मन तो मनमोहन के सँग गो, तन लाज-मनोज के पाले परयो।"

यहाँ चिंता है। बस, इन दोनो में यही भेद है।

(४) असूया—दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या आदि का उत्कर्ष देखने और दूसरे की निंदा आदि के कारण जो उत्पन्न चित्तवृत्ति है, वह असूया है। इसमें अवज्ञा, भ्रुकुटी चढ़ाना, ईर्ष्या के वाक्य कहना और दूसरे के दोषों को प्रकट करना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

अलि! कितव सखे! क्यों पाद छूता हमारे;
विरह-विकलिता हैं, मानिनी हैं न प्यारे।
अनुनय यह तेरा है सुहाता न, जा रे;
प्रिय-प्रणयिनि है वो, तू उसे ही रिझा रे।

भ्रमर के प्रति विरहिणी व्रजांगनाओं के इन वाक्यों में कुब्जा के विषय में असूया की व्यंजना है। और भी—

"क्यों घनस्याम इती दुचती नक मो तन दीठ करौ सुखदाई,
कंज गुलाबहु की अरुनाई जों लाल गुलालहु ते सरसाई;
नैनन पै अति घोर घनो धन है रँगरेजिन की चतुराई,
साँची कहो, इन आँखिन की तुम दीन्हीं कहा नँदलाल, रँगाई।"

नायक के नेत्रों में रात्रि-जागरण के कारण रक्तता देखकर

नायिका के इन वाक्यों में सपत्नी के विषय में असूया की व्यंजना है। इसी प्रकार—

हैं वे वृद्ध विचार-शील न, वृथा कैसी बढ़ा दी कथा,
गाते हैं वह ताड़िका-वध अहो! स्त्री-लक्ष्य ही जो न था;
वीरों को खरदूषणादि, वध भी क्या गण्य युद्धत्व है,
बाली का वध कृत्य, सत्य कहना, क्या उग्र वीरत्व है।

ये कुमार लव के वाक्य हैं। इनमें श्रीरघुनाथजी की अवज्ञा के कथन में असूया की व्यंजना है।

(५) मद—मद्यपानादि से उत्पन्न अंग एवं वचनों की स्खलद्गति आदि अनुभावों की उत्पादक चित्तवृत्ति मद है।

उदाहरण—

गहह न क्यों मम कर अहो! पपरत हौं भुवि माहिं।

यहाँ 'गहह', 'पपरत' पदों में वचन और अंगों के स्खलन में मद की व्यंजना है।

(६) श्रम—मार्ग चलने और व्यायाम आदि से थक जाना श्रम है। जैसे—

"पुर ते निकसी रघुबीर-बधू धरि धीर दिए मग में डग द्वै,
झलकीं भरि भाल कनी जल की पटु सूखि गए अधराधर वै;
फिर बूझति हैं चलिबो अब कितो? पिय, पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै,
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।"

यहाँ वनवास के समय श्रीजनकनंदिनी के अत्यंत शीघ्र थक जाने में श्रम की व्यंजना है। ग्लानि में शरीर की निर्बलता

मुख्य कारण होता है, और श्रम में बल होते हुए भी परिश्रम से उत्पन्न थकावट होती है।

( ७ ) आलस्य—श्रम, गर्भ, व्याधि, जागरण आदि से कार्य करने से विमुख होना आलस्य है। इसमें जँभुआई आना, एक ही स्थान पर स्थित रहना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

पिय सों कथा विदेस की सुनत जगी सब रात;
अब कछु अधिक न कहि सकौं फिर करि हौं सखि, बात।

यहाँ नायिका के वाक्य में आलस्य की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"नीठि-नीठि उठि बैठिहू प्यो प्यारी परभात;
दोऊ नींद-भरे खरैं गरैं लागि गिरि जात।"

यहाँ निद्रांत आलस्य की व्यंजना है।

( ८ ) दैन्य—दुःख, दारिद्र्य, मन के संताप और दुर्गति आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष ( दुर्दशा ) के वर्णन में दैन्य भाव होता है। जैसे—

नँदनंदन के स्मित-आनन पास लगी रहै कान सदा सर जी;
अधरामृत को रस पान करै व्रजगोपिन सों न रहै बरजी।
कर जोरि निहोरि कै तोहि कहौं मुरली ! सुनु एक यहै अरजी;
मुरलीधर सों यह मेरी दसा कहियो, फिर है उनकी मरजी।

यहाँ भगवान् श्रीनंदनंदन के मुँहलगी वंशी से संसार-ताप से संतापित इस दीन की इस प्रार्थना में 'यह' शब्द द्वारा दैन्य की व्यंजना है। और—

कछु शेष रह्यो घर में न, परयो पति खाट पै, वृद्ध है अंध भयो,
सुत को नहिं हाल मिल्यो कितसों जब सों वह हाय! विदेस गयो।
ऋतु-पावस बासन हू गयो फूटि जो तेल परोसिन पास लयो;
लखि आरत गर्भिनि पुत्र-वधू दुख सों भरि सास को आयो हियो।

यहाँ दारिद्र्य-दशा-जनित दैन्य की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"उदर भरे की जो पै गोत की गुजर होती,
घर की गरीबी माहिं गाखिब गठौती ना;
रावरे चरन अरविंद अनुरागत हौं,
माँगत हौं दूध, दही, माखन, मठौती ना।
चाहू ते कहो तो और होतो अनहोतो कहा,
साबुत दिखात कंत! काठ की कठौती ना;
छुधा-छीन, दीन बाल-बालिका बसन-हीन,
हेरत न होती देव! द्वारिका पठौती ना।"

(रालन कवि का सुदामा-चरित्र)

सुदामाजी की पत्नी के इन वाक्यों में दारिद्र्य-जन्य दैन्य की व्यजना है।

(६) चिंता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति या अनिष्ट की प्राप्ति, आदि से उत्पन्न चित्तवृत्त ही चिंता है। संताप, चित्त की शून्यता, कृशता, अधोमुख आदि अनुभावों द्वारा इसका वर्णन होता है। उदाहरण—

सींचो भ्रू-सा सुरभित अहो वक्त्र तेरा न दीखे;
छेदे मेरा कृशत तनु भी काम के बाण तीखे।

काटूँ कैसे अब दिवस ये हे प्रिये ! सोच तू मैं ;
छाई सारी दिशि घनघटा देख वर्षा-ऋतू में।
(हिंदी मेघदूत विमर्श)

यहाँ यक्ष द्वारा अपनी वियोग-जनित अवस्था के वर्णन में चिंता की व्यंजना है। और भी—

"दृगन मूँदि औंहन जुरैं करतिय राखि कपोल ;
अवधि बिती आए न पिय सोचत भई अडोल।"

प्रोषित पतिका नायिका की इस दशा के वर्णन में चिंता की व्यंजना है।

(१०) मोह—प्रिय-वियोग, भय, व्याधि और शत्रु के प्रतिकार में असमर्थ होने आदि से चित्त का विक्षिप्त हो जाना अर्थात् वस्तु का यथार्थ ज्ञान न रहना ही मोह है। इसका वर्णन चित्त-भ्रम, हतचेतना आदि अनुभावों से होता है।

उदाहरण—

"कहती हुई बहु भाँति यों ही भारती करुणामई ;
फिर भी हुई मूर्च्छित अहो ! वह दुःखिनी विधवा नई।
कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ ;
हतचेत होना भी विपद में लाभदाई है महा।"
(जयद्रथ-वध)

इसमें अपने पति अभिमन्यु के शोक में उत्तरा के हत-चेतन हो जाने में मोह की व्यंजना है। सुख-जन्य भी मोह होता है[1]। जैसे—

---

[1] 'सुखजन्यापि मोहो भवति'—हेमचंद्र का काव्यानुशासन।

"दूलह श्रीरघुवीर बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं;
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढाहीं।
राम को रूप निहारत जानकी कंकन के नग की परिछाहीं;
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं।"

यहाँ श्रीरघुनाथजी का प्रतिबिंब अपने कंकण के रत्न में गिरने पर जनकनंदिनी के सुधि भूल जाने में सुख से उत्पन्न मोह की व्यंजना है।

( ११ ) स्मृति—सुख एवं दुःख आदि पहले के अनुभव किए हुए विषय का स्मरण ही स्मृति है।

"है विदित, जिसकी लपट से सुरलोक संतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर था जिसने छुआ,
उस प्रबल लतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात! संधि-विचार करते तुम भुला देना नहीं।"
( कविवर श्रीमैथिलीशरण )

दुर्योधन से संधि करने को जाते हुए श्रीकृष्ण के प्रति द्रौपदी के इन वाक्यों में अपमान-जन्य स्मृति की व्यंजना है। और—

हे सरसीरुहलोचनि, मोहि बताओ प्रिये! कबौं आवतु है चित;
वा गिरि-कानन के बहुरंग विहंग कुरंगन सों अति सोभित—
कुंजन के रत-रंजित नीर सुतीर गुदावरि के निकटैं जित;
मंजुल वंजुल कुंजन में मनरंजन मंजु विहार किए नित।

जनकनंदिनी के प्रति भगवान् श्रीरामचंद्र की इस उक्ति में चित्रकूट-विषयक स्मृति की व्यंजना है।

और भी—

"'केसव' एक समैं हरिराधिका आसन एक लसैं रँगभीने ;
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यों दृग दीने।
भाल के लाल में बाल विलोकत ही भर लालन लोचन लीने ;
सासन-पीय सँ-वासन-सीय हुतासन में जनु आसन कीने।"

यहाँ दर्पण देखते हुए श्रीकृष्ण को राधिकाजी के भाल की रक्तमणि में उनका प्रतिबिंब देखकर वस्त्रों-सहित श्रीजानकीजी की अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि-प्रवेश के दृश्य का स्मरण हो आने में स्मृति की व्यंजना है।

और भी—

"वालम के बिछुरे बढ़ी वालके व्याकुलता विरहा दुख दान तें ;
चौपरि आनि रची 'नृप शंभु' सहेलिनी साहबिनी सुखदान तें।
'तू जुग फूटै न मेरी भटू' यह काहू कही सखियाँ सखियान तें ;
कंज-से पानि से पासे गिरे, अँसुवा गिरे खंजन-सी अँखियान तें।"

चौपड़ के खेल में सखी के मुख से 'जुग न फूटै' सुनकर वियोगिनी को अपनी वियोग-दशा का स्मरण हो आने में दुःख-जन्य स्मृति भाव है। पहले उदाहरण में सादृश्य वस्तु देखने पर और इसमें श्रवण से स्मृति की व्यंजना है।

( १२ ) धृति—लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को दूर करनेवाली चित्त-वृत्ति धृति है। इसमें प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट वस्तुओं का शोच न करना आदि अनुभाव होते हैं। यथा—

क्यों संतापित हिय करौं भजि-भजि धनिकन द्वार ;
मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्रीनंदकुमार ।

यहाँ चित्त की चंचलता का दूर होना धृति है । और भी—

हो तुम वित्त सों तुष्ट रु त्यों हम वल्कल चीर सों तुष्ट सदा हैं ;
द्वै परितोष समान जबै, कहु तो इहि में तब भेद कहा है ।
है जिनको तृसनाकुल चित्त, वही जग माँहि दरिद्र महा है ;
जो मन होय सँतोषित तो फिर को धनवान दरिद्रि यहाँ है ।

संतोष होने पर धनवान् और दरिद्री दोनो की समान अवस्था के वर्णन में यहाँ 'धृति' भाव की व्यंजना है ।

( १३ ) व्रीड़ा—स्त्रियों को पुरुष के देखने आदि से और पुरुषों को प्रतिज्ञा-भंग, पराभव एवं निंदित कार्य करने आदि से वैवर्ण्य और अधोमुख आदि करनेवाली लज्जा हो व्रीड़ा है। जैसे—

"सुनि सुंदर बैन सुधा-रस-साने सयानि है जानकी जान भली ;
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली ।
'तुलसी' तिहि औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन-लाहु अली ;
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै विकसी मनो मंजुल कंज-कली ।"

यहाँ श्रीजनकनंदिनी से मार्ग में ग्राम-वधुओं द्वारा श्रीरघुनाथजी के विषय में यह पूछने पर कि 'यह आपके कौन हैं ?' श्रीजानकीजी द्वारा नेत्रों की चेष्टा से उनको अपना प्राणनाथ बतलाने में व्रीड़ा की व्यंजना है । और भी—

नँदलाल के प्रेम तू बाल ! पगी, उनके बिन तोहि कछू न सुहातु है ;
तन औ' मन सौंप चुकी सब ही चरचा उनही की सदा मन भातु है ।

फिर काहे को नाहक मेरी भटू! दृग-दान के हेत उन्हें तरसातु है;
सखि, बेचि गयंदहि अंकुस लौं झगरो करिबो कहा जोग कहातु है।

यहाँ प्रेम-कटाक्ष के दान देने की सखी द्वारा दी गई शिक्षा में नायिका-निष्ठ लज्जा-भाव की व्यंजना है। और—

"मानी न मानवती भयो भोर, सु सोचते सोइ गयो मनभावन;
तेही ते सास कही दुलही! भई बार कुमार को जाहु जगावन।
हौंस मनाइबे को जु गयो उढि, पै न गई हिय की अनखावन;
चंदमुखी पलका ढिग जाय लगी पग-नूपुर पाटी बजावन।"

यहाँ मानिनी नायिका द्वारा नायक को जगाने के लिये पर्यंक की पाटी को नूपुर से बजाने में स्त्री-स्वभाव-सुलभ अपमान की शंका-जनित व्रीड़ा की व्यंजना है।

( १४ ) चपलता—मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और अनुराग आदि से चित्त का अस्थिर होना ही चपलता है। यथा—

"कौतुक एक लख्यो हरि! ह्याँ 'पदमाकर' यों तुम्हें जाहिर की मैं;
कोऊ बड़े घर की ठकुराइनि ठाढ़ी निहारत है छिनकी मैं।
झाँकत है कबहूँ झँझरान झरोखनि त्यों खिरकी सिरकी मैं;
झाँकति ही खिरकी मैं फिरै थिरकी-थिरकी खिरकी-खिरकी मैं।"

यहाँ किसी व्रजांगना की इस चेष्टा के वर्णन में चपलता की व्यंजना है।

( १५ ) हर्ष—इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट-जनके समागम आदि से उत्पन्न सुख हर्ष है। इसमें मन की प्रसन्नता, प्रिय भाषण, रोमांच, गद्गद होना और स्वेदादि अनुभाव होते हैं। जैसे—

"मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल ;
विन-ही पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ।"

( बिहारी )

इसमें वाम नेत्र का फरकना प्रिय-आगम-सूचक समझकर, उत्साह से पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करने में नायिका के अत्यंत हर्ष होने की व्यंजना है।

"नव गयंद रघुवीर-मन, राजु अलान-समान ;
छूटि जानि वन-गमन सुनि उर अनंद अधिकान ।"

( तु० रामायण )

यहाँ वनवास की आज्ञा को सुनकर भगवान् श्रीरामचंद्रजी के मन की अवस्था के वर्णन में हर्ष भाव की व्यंजना है।

( १६ ) आवेग—भयंकर उत्पात एवं प्रिय और अप्रिय बात के सुनने आदि से उत्पन्न चित्त की घबराहट आवेग है। इसमें विस्मय, स्तंभ, स्वेद, शीघ्र-गमन, वैवर्ण्य, कंप आदि अनुभाव होते हैं। जैसे—

"सुनत श्रवन वारिधि-बंधाना, दसमुख बोलि उठा अकुलाना—
बाँधे वननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु वारीस,
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस ।"

( तु० रामायण )

सेतु बाँधने का समाचार सुनकर रावण के चित्त में व्याकुलता होने में आवेग की व्यंजना है। यह अप्रिय श्रवण-जनित आवेग है। और—

"आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि
सोहत सुहाई सीस इँडुरी सुपट को;
कहै 'पद्माकर' गँभीर जमुना के तीर
लागी घट भरन नवेली नई अटकी।
ताही समै मोहन सु-बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई दोर बंसीवट की;
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घट की न औघट की बाट की न घर की।"

यहाँ वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रजांगना की दशा के वर्णन में प्रिय-श्रवण-जनित आवेग की व्यंजना है।

(१७) जड़ता—इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन और श्रवण से किंकर्तव्य-विमूढ़ होना जड़ता है। इसमें अनिमिष होकर (पलक न लगाकर) देखना और चुप रहना इत्यादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"कर-सरोज जयमाल सुहाई, विश्व - विजय-सोभा जनु पाई।
तन सँकोच मन परम उछाहू, गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू।
जाइ समीप राम-छवि देखी, रहि जनु कुँवरि चित्र-अवरेखी।"

यहाँ श्रीरघुनाथजी के समीप जयमाला धारण कराने को गई हुई सीताजी की दशा के वर्णन में 'जड़ता' की व्यंजना है—इष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता है। अनिष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता का उदाहरण—

गर्व भरे आए प्रथम थकित रहे ढिग तीर;
अनिमिष-दृग देखन लगे वारिधि बानर वीर।

यहाँ सीताजी की खोज में गए हुए वानर वीरों का अगाध समुद्र को देखकर, उसको पार करना दुःसाध्य समझकर उनकी दृष्टि के स्थगित हो जाने में जड़ता की व्यंजना है।

(१८) गर्व—रूप, धन, बल और विद्यादि के कारण उत्पन्न अभिमान ही गर्व है। जहाँ उत्साह-प्रधान गूढ़-गर्व होता है, वहाँ वीर-रस की ध्वनि होती है। इसमें अविनय (नम्रता का अभाव), अवज्ञा आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

मम नैनन नील सरोज गुनैं रु उरोजन कंज-कली अनुमानहिं;
भ्रम बंधुक फूलन के अधरान रु पानन पद्म स-नाल सुजानहिं।
मनि-मोतिन चारु गुही कवरी लखि बंधुन की अवली मन ठानहिं;
मतिमंद मिलिंद के वृंद सखी! दुरवार घनो दुख देत न मानहिं।

रूप-गर्विता नायिका की अपनी सखी के प्रति उक्ति में रूप-जनित गर्व की व्यंजना है। और भी—

"सामान्य माता का न सुत मैं, राजसुत कौंतेय हूँ;
इस भाल में विधि ने लिखा मैं जन्मसिद्ध अजेय हूँ।
मैं धर्म-निष्ठ सदैव, उस पर शत्रु-गण हैं पातकी;
शंका मुझे फिर धार्तराष्ट्रों से कहो किस बात की?"

(पं० रामसहाय का अज्ञातवास)

विराट में गो-हरण के अवसर पर उत्तराकुमार के प्रति ये अर्जुन के वाक्य हैं। इसमें कुल, बल और धर्म-जनित गर्व की व्यंजना है।

( १६ ) विषाद—आरंभ किए हुए कार्य की असिद्धि आदि से उत्साह-भंग और अनुताप होना विषाद है। इसमें दीर्घोच्छ्वास, संताप आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"निज शक्ति-भर मैं आपकी सेवा सदा करता रहा,
त्रुटि हो न कोई भी कभी, इस बात से डरता रहा।
सम्मान्य ! मैंने आपका अपराध ऐसा क्या किया,
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया।
मैं जानता जो पांडवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी बेला विकट संताप की।"

( जयद्रथ-वध )

शकटाकार व्यूह में अर्जुन के प्रवेश करने पर उत्साह भंग होकर दुर्योधन के द्रोणाचार्य को कहे हुए इन वाक्यों में विषाद की व्यंजना है। और भी—

"ठाढ़े भए कर जोरिकै आगे, अधीन ह्वै पायन सीस नवायो;
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठतें मन भायो।
देखत ही सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महामद छायो;
रूठि गयो उठि प्रानपियारो, कहा कहिए, तुमहूँ न मनायो।"

कलहांतरिता नायिका की उक्ति में नायक के रूठकर चले जाने पर यहाँ भी विषाद की व्यंजना है। और—

"ऐसेहु वचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान,
तो प्रभु-विषम-वियोग-दुख सहिहहिं पाँवर प्रान।"

( तु० रामायण )

श्रीराम-वन-गमन के समय के जानकीजी के इन वाक्यों में विषाद की व्यंजना है।

( २० ) औत्सुक्य—अमुक वस्तु का अभी लाभ हो, ऐसी इच्छा होना औत्सुक्य है। इसमें वांछित वस्तु के न मिलने के विलंब का असहन, मन को संताप, शीघ्रता, पसीना और निःश्वास आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

दृग-कंजन अंजन आँजि तथा तन भूषन साजि कहा करि है;
मेहँदी एक हाथ लगी न लगी रहिबे दे सखी! न कछू डरि है।
अरी! बावरी का नहिं जानत तू, मोहिं देखिबे की जु उतावरि है;
व्रजगोपिन के धन-प्रान वही अब आय रहे मथुरा हरि हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा-जन्य औत्सुक्य है। और भी—

"मानुष हौं तु वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पसु हौं तु कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तु वही गिरि को जो कियो व्रज छत्र धुरंधर धारन;
जो खग हौं तु बसेरो करौं वहिं कालिंदी-कूल कदंब की डारन।"

यहाँ व्रजवास की इच्छा में औत्सुक्य की व्यंजना है।

( २१ ) निद्रा—परिश्रम आदि बाह्य विषयों से निवृत्त होना निद्रा है। इसमें जँभाई आना, आँख मिचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई आदि चेष्टाएँ होती हैं।

उदाहरण—

कल कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगंधित केलि के कुंजन में ;
थकि झूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकैं कच-पुंजन में।
कब देखहुगी पिय-अंक में पौढ़त लाड़िली को मुख रंजन में ;
कहियो यह हंस! वहाँ जब तू नँदनंदन लै कर-कंजन में।

ललिता की हंस के प्रति इस उक्ति में राधिकाजी की निद्रावस्था का सूचन है। पुनः—

आयो विदेश तें प्रानपिया, अभिलाष समात नहीं तिय-गात में ;
बीत गई रतियाँ जगि के रस की बतियाँ न बिती बतरात में।
आनन-कंज पै गंध-प्रलुब्ध लगे करिवे अलि गुंज प्रभात में ;
ताहू पै कंजमुखी न जगी वह सीतल मंद सुगंधित वात में।

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और मुख पर भ्रमरावली के गुंजन करने पर भी न जगना अनुभाव है, इससे निद्राभाव की व्यंजना है।

(२२) अपस्मार—मानसिक संताप के अत्यंत दुःख से उत्पन्न एक व्याधि को अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं।

उदाहरण—

सुनिके आए मधुपुरी हरि जदुकुल-अवतंस ;
बढ्यो स्वास भूतल परयो अति कंपित ह्वै कंस।

इसमें कंस राजा की दशा-वर्णन में अपस्मार की व्यंजना है। यह यद्यपि एक रोग है, किंतु प्रायः वीभत्स और भयानक रस में इसे संचारी माना गया है।

वियोग-शृंगार में भी अपस्मार की व्यंजना देखी जाती है। जैसे—

"उघरि परे हैं नील पल्लव अधर तैसे,
फैलि रहे साखा बाहु बेसक बहरि परी;
'उजियारे' कलिका-कपोल फैन फूलि रहे,
अलकावलि भारी भौंर भीर-सी भहरि परी।
चारौं ओर छोर कोर-कोर ब्रजबाल ठाढ़ी,
चित्र की-सी काढ़ी बाढ़ी सोचनि लहरि परी;
अधिक अधीर तावी तीर की समीर लागैं,
बनिता लता-सी छीन छिति पै छहरि परी।"

यहाँ शारदीय रासलीला के लिये वंशी की ध्वनि से उत्कंठित होकर आई हुई गोपीजनों को जब श्रीकृष्ण ने घर लौट जाने की आज्ञा दी, उस समय की गोपीजनों की दशा के वर्णन में अपस्मार भाव की व्यंजना है, जो प्रिय-वियोग-जनित है।

( २३ ) सुप्त—स्वप्न ही सुप्त कहा जाता है।

उदाहरण—

सुनु लछमण ! हा ! बिन जानकी के तन-दाहक भे घन ये नभ में;
पुनि धीर समीर कदंबन की अति पीर करै धँसिकै तन में।
हरि के मुख सोवत में निकसी पिछली यह बात अचानक में;
वृषभानुसुता सुनि संकित ह्वै लगी बंक बिलोकिबे ता छिन में।

इसमें श्रीकृष्ण की स्वप्नावस्था की व्यंजना है।

और भी—

साँचे हौ, बोलौ न झूठ कवौं, बस छाड़ौ हमारो पिया! अब आँचर ;
प्रेम तिहारो भली विधि सौं हम जानती, यों करती जु निरादर—
ढारत आँखन सों अँसुआ, हौं लखी वह कंजमुखी पल का पर ;
तेरे बिना निंदिया! हमैं कौन करावै प्रिया सँग भेट इहाँ पर।

पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ के अनुसार कहती हुई अपनी मानवती प्रिया को स्वप्न में देखकर किसी प्रवासी का निद्रा के प्रति कथन है। इसमें स्वप्न की व्यंजना है।

(२४) विबोध—निद्रा दूर होने के बाद या अविद्या के नाश होने के बाद चैतन्य-लाभ होना विबोध है। उदाहरण—

तव प्रसाद सब मोह मिटि भो स्वरूप को भान ;
गत-संसय गोविंद! तव करि हौं वचन प्रमान।

यहाँ मोह-जन्य अविद्या के नष्ट होने पर ज्ञान प्राप्त अर्जुन के इस वाक्य में विबोध की व्यंजना है।

"विषया पर-नारि निसा तरुनाइ सुवाइ परयो अनुरागहि रे ;
यम के पहरू दुख, रोग, वियोग विलोकत हू न विरागहि रे।
ममता-बस ते सब भूलि गयो, भयो भोर महाभय भागहि रे ;
जरठाइ-दिसा रवि-काल उयो, अजहूँ जड़ जीव! न जागहि रे।"

(कवित्त-रामायण)

श्रीगोसाइँजी के इस कथन में विबोध की व्यंजना है।

(२५) अमर्ष—निंदा, आक्षेप और अपमान आदि से उत्पन्न चित्त का अभिनिवेश ही अमर्ष है। इसमें नेत्रों का रक्त होना,

शिरःकंप, भ्रू-भंग, तर्जन और प्रतिकार के उपाय आदि चेष्टाएँ होती हैं। जैसे—

"त्रिया-मात्र ताड़का, दीन द्विजराम बिना दल ;
मृग सभीत, मारीच वध सु तिहिं कहौं कहा बल।
सप्त ताल जड़ जोनि दुंद सो मृतक देह दगि ;
वाली साखामृग वराक हति गर्व जुतिहिं लगि।
को जयौ वीर तैं जुद्ध करि, मिथ्या अहमिति वहत मन ;
कोदंड-बान संधान कर, रे काकुस्थ सँभारि रन।"

(बारहट नरहरिजी का अवतार-चरित्र)

भगवान् श्रीरामचंद्र के प्रति रावण का यह तर्जन है। इसमें अमर्ष की व्यंजना है। और भी—

"खुले केस रजस्वला सभा बीच दुःसासन
लायो सो पुकार रही सारे सभाचारी को ;
आदि मोको हारयो किधौं आपौ हारयो नृप ,
करन बिगारी बात बिकरन सुधारी को।
भीम कहै ऐंच्यो चीर तेई भुज ऐंच जैहैं ,
दिखावै है जंघा सो दिखै हौं तोरि हारी को ,
द्रुपद-दुलारी! खुली लटैं कर दैहौं सारी ,
एक नृप-नारी ना अनेक नृप-नारी को।"

(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण के समय द्रौपदी के प्रति भीमसेन के इन वाक्यों में अमर्ष की व्यंजना है। क्रोध भाव

(जो रौद्र रस का स्थायी है) और अमर्ष भाव में यह भिन्नता है कि क्रोध की कोमलावस्था (पूर्वावस्था) अमर्ष है, और उसकी उत्कृट अवस्था क्रोध।

(२६) अवहित्था[१]—लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाया जाना अवहित्था है। दूसरे कार्य में संलग्न हो जाना, मुख नीचा कर लेना आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

सुनि नारद की बात तात निकट ह्वै नमित मुख;
उमा कमल के पात कर उठाय गिनबे लगी।

नारदजी द्वारा भगवान् शंकर के गुण सुनकर जो हर्ष हुआ, उसे पिता के सम्मुख लज्जा के कारण नम्रमुखी होकर पार्वतीजी द्वारा कमल के पत्रों की गणना के बहाने से छिपाए जाने में अवहित्था की व्यंजना है। और भी—

"कंप भए तुव नाम सुन हिमगिरि-गुहन विपच्छ;
कहत सीत अति है तऊ स्थल यह सुंदर स्वच्छ।"

यह राजा की प्रशंसा है। हिमालय की गुफा में राजा का नाम सुनकर उसके कंपित शत्रुओं द्वारा यह कहकर कि हिमाचल पर बड़ा शीत है, भय छिपाया गया है।

(२७) उग्रता—अपमान आदि से उत्पन्न होनेवाली निर्दयता ही उग्रता कही जाती है। इसमें वध, बंध, भर्त्सन और ताड़न

---

१ 'न-वहिस्थं चित्तं येन' अर्थात् जिससे चित्त वहिस्थ न हो, उसे अवहित्थ कहते हैं। देखो हेमचंद्रकाव्यानुशासन, पृष्ठ ६०।

आदि अनुभाव होते हैं। अमर्ष और उग्रता में यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता रूप नहीं है, और उग्रता निर्दयता रूप है। क्रोध और उग्रता में यह भिन्नता है कि क्रोध स्थायी भाव है, और यह संचारी भाव; अर्थात् जहाँ यह भाव स्थायी रूप से हो वहाँ क्रोध और जहाँ संचारी रूप से हो वहाँ उग्रता कही जाती है[१]।

उदाहरण—

"मातु-पितहि जिन सोच-बस करसि महीप-किसोर,
गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।"

(तु० रामायण)

यहाँ लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के वाक्य में उग्रता भाव की व्यंजना है। किंतु—

"तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में;
मिलकर किया आरंभ उसको विद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि सुत-युत द्रोण भी;
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविध सभी।"

(जयद्रथ-वध)

अभिमन्यु पर सात महारथियों का एक साथ प्रहार करने में यहाँ क्रोध स्थायी रूप से होने से रौद्र रस की व्यंजना है। और भी—

"भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥

---

१ 'तस्य स्थायित्वेनास्याः संचारिणीत्वेनैव भेदात्।' रसगंगाधर, पृष्ठ ९०

जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे। काहे न बोलेहु वचन विचारे॥
देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्यसिंधु तुम रघुकुल माहीं॥
सत्य सराहि कहेहु वर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥
सिवि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ वचनपन राखा॥"

(तु० रामायण)

यहाँ दशरथजी के प्रति केकयी द्वारा की हुई भर्त्सना में उग्रता की व्यंजना है।

(२८) मति—शास्त्रादि के विचार एवं तर्कादि से किसी बात का निर्णय कर लेना ही मति है। इसमें निश्चित वस्तु का संशय-रहित स्वयं अनुष्ठान या उपदेश और संतोष आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"श्रीनिमि के कुल दासिन हू की न निमेष कुपंथनि है समुहाती;
तापर हौं हिय मेरो सुभाव विचार यहै निहचै ठहराती।
'दासजू' भावी स्वयंवर मेरे को बीस बिसै इनके रँगराती;
ना तरु साँवरी मूरति राम की मो अँखियान में क्यों गड़ि जाती।"

यहाँ श्रीजनकनंदिनीजी के वाक्यों में 'मति' की व्यंजना है।

इसी प्रकार—

"व्याल कराल महाविष पावक मत्त गयंदन के रद तोरे;
सासति संकि चली डरपैहुते किंकर ते करनी मुख मोरे।
नेक विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि के बल होरे;
कौन की त्रास करै 'तुलसी' जोपै राखि हैं राम तो मारि है को रे।"

प्रह्लादजी की रक्षा विभाव है। 'जोपै राखि है राम, तो मारि है को रे' अनुभाव है। इनके द्वारा 'मति' की व्यंजना है।

"सुनती हो कहा, भग जाहु घरैं, बिंध जाओगी काम के बानन में;
यह बंसी 'निवाज' भरी विष सों विष-सो भर देत है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलि हो मेरी भटू! बिरमों जिन मीठी-सी तानन में;
कुल-कान जो आपुनी राख्यो चहौ, अँगुरी दे रहौ दुउ कानन में।"

मुग्धा नायिका को सखी के इस उपदेश में 'मति' की व्यंजना है। और भी—

जाइवो चाहतु है जमुना-तट तो सुनु बात कहौं हितकारी;
मंजुल वंजुल कुंजन में सखि! भूलिहू तू जइयो न वहाँ री।
जो उतहू कबौं जा निकसै रखियो यह याद कही जु हमारी;
वा मनमोहन की मधुरी मुरली-धुनि तू सुनियो न तहाँ री।

यहाँ भी किसी गोपांगना को उसकी सखी द्वारा दिए गए उपदेश में 'मति' की व्यंजना है।

( २९ ) व्याधि—रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन का संताप ही व्याधि है। इसमें प्रस्वेद, कंप, ताप आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"पलन प्रकट बरुनीन बढ़ि नहिं कपोल ठहराइ;
ते अँसुवा छतियाँ परैं छनछनाइ छिप जाइ।"

वियोगिनी की इस दशा के वर्णन में व्याधि की व्यंजना है।

( ३० ) उन्माद—काम, शोक और भय आदि से चित्त का

भ्रमित होना उन्माद है। इसमें बेमौक़े हँसना, रोना और गाना तथा विचार-शून्य वाक्य कहना आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली—
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है;
जूही! तू है विकच-वदना, शांति तू ही मुझे दे।"

(प्रियप्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में राधिकाजी के जुही लता के प्रति इस वाक्य में उन्माद की व्यंजना है। और भी—

"नाहिनै नंद को मंदिर ये, वृषभानु को भौन, कहा जकती हौ;
हौं ही अकेली तुहीं कवि 'देवजू' घूँघट कै किहिंको तकती हौ?
भेटती मोहि भटू किहिं कारन, कौन-सी धौं छवि सों छकती हौ;
काह भयो है, कहा कहौ, कैसी हौ, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ?"

श्रीकृष्ण के वियोग में वृषभानु-नंदिनी की इस दशा में 'उन्माद' की व्यंजना है।

(३१) मरण—मरण तो प्रसिद्ध ही है। रौद्रादि रसों में नायक के वीरत्व के लिये शत्रु के मरण का भी वर्णन हो सकता है[१]। शृंगार-रस में साक्षात् मरण की व्यंजना अमांगलिक होने के कारण मरण के प्रथम की अवस्था (अर्थात् वियोग-शृंगार में शरीर-त्याग करने की चेष्टा) का ही वर्णन

१ 'किंतु नायकवीर्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते।' (हरिभक्तिरसामृतसिंधु)

किया जाता है१। अथवा मरण का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए, जिससे शोक उत्पन्न न हो२। उदाहरण—

मलयानिल ! यह सुना गया है तेरी गति रुकती न कहीं;
प्राण-पखेरू उड़ा, साथ ले चल राधा को शीघ्र वहीं।
सब सखियों से कह देना बस सविनय यही वियोग-कथा;
जीवतेश के धाम गई वह सह न अधिक अधु विरह-व्यथा।

यहाँ विरहिणी राधिकाजी के मलय-मारुत के प्रति इस कथन में मरण की प्रथम अवस्था के वर्णन में मरण की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"पूछत हौं पछिताने कहा फिरि पीछे ते पावक ही को पिलौगे;
काल की हाल में बूड़ति बाल विलोकि हलाहल ही को हिलौगे।
लीजिए ज्याय सुधा-मधु प्याय कै न्याय नहीं विष-गोली गिलौगे;
पंचनि३ पंच मिले परपंच में वाहि मिले तुम काहि मिलौगे।"

यहाँ भी मरण की पूर्वावस्था के वर्णन में मरण भाव है। और भी—

वह भागीरथी-सरजू-जल-संगम-तीरथ में तन त्यागन सों;
झट देवन की गिनती में गिनाय समोद सिधाय विमानन सों।

---

१ 'शृंगाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्'—दशरूपक ४। २१। २ 'मरणचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं येन शोकोऽत्रस्थानमेव न लभते।' नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृष्ठ ३०८। ३ पंचभूतों में पंचभूत मिल जाने के बाद अर्थात् प्राणांत हो जाने के बाद।

पूरब रूपहु सों अधिकी रमनी सँग मंजु बिहारन सों ;
वन-नंदन में करिबे जु विलास लग्यो नृप पुन्य प्रभावन सों ।
( रघुवंश से अनूदित )

इसमें साक्षात् मरण की व्यंजना होने पर भी महाकवि कालिदास ने महाराजा अज के स्वर्ग-गमन का शृंगार-मिश्रित वर्णन ऐसे ढंग से किया है कि जिससे शोक का आभास भी नहीं होता।

( ३२ ) त्रास—वज्र-निर्घात, उल्का-पात आदि उत्पातों से और अपने से प्रबल का अपराध करने पर उत्पन्न चित्त की व्यग्रता त्रास है। 'त्रास' संचारी और 'भय' स्थायी में यह भेद है[१] कि त्रास में सहसा कंप होता है, किंतु भय पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है।

उदाहरण—

"चहुँ ओर मरोर सौं मेह परै घनघोर-घटा घनी छाइ गई सी ;
तरराय परी बिजुरी कितहूँ दसहू दिसि मानहु ज्वाल वई सी।
कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की लख तैं ललना मुरझाय गई सी ;
थहराइ गई, हहराइ गई, पुलकाय गई, पल न्हाय गई सी।"

यहाँ वज्रनिर्घात-जन्य त्रास की व्यंजना है। और भी—

"भागे मीर-जादे, पीर-जादे औ' अमीर-जादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै ;

---

१ कहा है—'गात्रोत्कंपी मनः कंपः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापर-विचारोत्थं भयं त्रासात्पृथक् भवेत्।' ( हरिभक्तिरसामृतसिंधु )

भागे गज-वाजि रथ-पथ न सँभारैं परैं,
गोलन पै गोल सूर सहमि सकाय कै।
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि, वेगि—
वलित वितुंड पै विराजि बिलखाय कै ;
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि चलैं
भागि मृग, महिष, वराह बिलखाय कै।"

यहाँ मीर-जादे आदि के भागने में प्रधानतया त्रास की व्यंजना है।

( ३३ ) वितर्क—संदेह के कारण विचार उत्पन्न होना ही वितर्क है। इसमें भृकुटी-भंग, शिरःकंप और उँगली उठाना आदि चेष्टाओं का वर्णन होता है।

"कैधों मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई ;
कैधों पिक-चातक, महीप काहू मार डारे,
कैधों बगपाँत उत अंत गति ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहुँ न आए प्यारे,
कैधों उत रीति विपरीतै विधि ने ठई ;
मदन-महीप की दुहाई फिरिबे ते रही,
जूझि गए मेघ, कैधों बीजुरी सती भई।"

यहाँ विरहिणी नायिका के इस कथन में वितर्क की व्यंजना है।

उदाहरण—

प्रेम-निकुंज में रोके कहा ललिता सखि बंक-विलोकन डारि कै ;
कोपित कैधों विसाखा किए हरि कों समुझावत में न विचारि कै ।
सोचत यों वृषभान-लली चिर लौं मग कुंज-गली को निहारि कै ;
लै कर सों झटकी पटकी भुवि में गल फूल की माल उतारि कै ।

यहाँ राधिकाजी की उत्कंठितावस्था में वितर्क की व्यंजना है। किंतु चौथे चरण में जो विषाद व्यंजित होता है वह प्रधान है।

एक मत यह भी है कि वितर्क निर्णयांत होता है, अर्थात् अंत में इसका निश्चय हो जाता है[1]।

मुख्य संचारी भाव तो ये ही हैं। इनके सिवा और भी चित्तवृत्तियों—भावों—की प्रायः व्यंजना होती है। जैसे मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा और माधुर्य आदि भावों की प्रायः व्यंजना होती है। किंतु ये सभी भाव उक्त ३३ भावों के अंतर्गत मान लिए गए हैं। जैसे मात्सर्य को असूया में, उद्वेग को त्रास में, दंभ को अवहित्थ में, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कंठा को औत्सुक्य में और धाष्टर्य को चपलता के अंतर्गत माना गया है। इनके सिवा स्थायी भाव भी अवस्था विशेष में अपने नियत रस से अन्यत्र संचारी हो जाते हैं, जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा।

---

१ 'विनिर्णयन्तएवायंतर्कइत्यूचिरे परैः' (हरिभक्तिरसामृत-सिंधु, पृष्ठ २२४)

# स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से संबंध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है, उस आनंद के मूल-भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव नौ हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय और (९) निर्वेद या शम।

संचारी भाव तो अपने विरोधी[१] या अनुकूल[२] भाव से घटते-बढ़ते एवं उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। किंतु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, इसीलिये ये 'स्थायी' कहे जाते हैं। संचारी भाव स्थायी भावों के अनुचर हैं। किंतु इन रति आदि स्थायी और निर्वेद आदि संचारी भावों को रस की परिपक्व अवस्था में ही स्थायी और संचारी संज्ञा है—रस के

---

१ विरोधी भाव दूसरे भाव को इस प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार अग्नि को जल। २ अनुकूल भाव दूसरे भाव को इस प्रकार छिपा या दबा देता है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्य प्रकाश को।

विना ये 'भाव[1]' मात्र हैं। वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं। किंतु जहाँ स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वहाँ भी वह भाव तो रहता है, पर उसकी स्थायी संज्ञा न रहकर केवल भाव मात्र रह जाता है। जो उदाहरण नीचे दिए गए हैं, वे रति आदि की भाव अवस्था के ही हैं।

(१) रति—रति का अर्थ है प्रीति, अनुराग या प्रेम। शृंगार-रस का रति स्थायी भाव है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्री में पुरुष की और पुरुष में स्त्री की रति ही शृंगार-रस में स्थायी माना जाता है। यद्यपि गुरु, देवता और पुत्रादि में प्रेम होना भी रति है, पर वह रति शृंगार-रस का स्थायी नहीं, उसकी केवल भाव संज्ञा है।

रति-भाव का उदाहरण—

निकसत ही ससि उदधि जिमि धीरज कछु इक छौरि ;
गंगाधर देखन लगे बिंबाधर-मुख गौरि।

यहाँ श्रीशंकर का पार्वतीजी के मुख की तरफ़ कुछ ही साभिलाष निरीक्षण हुआ है, और संचारी भावों से इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः शृंगार-रस का परिपाक नहीं, केवल रति-भाव है।

---

1. भावों की अधिक स्पष्टता भाव-प्रकरण में की जायगी।

और भी—

"सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिंगारन को,
तजन लगी है कछु ये सब सवारी की;
चखन लगी है कछु चाह 'पदमाकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी की।
सुंदर गुविंद-गुन गनन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की;
पगन लगी है लगि लगन हिए सों नेकु,
लगनु लगी है कछु पी की प्रानप्यारी की।"

यहाँ नायक में विश्रब्ध नवोढा नायिका की रति भाव मात्र है, शृंगार का परिपाक नहीं।

( २ ) हास—वचन, अंग आदि की विकृतता देखकर चित्त का विकसित होना हास है। उदाहरण—

"यह मैं तोही में लखी भगति अपूरब बाल;
लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल।"

प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई माला के धारण करने से नायिका के रोमांचित हो जाने पर नायिका के प्रति सखी के विनोद में 'हास'-भाव की व्यंजना है।

"कबहूँ नहिं कान सुने हमने यह कौतुक मंत्र विचार के हैं;
कहि कैसे भए करि कौने दए सिखए कोउ साधु अपार के हैं।
कवि 'ग्वाल' कपोल तिहारे अली! दुहुँ ओर में बाग बहार के हैं;
चमकैं ये चुनी-सी चुनी इतमें, उतमें पके दाने अनार के हैं।"

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में हास के अंकुर-मात्र की व्यंजना है, परिपाक नहीं।

( ३ ) शोक—इष्ट जन के एवं विभव के विनाश आदि कारणों से चित्त का व्याकुल होना शोक है। जहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक वियोग में जीवित अवस्था का ज्ञान रहते हुए चित्त की व्याकुलता होती है, वहाँ शोक स्थायी नहीं, किंतु विप्रलंभ शृंगार में संचारी हो जाता है।

उदाहरण—

"भीर में आरत बैन कह्यो अब टेरत थाँकुरो नाम हिए डरि ;
रावन माँझ सभा अपमान कै लात हन्यो गयो मैं धरनी परि।
चाहतु रावरे पीछे परो 'लछिराम' न दूसरो देखि परै हरि !
आनन हेरि विभीषन को रघुनाथ के नैन में नीर गए भरि।"

विभीषण की विनय सुनकर रघुनाथजी के नेत्रों में जल आ जाने में शोक अर्थात् करुणा के अंकुर-मात्र की व्यंजना है।

"भौंरन को लैके दच्छिन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौं किते रहे ;
कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल बसंत,
मतिमंत मेरे कंत के सहायक जिते रहे।
लागत बिरह-जुर जोर तें पवन ह्वै कै,
परे घूमि भूमि पै सम्हारत निते रहे ;
रति को बिलाप देखि करुनाअगार कछु
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चिते रहे।"

रति की विकलता देखकर श्रीशंकर के हृदय में करुणा उत्पन्न होने में शोक भाव है। 'कुछ' शब्द अपूर्णता-सूचक है, अतः करुण का परिपाक नहीं।

( ४ ) क्रोध—यह गुरु और बंधुजनों के वध करने के अपराध आदि से एवं कलह, विवाद आदि से उत्पन्न होता है। जहाँ साधारण अपराध के कारण क्रूर वाक्य कहे जाते हैं, वहाँ 'अमर्ष' संचारी भाव होता है।

उदाहरण—

"इस भीरु भाषण पर अचानक त्वरित मारे खेद के
कण धर्मराज-ललाट पर भी आ गए कुछ स्वेद के;
मुख पर अचानक रक्तता की कुछ झलक-सी आ गई,
रवि के निकट मानो पहुँच शशि पर मलिनता छा गई।"

( अज्ञातवास )

कीचक के अत्याचार से व्यथित द्रौपदी के वाक्य सुनकर विराट राजा के समीपस्थ महाराज युधिष्ठिर के मुख के कुछ रक्त हो जाने के कथन में क्रोध भाव की व्यंजना है। अन्य सामग्री के अभाव में रौद्र रस का परिपाक नहीं। और भी—

भीषम-रन-कौसल निरखि मान न जिय कछु त्रास;
भृगुनंदन के दृगन में भयो अरुन आभास।

यहाँ भी परशुरामजी के नेत्रों में, भीष्मजी के साथ युद्ध करते समय, अरुणता के आभास में क्रोध भाव की व्यंजना है।

( ५ ) उत्साह—कार्य करने में आवेश होने को उत्साह कहते हैं। यह धैर्य और शौर्यादि से उत्पन्न होता है।

उदाहरण—

भट-हीन मही मिथिलेस कही,
सो सुनी सहि क्यों निज वंस लजाऊँ;
यह जीरन चाप चढ़ाइबो का,
सिसु-छत्रक ज्यों छिन माँहि तुराऊँ।
भुवि-खंड कहा ब्रह्मंड अखंड
उठाकर कंदुक लौं जु अमाऊँ;
रघुराज को हौं लघु डावरो हू,
प्रभु ! रावरो जो अनुसासन पाऊँ।

यहाँ उत्साह भाव की व्यंजना है। 'रावरो जो अनुसासन पाऊँ' के कारण वीर-रस की अभिव्यक्ति में अपूर्णता है। इसी प्रकार—

"तेरी ही निगाह को निहारते सुरेस सेस,
गिनती कहा है और नृपति विचारे की;
को हो तिहुँलोकन में राजा दुरजोधन जो,
करतो बिनै ना आन चनंन तिहारे की
'बेनी द्विज' रन में पुकारि कहै भीषम यों,
देख तो बहार वीर बानन हमारे की;
छाँह पांडु-दल की ना दिखाती या दुनी में कहूँ,
होती ना पनाह जो पै पीत पटवारे की।"

दुर्योधन के प्रति भीष्मजी के इन वाक्यों में उत्साह-भाव की व्यंजना है। 'होती न पनाह जो पै पीत पटवारे की' से वीर-रस का परिपाक रुक गया है।

( ६ ) भय—सर्प, सिंह आदि हिंसक प्राणियों के देखने पर और प्रबल शत्रु आदि से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है। उदाहरण—

काली-ह्रद काली लख्यो वनमाली ढिग आतु ;
मंद-मंद गति भीत ज्यों चलन लग्यो विकलातु।

यहाँ 'भीत ज्यों' के कथन से 'भय' भाव-मात्र की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"निज चित्त में कर सूर्य साक्षी, द्रौपदी ने यों कहा—
अतिरिक्त पतियों के कभी कोई न इस मन में रहा।
भगवान् ! तुम्ह संतुष्ट हो जो जानकर इस मर्म को,
तो दुष्ट कीचक कर न पावै नष्ट मेरे धर्म को।"
( अज्ञातवास )

सुदेष्णा द्वारा प्रेषित कीचक के समीप जाती हुई द्रौपदी के इन वाक्यों में 'भय'-भाव की व्यंजना है, भयानक रस नहीं।

( ७ ) जुगुप्सा—घृणित वस्तु को देखने आदि से घृणा उत्पन्न होना जुगुप्सा है।

उदाहरण—

सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल,
तिय-सुभाव सिय हठि कछुक मुख फेरयो तिहिं काल।

यहाँ 'कछुक मुख फेर्‌यो' के कारण जुगुप्सा भाव की व्यंजना है।

(८) विस्मय—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से आश्चर्य उत्पन्न होना विस्मय है। उदाहरण—

सुर नर सब सचकित रहे पारथ को रन देखि;
पै न गिन्यो यदुनाथ अति करन-पराक्रम पेखि।

यहाँ अर्जुन के रण-कौशल के विषय में विस्मय भाव-मात्र की व्यंजना है। 'पै न गिन्यो' से अद्भुत रस का परिपाक नहीं।

(९) शम अथवा निर्वेद—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से विषयों में वैराग्य उत्पन्न होना 'शम' है।

सबहि सुलभ नित विषय-सुख क्यों तू करतु प्रयास;
दुर्लभ यह नर-तन समुझि करहु न वृथा विनास।

वैराग्य का उपदेश होने से यहाँ निर्वेद भाव-मात्र है, शांत रस नहीं। इसी प्रकार—

"महा मोह कंदनि में जगत निकंदिन में
दिन दुख-दंदिन में जात है बिहाय कै;
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
'सेनापति' याही तें कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घर-बार परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज बिसराय कै;
हरिजन-पुंजनि में वृंदावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि छाँह कहूँ वृच्छन की जाय कै।"

यहाँ वैराग्य की इच्छा-मात्र है, अतः निर्वेद भाव है, न कि शांत रस। जहाँ इष्ट-वियोगादि से उत्पन्न निर्वेद होता है, वहाँ उस निर्वेद को संचारी संज्ञा है, जैसा कि पहले कह आए हैं।

ये 'रति' आदि भाव शृंगार आदि नौ रसों के स्थायी भाव हैं। जैसे (१) शृंगार का रति, (२) हास्य का हास, (३) करुण का शोक, (४) रौद्र का क्रोध, (५) वीर का उत्साह, (६) भयानक का भय, (७) बीभत्स का जुगुप्सा, (८) अद्भुत का विस्मय और (९) शांत रस का निर्वेद। इस प्रकार प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव नियत है। ये नौ भाव अपने नियत रस में ही स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। इनकी अपने-अपने रस में ही अंत तक (रसानुभव होता रहे, तब तक) स्थिति रहती है। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में इनमें से कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वह वहाँ स्थायी न रहकर व्यभिचारी हो जाता है। उसकी स्थिति वहाँ स्थायी रूप में अंत तक अपेक्षित नहीं रहती, वहाँ वह उत्पन्न और विलीन होता रहता है। जैसे शृंगार-रस का स्थायी भाव रति नियत है, वहाँ तो वह स्थिर रहता है, किंतु हास-भाव, जो हास्य-रस का स्थायी है, शृंगार और वीर-रस में उत्पन्न और विलीन होते रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार वीर-रस में 'क्रोध'; शांत और भयानक में 'जुगुप्सा'; हास्य, करुण एवं शांत रस में 'रति'; रौद्र रस में 'उत्साह'; शृंगार-रस

में 'भय'; संचारी हो जाता है। विस्मय अद्भुत के सिवा अन्य सभी रसों में संचारी हो जाता है[1]—

'रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः;
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः।'

(अलंकार-रत्नाकर)

जब रति आदि भावों का नियत रस में प्रादुर्भाव होता है, तब ये विभावानुभावादि द्वारा रस अवस्था को पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में इन स्थायी भावों एवं रसों में कोई भिन्नता नहीं रहती। रसों के जो लक्षण आगे दिखाए जायँगे, वे इन स्थायी भावों के लक्षण भी हैं। इसलिये यहाँ केवल इनकी अपरिपक्व अवस्था के ही उदाहरण दिए गए हैं।

इस विषय में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब रति आदि भाव भी अपने नियत रस से अतिरिक्त रसों में व्यभिचारी हो जाते हैं, फिर इन्हें ही स्थायित्व का महत्त्व क्यों? निर्वेदादि अन्य संचारी भावों को क्यों नहीं? भरत मुनि कहते हैं—"सभी मनुष्यों के हाथ-पैर आदि समान होने पर भी कुल, विद्या और शील आदि के कारण कुछ मनुष्य राजत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार विशेष गुणशाली होने के कारण—रस अवस्था को प्राप्त करने की सामर्थ्य होने के कारण—रति आदि ही स्थायित्व की प्रतिष्ठा के योग्य हैं।"

---

१ देखिए, उद्योत-सहित काव्यप्रदीप, आनंदाश्रम-संस्करण, सन् १९११, पृष्ठ १२३-१२४ और २८१।

स्थायी भावों के अपने नियत रस से अन्यत्र व्यभिचारी हो जाने के विषय में यह बात है कि जैसे किसी विशेष प्रांत के राजा के अन्यत्र जाने पर वहाँ उसकी शासन-शक्ति न रहने पर भी वह अपने प्रांत का राजा बना रहता है, इसी प्रकार स्थायी भावों के अन्यत्र व्यभिचारी हो जाने पर भी वे अपने-अपने रस के स्थायित्व के विशेषाधिकार से च्युत नहीं होते। अस्तु।

## स्थायी भावों की रस अवस्था

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है[१]। व्यक्त का अर्थ दूसरे रूप में परिणत हो जाना है, जैसे दूध से दही। इसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जो सामाजिकों के अंतःकरण में वासना रूप से पहले से ही स्थित रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही रूपांतर होकर रस-रूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नवीन पात्र में यद्यपि गंध पहले से ही विद्यमान रहती है, तथापि प्रतीत नहीं होती, किंतु जल के संयोग से व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय जनों के हृदय में पूर्वानुभूत (पहले अनुभव किए हुए) रति आदि मनोविकार अव्यक्त रहते हैं, किंतु काव्य के श्रवण या पढ़ने से अथवा नाटक के देखने से उन रति आदि मनोविकारों में विभावादि

---

१ 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्मृतः' (काव्य-प्रकाश, ४।२८)

का ( शकुंतला आदि के वर्णन या दृश्य का ) संयोग होने से वे रति आदि भाव जाग्रत् हो जाते हैं, और आनंदानुभव होने लगता है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रति आदि स्थायी भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप बतलाए गए हैं, किंतु इनकी यह कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीति रस के उद्‌बोध की प्रथमावस्था में ही होती है—रस के उद्‌बोध के समय यह पृथक्ता प्रतीत नहीं होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा ( जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी ) ये तीनों समूह-रूप से रस को व्यक्त करते हैं, अतएव उस समय ये तीनों समूह-रूप से कारण रूप हो जाते हैं—अर्थात् रस के आनंदानुभव के समय ये तीनों अपनी पृथक्ता को छोड़कर, समूह-रूप से संयोग पाकर, स्थायी भाव को, प्रपानक रस की तरह, अखंड एक रस-रूप में परिणत कर देते हैं। जैसे जल में डालने के प्रथम चीनी, मिरच, हींग, नमक और जीरे आदि का स्वाद भिन्न-भिन्न रहता है, किंतु इनके मिलने पर उनका वह भिन्नत्व न रहकर जीरे के जल की तरह प्रपानक रस ( पिए जानेवाले पदार्थ ) का एक विलक्षण आस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखंड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिप्राय

यह कि विभावादि के सम्मिलित होने पर ही उनके व्यंजनीय रस की व्यंजना हो सकती है। केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव स्वतंत्र रूप से किसी रस की व्यंजना नहीं कर सकते। क्योंकि, विभाव आदि स्वतंत्र रूप से किसी रस के नियत नहीं हैं। जैसे सिंह आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होने से, भयानक रस में, आलंबन विभाव होते हैं, किंतु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलंबन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलंभ-शृंगार के अनुभाव हैं। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिंता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलंभ-शृंगार के संचारी हैं। भय और शोक में भी चिंता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के भी ये संचारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहकर किसी विशेष रस के व्यंजक नहीं हो सकते। जो विभाव, अनुभाव और संचारी एक साथ जिस विशेष रस के होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों मिले हुए किसी भी दूसरे रस में नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनो के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है।

कहीं-कहीं अनुभाव और संचारी के विना केवल विभाव,

कहीं विभाव और संचारी के विना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के विना केवल संचारी ही दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ भी रस की व्यंजना होती है। इस अवस्था में यह प्रश्न होता है कि विभावादि तीनो के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, अनुभाव या संचारी ही होते हैं, वहाँ भी रस की व्यंजना तो विभावादि तीनो के सम्मेलन द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यंजनीय रस का असाधारण संबंधी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यंजना नहीं होने देता। और, उस एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा देता है।

केवल विभाव के वर्णन का उदाहरण—

नभ में घनघोर ये स्याम घटा अति जोर-भरी घहरान लगी,
पिक, चातक, मोरन की धुनिहू चहुँओरन धूम मचान लगी;
मलयानिल सीतल मंद अली! मदनानल को धधकान लगी,
निरखे छिन पीतम पायँ परे? रहि है कबलौं अब मान-पगी?

ये मानिनी नायिका के प्रति सखी के वाक्य हैं। यहाँ यद्यपि 'नायिका' आलंबन-विभाव और 'वर्षा-काल' उद्दीपन विभाव है, अनुभाव तथा संचारी भाव नहीं हैं, पर 'मानिनी नायिका' विप्रलंभ-शृंगार का असाधारण आलंबन-विभाव

है—इसके द्वारा दूसरे किसी रस की व्यंजना नहीं हो सकती। केवल आलंबन और उद्दीपन विभावों के बल से अंगों का वैवर्ण्य होना आदि अनुभाव और चिंता आदि संचारी भावों की आवश्यक प्रतीति हो जाती है। क्योंकि वर्षाकालिक कामोद्दीपक विभावों द्वारा वियोगावस्था में चिंता आदि मनोविकार और विवर्णता आदि चेष्टाओं का होना अवश्यंभावी है। अतएव विभावादि तीनों के समूह से यहाँ विप्रलंभ-शृंगार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल अनुभाव के वर्णन का उदाहरण—

कर-मर्दित मंजु मृनालिनि ज्यों द्युति अंगन की मुरझाय रही,
सखियान ही के समुझावन सों कुछ काम में चित्त लगाय रही;
नव-खंडित दंतिन-दंतन-सी[1] त्यों कपोलन पीतता छाय रही,
निकलंक मयंक[2]-कला-छवि की समता तनुता तन पाय रही।

यह मालती की विरहावस्था का वर्णन है। यहाँ अंगों का मुरझाना, अन्यमनस्क होना, कपोल पीत हो जाना आदि वियोगावस्था के अनुभाव हैं—आलंबन, उद्दीपन तथा संचारी भाव नहीं हैं। उक्त अनुभावों के बल से 'वियोगिनी नायिका' आलंबन विभाव का और चिंता आदि संचारी भावों का आक्षेप हो जाता है। क्योंकि अंगों का मुरझाना आदि चेष्टाएँ (जो कि अनुभाव हैं) वियोग-दशा में चिंता आदि से ही उत्पन्न

---

१ तुरत के कटे हुए हाथी के दाँत के समान। २ चंद्रमा।

होती हैं, अतः इन अनुभावों द्वारा उनका बोध हो जाता है। अतएव यहाँ विभावादि तीनो के समूह से वियोग-शृंगार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल व्यभिचारी भावों के वर्णन का उदाहरण—

दूर दिखराए उतकंठ सों भराए घने,
आवत ही नेरे फेर वैसे सतराए हैं;
बोलैं विकसाए, अरुनाए हैं छुवात गात,
खैंचत दुकूल भौंह साथ कुटिलाए हैं।
विनै सों मनाए तो हू क्यों हूँ समुहाए नाहिं,
चरन निपात भए आँसुन भराए हैं;
पीतम हताश ह्वै कै जात फिरि आवत ही,
मानिनी के दृगन अनेक भाव छाए हैं।

मानिनी नायिका को मानमोचनोपाय से प्रसन्न करने में निराश होकर जाता हुआ नायक जब लौटकर आया, उस समय नायिका के अनेक भाव-गर्भित नेत्रों का यह वर्णन है। मानिनी नायिका को प्रसन्न करने में हताश होकर जाते हुए नायक के दूर रहने तक नायिका के नेत्र इस शंका से कि 'वह यहाँ आता है या चला ही जाता है' उत्सुक हुए; उसके लौटकर समीप आने पर इस लज्जा से कि 'यह मेरी उत्सुकता को जान गया' वे टेढ़े बन गए; जब वह संभाषण करने लगा, तब उसकी अपूर्व बातें सुनकर हर्ष से वे विकसित अर्थात् प्रफुल्लित दिखाई पड़ने लगे; जब वह आलिंगन करने लगा,

तब इस अमर्ष से कि 'मुझे प्रसन्न किए बिना ही स्पर्श करना चाहता है' क्रोध से रक्त हो गए; जब नायिका क्रुद्ध होकर जाने लगी, तब अपने वस्त्र को पकड़ता हुआ उसे देखकर असूया से भौंहों के साथ वे भी टेढ़े हो गए; आख़िर जब नायक उसके पैरों पर गिर पड़ा, तब इस भाव से कि 'तुम्हारे इन आचरणों से मैं तंग हो गई हूँ' आँसू गिरने लगे। यहाँ केवल उत्सुकता, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया और प्रसाद व्यभिचारी भाव ही हैं। विभाव अनुभाव नहीं[१] हैं। इन व्यभिचारियों द्वारा ही संभोग-शृंगार के विभाव, अनुभावों की प्रतीति हो जाती है, और इन सबके समूह से संभोग-शृंगार व्यक्त होता है।

इस प्रकार जहाँ स्पष्ट रूप में, केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी होता है, वहाँ उपर्युक्त रीति से अन्य दो भावों का आक्षेप होकर तीनों के समूह से ही रस की व्यक्ति हुआ करती है।

## रस का आस्वाद

रति आदि मनोविकार ( स्थायी भाव ) नायक-नायिकादि आलंबन विभावों में उत्पन्न होते हैं और विभावादि के संयोग

---

१ यद्यपि यहाँ 'नायक' आलंबन-विभाव का वर्णन तो है, पर वह अपराधी होने से संभोग-शृंगार का उसे आलंबन-विभाव नहीं माना जा सकता।

से रस रूप हो जाते हैं। अतः नायक-नायिकादि को ही रसानंदानुभव होना चाहिए। काव्य और नाटकों में जिन पूर्वकालीन दुष्यंत-शकुंतलादि के चरित्र का वर्णन या अभिनय होता है, वे सामाजिकों[१] के प्रत्यक्ष नहीं रहते, और न उनसे सामाजिकों का कुछ संबंध ही रहता है। ऐसी अवस्था में दुष्यंत आदि की रति का आनंद, अर्थात् रस का आस्वाद, सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? इस विषय का साहित्याचार्यों ने बहुत गवेषणा-पूर्ण विवेचन किया है। इस विषय में भरत मुनि के—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

सूत्र को आधारभूत मानकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् मत का प्रतिपादन किया है।

भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट का कहना है कि दुष्यंत-शकुंतला के अभिनय में दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम (रति आदि मनोविकारों) का जो आनंदानुभव सामाजिकों को होता है, वह वास्तव में दुष्यंत आदि में ही उद्भूत हुआ था (अर्थात् उसका वास्तविक आनंद उन्हें ही हुआ था), न कि नाट्य पात्रों में। परंतु सामाजिक नाट्य पात्रों में उनका (दुष्यंत आदि का) आरोप कर लेते हैं—दुष्यंत आदि और

---

१ काव्य के पाठक एवं श्रोता तथा नाटक के दर्शक ही सामाजिक कहे जाते हैं।

नाट्य पात्रों में भिन्नता का अनुभव करते हुए ( अर्थात् नाट्य पात्रों को वास्तव में दुष्यंत आदि न समझते हुए ) नाट्य पात्रों में दुष्यंत आदि का आरोप[1] कर लेते हैं और रसानुभव करने लगते हैं।

श्रीशंकुक, जो द्वितीय व्याख्याकार हैं, इस कल्पना को भ्रम-मूलक बताते हैं। उनका कहना है कि सामाजिक नाट्य पात्रों में दुष्यंत आदि का अनुमान करते हैं, न कि आरोप। अर्थात् नाट्य पात्रों में और दुष्यंत आदि में अभिन्नता का अनुभव करते हुए नाट्य पात्रों में ही दुष्यंत आदि का अनुमान कर लेते हैं। और, यह अनुमिति-ज्ञान सामाजिकों को रस का आस्वादन कराता है।

अपने इस मत के प्रतिपादन में श्रीशंकुक कहते हैं—

( १ ) जिनमें रति आदि मनोविकार होंगे, उन्हें ही रस का आस्वादन होगा। दुष्यंत-शकुंतला आदि में उद्भूत रति आदि स्थायी भावों का दर्शकों को कैसे आस्वाद हो सकता है ? दुष्यंत-शकुंतला का ज्ञान ही सामाजिकों को रस का आस्वादन कराता है, यह कहना युक्ति-युक्त नहीं। क्योंकि यदि दुष्यंत आदि के ज्ञान-मात्र से ही रस का अनुभव होने लगे तो उनके नामोच्चारण से ही रस का आस्वाद होना चाहिए—

---

१ किसी दूसरी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म की बुद्धि कर लेने को आरोप कहते हैं। जैसे नट के दुष्यंत न होने पर भी उसे दुष्यंत समझ लेना।

सुख का नाम लेने से ही सुख होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता।

( २ ) संसार में जो चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं१, उनके अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है। जैसे किसी वस्तु के चित्र को देखकर उस वस्तु का अनुमान करना—जैसे घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोड़ा है' यह ज्ञान होना। इसी चित्र-तुरग-न्याय२ से उपर्युक्त अनुमान होता है।

( ३ ) नट शिक्षा और अभ्यास द्वारा अनुकरणीय३ चेष्टाओं में निपुण होता है, अतः अभिनय के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि 'मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ'। उस समय वह अपने को दुष्यंतादि ही समझने लगता है। और, उनकी सारी अवस्थाएँ अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास और—

---

१ क—सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान—जैसे देवदत्त को देवदत्त समझना।

ख—मिथ्या ज्ञान—जैसे जो देवदत्त नहीं है, उसको देवदत्त समझ लेना।

ग—संशय ज्ञान—जैसे यह देवदत्त है या नहीं ?

घ—सादृश्य ज्ञान—जैसे यह देवदत्त के समान है।

२ चित्र में लिखे घोड़े को देखकर उसको 'यह घोड़ा है' ऐसा ही सब कहते हैं, न कि यह घोड़े-जैसा है। ३ शकुंतलादि की चेष्टाओं की नक़ल करने में।

"दृग चौंकत कोए चले चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू,
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू;
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू,
हम खोजत जाति ही पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।"

(राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला अनुवाद)

इत्यादि काव्य के अनुसंधान से वह विभावादिकों को प्रकट करता है, जिससे नट की चेष्टाएँ कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होतीं। अतः सामाजिक दुष्यंतादि की रति आदि भावों का अनुमान करने लगते हैं। यद्यपि वे रति आदि का दुष्यंतादि के ज्ञान से ही अनुमान करते हैं, परंतु रति आदि स्थायी भावों के चमत्कार के प्रभाव से, वस्तुतः सामाजिकों में रति आदि स्थायी न होने पर भी, उनको रस का आनंदानुभव होने लगता है। इसी प्रकार नट भी यद्यपि दूसरों का ही अनुकरण करते हैं, परंतु शिक्षा और अभ्यास के प्रभाव से वे भी अनुकृति के समय 'हम किसी का अनुकरण कर रहे हैं' ऐसा अनुसंधान नहीं रखते। अतएव उनको भी रसास्वाद होने लगता है।

तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक श्रीशंकुक के मत का भी खंडन करते हैं। उनका कहना है कि अनुमान ज्ञान की कल्पना सर्वथा निस्सार है। एक व्यक्ति में उद्भूत रस का अन्य व्यक्ति अनुमान से आस्वादन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान से ही आस्वादन कर सकता है। रसास्वाद भी प्रत्यक्ष ज्ञान से ही

होता है। रस का न तो नाट्य पात्रों में अनुमान होता है, और न यह अनुमान से सामाजिकों को अपने में स्थित हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में सामाजिकों को भोगात्मक रसास्वाद होता है। वे अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्य की क्रियाएँ रस के उद्‌बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावना और भोग—

'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

'भावना' का व्यापार है साधारणीकरण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्‌भूत रति आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत संबंध छोड़कर, सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यंत-शकुंतलादि के प्रेम से उनका ( दुष्यंत-शकुंतलादि का ) व्यक्तिगत संबंध न रहकर सामान्य दांपत्य प्रेम की प्रतीति होना।

'भोग' व्यापार द्वारा, भावना के महत्त्व से, साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है—'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदसंविद्विश्रांतिः'। अर्थात् सत्त्व-गुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनंद का ज्ञान[1]—आनंद

---

१ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक ( प्राधान्य ) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक ( या प्राधान्य ) का अर्थ है अपने भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण, तमोगुण को दबाकर

का अनुभव। और यह आनंदानुभव वेद्यांतरसंपर्क-शून्य (अन्य संबंधी ज्ञान से रहित) है, अतएव लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, और भोग-व्यापार द्वारा इसका आस्वाद होता है।

भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य-नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसको भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि काव्य-नाटकों में जो श्रवण और दृष्टिगत होता है, वह किसी दूसरे से संबंध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और आत्मचैतन्य से प्रकाशित[1] और साधारणीकृत (साधारण रूप में

---

सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का स्वभाव आनंद का प्रकाश करना है। और उस आनंद का अनुभव 'भोग' है।

१ 'आत्मचैतन्य से प्रकाशित' कहने का भाव यह है कि आत्मा और अंतःकरण दो दर्पण रूप हैं। उनमें आत्मा रूप दर्पण चैतन्य-मय आनंद-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है, और अंतःकरण रूप दर्पण रजोगुण एवं तमोगुण के आवरण से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से, रजोगुण, तमोगुण दब जाने से, वह (अंतःकरण रूप दर्पण) भी स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अंतःकरण रूप दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनंद-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिंब (या प्रकाश कहिए) पड़ता है, तो वह भी आनंद-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में अभिमुख वस्तु के प्रतिबिंब के पड़ने से उसका (दर्पण का) तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

उपस्थित ) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।

अभिनव गुप्ताचार्य और आचार्य मम्मट, भट्ट नायक के मत को भी निराधार बतलाते हैं। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि का व्यंग्य-व्यंजक ( प्रकाश्य और प्रकाशक ) संबंध है, अर्थात् सामाजिकों के अंतःकरण में जो रति आदि मनोविकार पहले से ही वासना[1] रूप में स्थित रहते हैं, वे विभावादि के संयोग से व्यंजना-वृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा जाग्रत् हो जाते हैं, यही रसास्वाद है।

ये महानुभाव भी भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को मानते हैं, किंतु इनका मत है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही[2]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यंजना द्वारा व्यंजित होकर ही हो सकती है, अर्थात् ये भी अंततः व्यंजना

---

१ पहले किसी समय अपनी रति ( प्रेम-व्यापार ) आदि के आनंद का जो अनुभव होता है, और उसका जो अंतःकरण में एक संस्कार हो जाता है, उसी संस्कार को वासना कहते हैं। २ 'न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्'... ..'भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते' ( ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ७० )

पर ही अवलंबित है१। निष्कर्ष यह कि साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं, किंतु व्यंजना का विभावन व्यापार है। साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक२ विभावादिकों को 'ये मेरे ही हैं' या 'ये दूसरे के हैं' अथवा 'ये मेरे नहीं हैं' या 'ये दूसरे के नहीं हैं' इस प्रकार के किसी विशेष संबंध का अनुभव नहीं करते। अर्थात् अपने को और काव्य-नाटकों के दुष्यंत-शकुंतलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं, उनको 'मैं दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं रहता, और न यही ज्ञान रहता है कि 'मैं अपने प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव कर रहा हूँ'। किंतु सामाजिक काव्य-नाटकों के विभावों के प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव अभिन्नता से करते हैं। क्योंकि यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को काव्य-नाटकों के दुष्यंतादि विभावों में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार आदि की प्रतीति

---

१ त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति।......भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत् (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ७०)

२ अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मट के मतानुसार 'सामाजिक' काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा आदि से उनकी पारस्परिक रति आदि का अनुभव करने में सुदक्ष हों, जिनको तत्काल ही उनकी रति आदि का अनुभव हो जाता हो।

होती है तो ऐसा होने में लज्जा और पापाचरण[1] आदि दोष आते हैं, और यदि यह कल्पना की जाय कि उनको ( सामाजिकों को ) दुष्यंतादि के प्रेम-व्यापार का ही आनंदानुभव होता है तो प्रथम तो साक्षात् संबंध न होने के कारण अन्यदीय प्रेम-व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनंदानुभव हो ही नहीं सकता, फिर अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निंद्य है—ऐसी दशा में काव्य-नाटकों द्वारा आनंदानुभव कहाँ ? अतएव रस के व्यक्त करनेवाले जो विभावादि हैं, उनमें रस प्रकट करने की शक्ति व्यक्तिगत विशेष संबंध हटाकर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण ही है । फलतः साधारणीकरण का महत्त्व तो अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य को भी मान्य है। किंतु ये उसे भावना का व्यापार न मानकर व्यंजना का व्यापार बतलाते हैं, अर्थात् जैसे मिट्टी के नवीन पात्र में गंध पहले से रहती है, पर वह अव्यक्त ( अप्रकट ) रहती है, प्रतीत नहीं होती, किंतु जल का सयोग होते ही वह तत्काल व्यक्त ( प्रकट ) हो जाती है । इसी प्रकार सामाजिकों के अंतः-करण में रति आदि की वासना पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है। वह काव्य-नाटकों में व्यंजना के अलौकिक व्यापार साधारणीकरण के प्रभाव द्वारा, अर्थात् साधारण रूप में उपस्थित विभावादि व्यंजकों द्वारा, अभिव्यक्त ( जाग्रत् )

---

१ शकुंतला आदि सम्मान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण है ।

हो जाती है, और वासना का जाग्रत् होना ही रसास्वाद है।

## रस अलौकिक है

दुष्यंत-शकुंतलादि आलंबन विभाव, चंद्रोदयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अनुभाव एवं व्रीड़ा आदि संचारी यद्यपि लौकिक है, तथापि काव्यनाटकांतर्गत होने से उनमें विभावन आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिकों को अलौकिक कहते हैं। अब विभावादि अलौकिक हैं, तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिए, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। फिर शृंगारादि लौकिक रस उनके द्वारा किस प्रकार व्यक्त होते हैं? वास्तव में रस का चमत्कार अलौकिक ही है। क्योंकि—

(१) शकुंतला आदि के विषय में दुष्यंत आदि के हृदय में जो रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दांपत्य रति थी—उसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने से वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने के कारण एवं पर-रहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण, रसास्वाद के अयोग्य हो जायगी। वास्तव में काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतलादि की रति विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा अपने पराएपन के भेद से रहित होने के कारण लज्जास्पद न रहकर रस का आस्वाद कराती है। अतएव रस अलौकिक है।

( २ ) दुष्यंत-शकुंतला आदि में जो रति उत्पन्न हुई, उसका आनंद दुष्यंत-शकुंतलादि तक ही परिमित था। किंतु काव्य-नाटकों में विभावादि द्वारा प्रदर्शित रति-स्थायी भाव, जो रस-रूप में व्यक्त होता है, वह दुष्यंतादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टाओं के द्वारा एक ही साथ समान रूप से आस्वादित होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण लोकोत्तर है।

( ३ ) लौकिक पदार्थ या तो ज्ञाप्य[१] होते हैं या कार्य-रूप। रस ज्ञाप्य नहीं। घट-पट आदि लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक—दीपकादि—से ढके जाने पर प्रतीत नहीं हो सकते, पर रस अपनी स्थिति में कभी व्यभिचरित[२] नहीं होता। और न रस कार्य रूप ही है।

चंदन के स्पर्श का ज्ञान जिस क्षण में होता है, उस क्षण में चंदन के स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थात् कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। अतएव विभावादिकों को कारण और रस को कार्य माना जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति न

---

१ जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे ज्ञाप्य कहते हैं। जिसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे ज्ञापक कहते हैं। जैसे अँधेरे में दीपक से घड़े आदि का ज्ञान होने में घड़ा ज्ञाप्य है और दीपक ज्ञापक। २ व्यभिचरित का अर्थ यहाँ 'प्रतीति न होना' है।

होनी चाहिए। किंतु 'रस' और विभावादि समूहालंबनात्मक[1] हैं—रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति भी होती रहती है। अतएव रस को कार्य नहीं कहा जा सकता।

यदि यह शंका की जाय कि 'रस' कार्य नहीं है, तो फिर 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र में विभावादिकों को 'रस' के कारण क्यों कहे गए हैं? इसका समाधान यह है कि रस की चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्वणा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव में चर्वणा की उत्पत्ति ही रस है। और लोक-व्यवहार में रस को विभावादि का कार्य कहना केवल उपचार[2]-मात्र है।

(४) लौकिक वस्तु की तरह 'रस' नित्य नहीं है—नित्य वस्तु असंवेदन[3]-काल में नष्ट नहीं हो सकती, पर रस असंवेदन-

---

१ जैसे घट, पट, लकुटादि बहुत-से पदार्थों पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह रूप से प्रतीत होते हैं, और जैसे दीपक के प्रकाश में अन्य घट-पटादि पदार्थों के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, जो स्थायी भाव को व्यक्त (प्रकाश) करते हैं, स्थायी भाव के साथ प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार अनेक पदार्थों का समूह रूप से एक ही साथ प्रतीत होना समूहालंबन ज्ञान है।

२ किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष संबंध के कारण, दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार है। ३ ज्ञान के अभावकाल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता, उस समय।

काल में नहीं होता। अर्थात् रस की विभावादि के ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। अतएव रस अलौकिक है।

( ५ ) लौकिक पदार्थ भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान होते हैं। रस न तो भविष्य में होनेवाला है, और न भूतकालीन ही। यदि ऐसा होता तो उसका साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कल होनेवाली वस्तु का या जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता; और न 'रस' को वर्तमान ही कह सकते, क्योंकि वर्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किंतु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य।

( ६ ) लौकिक वस्तु के समान 'रस' निर्विकल्पक ज्ञान[१] का विषय नहीं है। क्योंकि इसमें नाम, रूप, जाति आदि किसी विशेष प्रकार के संबंध का भान नहीं होता। किंतु रस विशेष रूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में शृंगार, हास्य, करुण आदि रस विशेष रूप से विदित होते हैं।

रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के विषय, घट-पटादि सभी, शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं, किंतु 'रस' शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'रस-रस' पुकारने से आनंदानुभव नहीं हो सकता। जब वह विभावादि द्वारा व्यक्त होता है,

---

१ घट-पट आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

अर्थात् व्यंजना द्वारा व्यंजित होता है, तभी आस्वादनीय हो सकता है। यह भी अलौकिकता है।

(७) रस का ज्ञान परोक्ष नहीं। परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किंतु रस का साक्षात्कार होता है। 'रस' अपरोक्ष भी नहीं। अपरोक्ष पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, किंतु रस दृष्टिगत नहीं हो सकता। उसकी केवल शब्दार्थ द्वारा व्यंजना होती है।

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान का विषय, सविकल्पक ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं, सभी का रस में अभाव है, तो फिर वह है क्या वस्तु? और उसके अस्तित्व का प्रमाण ही क्या है? वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखंड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिये रसास्वाद को 'ब्रह्मानंदसहोदर[1]' कहा गया है। जैसे ब्रह्मानंद का अनुभव विरल योगिराज ही कर सकते हैं, उसी प्रकार

---

[1] 'ब्रह्मानंद' से यहाँ संप्रज्ञात (सविकल्पक) समाधि से तात्पर्य है। क्योंकि उसी में आनंद और अस्मिता आदि आलंबन रहते हैं। पातंजल सूत्र में कहा है—"वितर्कविचारानंदास्मितास्वरूपानुगमात् संप्रज्ञातः।"—समाधिपाद, सू० १७। इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलंबन रहते हैं, अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनंद के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, न कि असंप्रज्ञात समाधि के समान, क्योंकि वह निरालंब है।

रस का आस्वादन भी विरल सहृदय जन ही कर सकते हैं—"पुण्यवन्तः प्रपिबन्ति योगिवद्रससंततिम् ।" और रस के अस्तित्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञों की चर्वणा अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा ( आस्वाद ) से रस अभिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आनंदानुभव को ही 'रस' कहा जाता है, तो करुण, वीभत्स और भयानक आदि द्वारा जब प्रत्यक्षतः दुःख, घृणा और भय आदि उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें रस क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि शोकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार है—श्रीराम-वनगमनादि लोक में ही दुःख के कारण होते हैं। जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं, या नाटिकाभिनय में दिखाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभावादि द्वारा उनसे आनंद ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के कारण ही क्यों न हों। यदि करुण आदि रस दुःखोत्पादक होते तो करुणादि-प्रधान काव्य-नाटकों को कौन सुनता और देखता ? पर वास्तव में ऐसे काव्य-नाटकों को भी, शृंगारात्मक काव्य-नाटकों के समान, सभी सहर्ष सुनते और देखते हैं। इसमें सहृदय जनों का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान हरिश्चंद्रादि के चरित्रों द्वारा सामाजिकों के अश्रुपातादि अवश्य होते हैं, किंतु वे चित्त के

द्रवीभूत होने से होते हैं। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं, आनंद भी है। अतः आनंद-जन्य अश्रुपात भी होते हैं[१]।

## रसों के लक्षण और उदाहरण

रस नौ हैं—

(१) शृंगार।
(२) हास्य।
(३) करुण।
(४) रौद्र।
(५) वीर।
(६) भयानक।
(७) बीभत्स।
(८) अद्भुत। और
(९) शांत।

कुछ आचार्यों का मत है कि शांत रस की व्यंजना केवल श्रव्य-काव्य में ही हो सकती है, दृश्य-काव्य—नाटकादिकों—में नहीं। "एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः[२]" नाट्य-शास्त्र की इस कारिका द्वारा स्पष्ट है कि भरत मुनि ने नाट-

१ "आनंदामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्। अनिमेषप्रेक्षणतःशीतात्रोगाच्चवेदास्त्रम्" (नाट्यशास्त्र गायकवाड़ सं० ७।१४१)

२ नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, ६।१०६।

कादिकों में भी शांत रस माना है। कुछ साहित्याचार्यों ने उक्त नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य और भक्ति आदि और भी रस माने हैं१। पर साहित्य के प्रधानाचार्य भरत मुनि इनको स्वतंत्र रस नहीं मानते। अतएव ध्वनिकार, अभिनव गुप्ताचार्य और श्रीमम्मट आदि आचार्यों ने भी नौ ही रस माने हैं। और प्रेयान् आदि रसों को 'भाव' के अंतर्गत बतलाया है।

## ( १ ) शृंगार-रस

'शृंगार' शब्द में 'शृंग' और 'आर' दो अंश हैं। शृंग का अर्थ कामोद्रेक (काम की वृद्धि) है। 'आर' शब्द 'ऋ' धातु से बना है। ऋ का अर्थ गमन है। गति का अर्थ यहाँ प्राप्ति है। अतः 'शृंगार' का अर्थ है काम-वृद्धि की प्राप्ति। कामी जनों के हृदय में रति स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त होकर काम की वृद्धि करता है, इसी से इसका नाम शृंगार है।

आलंबन—नायिका और नायक। इनके बहुत भेद हैं। विस्तार-भय से इनके उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

---

१ रुद्रट ने प्रेयान् रस और महाराजा भोज एवं विश्वनाथ ने वात्सल्य रस माना है। काव्यप्रकाशादि के मतानुसार ये दोनो पुत्रादिविषयक रति भाव के अंतर्गत हैं। भक्ति-रस को देव-विषयक रति भाव के अंतर्गत माना है। विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

१३ स्वकीया[१] के भेद—

१ मुग्धा[२]

६ मध्या[३]—

३ ज्येष्ठा[४]—धीरा[५], अधीरा[६] और धीराधीरा[७]।

३ कनिष्ठा[८]—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

६ प्रौढ़ा[९]—

३ ज्येष्ठा—धीरा[१०], अधीरा[११] और धीराधीरा[१२]।

३ कनिष्ठा—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

२ परकीया[१३] के भेद—ऊढ़ा[१४] (परोढ़ा) और अनूढ़ा[१५]

१ सामान्या[१६]

---

१ पतिव्रता। २ अंकुरितयौवना। ३ जिसमें लज्जा और काम समान हो। ४ जिस पर पति का अधिक प्रेम हो। ५ अन्यासक्त नायक पर सपरिहास वक्रोक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली। ६ अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहनेवाली। ७ अन्यासक्त नायक के सम्मुख रुदन करके कोप सूचित करनेवाली। ८ जिस पर पति का न्यून प्रेम हो। ९ केलि-कलाप-प्रगल्भा। १० अन्यासक्त नायक का बहिरूप से आदर, किंतु वास्तव में उदासीन। ११ अन्यासक्त नायक का ताड़न करनेवाली। १२ अन्यासक्त नायक को वक्रोक्ति द्वारा दुःखित करनेवाली। १३ प्रच्छन्न अन्य-पुरुष आसक्ता। १४ अन्य पुरुष की विवाहिता। १५ अविवाहिता, पिता आदि के वशीभूत रहने से परकीया है। १६ वेश्या।

प्रत्येक ये सोलह नायिकाएँ, अवस्था-भेद से, प्रोषितपतिका१, खंडिता२, कलहांतरिता३, विप्रलब्धा४, उत्का५, वासकसज्जा६, स्वाधीनपतिका७ और अभिसारिका८, ये आठ९ प्रकार की होती हैं। इस प्रकार १२८ भेद हुए। इन १२८ के प्रकृति के अनुसार तीन-तीन भेद—उत्तमा१०, मध्यमा११ और अधमा१२ होते हैं। इस प्रकार नायिकाओं के ३८४ भेद हैं।

१ जिसका नायक प्रवासी हो। २ परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिह्नित नायक को देख ईर्ष्या-कलुषित। ३ प्रार्थी नायक का अनादर कर पश्चात्ताप करनेवाली। ४ नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानिता। ५ संकेत करने पर भी नायक के कारण-वश न आने से चिंतित। ६ नायक का आना निश्चयात्मक जानकर शृंगारादि से विभूषित होनेवाली। ७ गुणों से अनुरक्त होकर नायक जिसका आज्ञानुकारी हो। ८ कामार्त होकर नायक के समीप जाने-वाली या उसको बुलानेवाली। ९ दो अवस्थाएँ और हैं—प्रवत्स्यत्-प्रेयसी (जिसका नायक प्रवास के लिये उद्यत हो) और आगत-पतिका (नायक के प्रवास से आने के समय हर्षित होनेवाली)। किंतु ये अप्रधान हैं। १० नायक के अन्यासक्त होने पर भी उसकी हितचिंतक। ११ नायक के हितकारी या अनहितकारी होने पर तदनुसार। १२ सदैव हितकारी नायक के विषय में भी अहितकारी।

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाओं के, अर्थात् तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया और एक सामान्या के, स्वभावानुसार अन्यसंभोग-दुःखिता१, वक्रोक्तिगर्विता२ और मानवती३ ये तीन-तीन भेद और हैं४।

मुग्धा के भी चार भेद और हैं—ज्ञातयौवना५, अज्ञातयौवना६, नवोढ़ा७ और विश्रब्ध नवोढ़ा८।

प्रौढ़ा के क्रियानुसार दो भेद हैं—रतिप्रिया९ और आनंदसम्मोहिता१०।

परकीया के भी कुछ और भेद होते हैं—

१ अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःखित होनेवाली। २ अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखनेवाली। ३ अन्यासक्त नायक पर कुपित होनेवाली। ४ नायिकाओं के ये सभी भेद भानुदत्त-कृत 'रसतरंगिणी' के अनुसार हैं। साहित्य-दर्पण आदि में प्रायः ये ही भेद माने गए हैं। ५ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान हो। ६ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान न हो। ७ लज्जा और भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो। ८ नायक के विषय में जिसको कुछ विश्वास हो। ९ संभोग में प्रीति रखनेवाली। १० रतिआनंद से सम्मोहित।

परकीया—
- गुप्ता[१]
- विदग्धा[२]
- लक्षिता[३]
- अनुशयाना —
  - संकेत विघट्टना[४]
  - भावी संकेत विघट्टना[५]
  - रमणगता[६]
- कुलटा[७]
- मुदिता[८]

नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति ( अन्य नायिकानुरक्त ) और वैशेषिक ( व्यभिचारी )। पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल[९], दक्षिण[१०], धृष्ट[११] और शठ[१२]।

१ भूत, वर्तमान और भावी प्रेम-व्यापार को छुपानेवाली। २ वचन और क्रिया के चातुर्य से नायक को संकेत करनेवाली। ३ जिसका प्रेम-व्यापार सखियों को प्रकट हो गया हो। ४ संकेत स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखित होनेवाली। ५ भावी संकेत स्थान के लिये चिंता करनेवाली। ६ संकेत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकनेवाली। ७ अनेकों में आसक्त। ८ मनोवांछित बातें सुनकर हर्षित होनेवाली। ९ अपनी पत्नी में सदा अनुरक्त रहनेवाला। १० अनेक नायिकाओं में स्वभावतः समान अनुराग रखनेवाला। ११ अपराध करने पर अत्यंत तिरस्कृत होकर भी नायिका से विनय करनेवाला। १२ अपराधी होने पर भी नायिका को ठगने में चतुर।

उद्दीपन विभाव—

नायिका की सखी—इनके मंडन, शिक्षा, उपालंभ और परिहास आदि कार्य। नायक के सहायक सखा। इनके चार भेद हैं—पीठमर्द१, विट्२, चेट३ और विदूषक४।

दूती—इनके उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयंदूतिका भेद हैं।

षट्ऋतु, वन, उपवन, चंद्र, चाँदनी, पुष्प और पराग, भ्रमर और कोकिलादि पक्षियों का गुंजार एवं निनाद, मधुर गान, वाद्य, नदी-तट, सरोवर, कमनीय केलि-कुंज आदि सभी चित्ताकर्षक सुंदर वस्तुएँ।

अनुभाव—अनुराग-पूर्ण पारस्परिक अवलोकन, भृकुटि-भंग, भुजाक्षेप ( हस्त-संचालन ), आलिंगन, रोमांच, स्वेद और चाटुता आदि असंख्य कायिक, वाचिक एवं मानसिक।

स्त्रियों की यौवनावस्था के मुख्यतया निम्न-लिखित अनुभाव रूप २८ अलंकार माने गए हैं, जिनमें ३ अंगज, ७ अयत्नज और १८ स्वभावज हैं।

अंगज अलंकार—इनका शरीर से संबंध होने के कारण इनको अंगज कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

---

१ कुपित नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करनेवाला। २ काम-तंत्र की कला में निपुण। ३ नायक और नायिका के संयोजन में चतुर। ४ अंगादि की विकृत चेष्टाओं से हास्य उत्पन्न करनेवाला।

(१) 'भाव'—निर्विकार चित्त में प्रथम विकार उत्पन्न होना।

(२) 'हाव'—भृकुटि तथा नेत्रादि की चेष्टाओं से संभोग-अभिलाषा-सूचक मनोविकारों का कुछ प्रकट किया जाना।

(३) 'हेला'—उपर्युक्त मनोविकारों का अत्यंत स्फुट होकर लक्षित होना।

अयत्नज अलंकार—ये कृतिसाध्य न होने के कारण अयत्नज कहे जाते हैं और ये सात हैं—

(१) 'शोभा'—रूप, यौवन, लालित्यादि से संपन्न शरीर की सुंदरता।

(२) 'कांति'—विलास से बढ़ी हुई शोभा।

(३) 'दीप्ति'—अति विस्तीर्ण कांति।

(४) 'माधुर्य'—सब दिशाओं में रमणीयता।

(५) 'प्रगल्भता'—निर्भयता अर्थात् किसी प्रकार की शंका का न होना।

(६) 'औदार्य'—सदा विनय भाव।

(७) 'धैर्य'—आत्मश्लाघा से युक्त अचंचल मनोवृत्ति।

स्वभावज अलंकार—ये कृतिसाध्य हैं और अठारह हैं—

(१) 'लीला'—प्रेमाधिक्य के कारण वेष, अलंकार तथा प्रेमालाप द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना।

(२) 'विलास'—प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओं की विलक्षणता।

( ३ ) 'विच्छित्ति'—कांति को बढ़ानेवाली अल्प वेष-रचना।

( ४ ) 'बिब्बोक'—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तुओं का भी अनादर करना।

( ५ ) 'किलकिंचित्'—अतिप्रिय वस्तु के मिलने आदि के हर्ष से मंदहास, अकारण रोदन का आभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध और कुछ श्रमादि के विचित्र सम्मिश्रण का एक ही साथ प्रकट होना।

( ६ ) 'मोट्टायित'—प्रियतम की कथा सुनकर अनुराग उत्पन्न होना।

( ७ ) 'कुट्टमित'—केश, स्तन और अधर आदि के ग्रहण करने पर आंतर्य हर्ष होने पर भी बाहरी घबराहट के साथ शिर और हाथों का परिचालन करना।

( ८ ) 'विभ्रम'—प्रियतम के आगमन आदि के हर्ष और अनुराग आदि के कारण शीघ्रता में भूषणादि का स्थानांतर पर धारण करना।

( ९ ) 'ललित'—अंगों को सुकुमारता से रखना।

( १० ) 'मद'—सौभाग्य, यौवन आदि के गर्व से उत्पन्न मनोविकार होना।

( ११ ) 'विहृत'—लज्जा के कारण, कहने के समय भी कुछ न कहना।

( १२ ) 'तपन'—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं का होना।

( १३ ) 'मौग्ध्य'—जानी हुई वस्तु को भी प्रिय के आगे अनजान की तरह पूछना।

( १४ ) 'विक्षेप'—प्रिय के निकट भूषणों की अधूरी रचना और बिना कारण इधर-उधर देखना, धीरे से कुछ रहस्यमयी बात कहना।

( १५ ) 'कुतूहल'—रमणीय वस्तु देखने के लिये चंचल होना।

( १६ ) 'हसित'—यौवन के उद्गम से अकारण हास्य।

( १७ ) 'चकित'—प्रिय के आगे अकारण डरना या घबराना।

( १८ ) 'केलि'—प्रिय के साथ कामिनी का विहार।

व्यभिचारी—उग्रता, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सभी निर्वेदादि।

संभोग-शृंगार में निर्वेदादि कुछ संचारी भावों का, जो प्रायः दुःख से उत्पन्न होते हैं, होना संभव नहीं, परंतु विप्रलंभ-शृंगार में निर्वेद, ग्लानि, असूया, चिंता, व्याधि, उन्माद, अपस्मार और मोह आदि भावों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि शृंगार के स्थायी भाव रति में करुण के निर्वेदादि भावों का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है? भरत मुनि कहते हैं कि करुण में निर्वेदादि भाव रति निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् पुनर्मिलन की आशा का अभाव रहता है, किंतु विप्रलंभ-शृंगार में ये ( निर्वेदादि भाव )

रति सापेक्ष होते हैं, अर्थात् इसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। इसीलिये इन भावों का शृंगार में प्रादुर्भाव होता है। करुण और शृंगार में उत्पन्न होनेवाले कुछ निर्वेदादि संचारी भावों में यही भेद रहता है।

स्थायी भाव—रति। रति का अर्थ है 'मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान, अर्थात् नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम।'

शृंगार-रस के प्रधान दो भेद हैं—संभोग-शृंगार और विप्रलंभ ( वियोग )-शृंगार। जहाँ नायक-नायिका का संयोग-अवस्था में प्रेम हो, वहाँ संयोग और जहाँ वियोगावस्था में पारस्परिक अनुराग हो, वहाँ विप्रलंभ होता है। संयोग का अर्थ नायक-नायिका की एकत्र स्थिति-मात्र ही नहीं है, क्योंकि समीप रहने पर भी मान अवस्था में वियोग ही है। अतएव संयोग का अर्थ है संयोग-सुख की प्राप्ति और वियोग का अर्थ है संयोग-सुख की अप्राप्ति।

## संभोग-शृंगार

नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, आलिंगन आदि इसके असंख्य भेद हैं। इन सबको संभोग-शृंगार के अंतर्गत ही माना गया है। उपर्युक्त आलंबन और उद्दीपन सभी विभावों का इसमें वर्णन होता है। संभोग-शृंगार कहीं नायिकारब्ध और कहीं नायकारब्ध होता है।

नायिकारब्ध संभोग-शृंगार—

लखि निर्जन भौन उठी परजंक सों बाल चली सनकै[1] ललचायकै;
छल सों दृग-मीलित पी-मुख कों[2] बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुंबन लीन, कपोल लखे पुलके, भइ नम्र-मुखी सकुचायकै;
हँसिके पिय ने वा नितंबनि को तब चुंबन की चिर लौं मनभायकै।

यह नव-वधू के संभोग-शृंगार का वर्णन है। नायक आलंबन है, क्योंकि नायक को देखकर नायिका के अनुराग उत्पन्न हुआ है। रति स्थायी का आश्रय नायिका है। स्थान का निर्जन (एकांत) होना और तरुण एवं सुंदर नायक का चित्ताकर्षक दृश्य उद्दीपन है, क्योंकि यह उस उत्पन्न रति का उद्दीपन करता है। नायक के मुख की ओर देखना, इत्यादि अनुभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही नायिका के चित्त में उत्पन्न रति का बोध होता है, और 'सनकै ललचायकै' में शंका के साथ औत्सुक्य, 'मुख कों बड़ी देर लौं देखि' में केवल शंका और 'नम्रमुखी' में व्रीड़ा व्यभिचारी हैं। इनकी सहायता से शृंगार-रस की व्यंजना होती है। यहाँ नायिका ने उपक्रम किया है, अतः नायिकारब्ध है। और भी—

अति सुंदर केलि के मंदिर मैं परजंक पै पासहु सोय रही;
नव-यौवन-रंग तरंगन सों छवि अंगन माँहि समोय रही।
हिय के अभिलाखन चाखन कों न समर्थ प्रिया निय गोय रही;
कछु मीलित से दृग-कोरन सों पिय के मुख ओरन जोय रही।

---

१ धीरे से। २ नींद के बहाने से आँखें मीचे हुए प्रियतम के मुख को।

यहाँ नायक आलंबन है। एकांत स्थान और नायक का मनोहारी दृश्य उद्दीपन है। अधमिची आँखों से देखना अनुभाव और व्रीड़ा, औत्सुक्य आदि संचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी की श्रृंगार-रस में व्यंजना होती है।

नायकारब्ध संभोग-श्रृंगार का उदाहरण—

कंचुकि के बिन ही मृगलोचनि ! सोभित तू अति ही मनभावन ;
प्रीतम यों कहिकै हँसिकै अपने करतैं लगे बंध छुटावन।
सस्मित वंक-विलोकन कै ढिंग देखि अलीन लगी सकुचावन ;
लै मिस झूठी बना बतियाँ सखियाँ सनकै जु लगीं उठि धावन।

यहाँ नायिका आलंबन है। उसकी अंग-शोभा उद्दीपन है। कंचुकी के खोलने की चेष्टा अनुभाव और उत्कंठा आदि व्यभिचारी हैं। नायक ने उपक्रम किया है, अतः नायकारब्ध है।

कहीं-कहीं रति भाव की स्थिति होने पर भी श्रृंगार-रस नहीं होता। जैसे—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा माधव सोइ ;
जा तन की झाँईं परे स्याम हरित दुति होय।"

( बिहारी )

"गिरा अर्थ जल बीचि-सम कहियत भिन्न, न भिन्न ;
बंदौ सीता-राम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।"

( मानस रामायण )

इन दोहों में श्रीराधा और श्रीकृष्ण का, और श्रीसीताराम

का परस्पर पूर्णतया प्रेममय होना व्यंजित होता है, अर्थात् इसमें 'रति' की स्थिति है। अप्पय्य दीक्षित[1] आदि ने ऐसे वर्णनों में शृंगार-रस माना है, परंतु पंडितराज जगन्नाथ का इस विषय में मत-विरोध है, और उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन में बहुत मार्मिक विवेचन किया है। पंडितराज के अनुसार राधा और श्रीकृष्ण एवं सीता और श्रीराम के इस पारस्परिक प्रेम-वर्णन में, रति प्रधान नहीं, किंतु 'मेरी भव-बाधा हरौ' आदि द्वारा युगल मूर्ति की वंदना करना कवि को अभीष्ट है। अतः यहाँ देव-विषयक रति भाव प्रधान है[2]। अतएव ऐसे वर्णन में भाव ही समझना चाहिए, न कि शृंगार-रस। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे भाव-प्रकरण में किया जायगा।

## विप्रलंभ-शृंगार

इसमें शंका, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिंता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। संताप, निद्रा-भंग, कृशता, प्रलापादि अनुभाव होते हैं। इसके निम्न-लिखित भेद होते हैं—

---

१ देखिए, चित्र मीमांसा, पृष्ठ २८। और हेमचंद्र का काव्यानुशासन, पृष्ठ ७२। २ रसगंगाधर, पृष्ठ ३४।

विप्रलंभ-शृंगार
- अभिलाषा-हेतुक[1]
- ईर्ष्या-हेतुक[2]
- विरह-हेतुक[3]
- प्रवास-हेतुक[4]
- शाप-हेतुक[5]

— दश काम-दशा
- अभिलाषा
- चिंता
- स्मृति
- गुण-कथन
- उद्वेग
- प्रलाप
- उन्माद
- व्याधि
- जड़ता
- मृति

---

१ सौंदर्यादि गुणों के सुनने से, स्वप्न में अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से, परस्पर में अनुरक्त नायक और नायिका का मिलने के प्रथम का अनुराग अथवा अप्राप्त समागम के कारण मिलने की उत्कट इच्छा। २ मान के कारण वियोग। इसके दो भेद हैं—प्रणयमान (अकारण कुपित नायक या नायिका का मान), और ईर्ष्यामान (अन्य नायिका-सक्त नायक पर कुपित नायिका के मान के कारण वियोग)। ईर्ष्या-मान के भी दो भेद हैं—प्रत्यक्ष दर्शन से (नायक को अन्यासक्त प्रत्यक्ष देखने से) और अनुमान से या सुनने से। ३ समीप रहने पर भी गुरु जनों की लज्जा के कारण समागम का न होना। ४ नायक या नायिका में से एक का विदेश में होना। यह तीन प्रकार का होता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। ५ शाप के कारण वियोग।

( १ ) अभिलाषा-हेतुक वियोग।

'गुण-श्रवण-जन्य' का उदाहरण—

"जब तें कुमर कान्ह ! रावरी कला-निधान
वाके कानपरी कछु सुजस कहानी-सी ;
तब ही सों 'देव' देखो देवता-सी हँसत-सी,
खीजत-सी रीझत-सी रूसत रिसानी-सी ;
छोही-सी छली-सी छीन लीनी-सी छकी-सी, छीन
जकी-सी टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी ;
विधि-सी विंधी-सी विष-बूड़त विमोहत-सी,
बैठी वह बकत बिलोकत बिकानी-सी।"

श्रीकृष्ण के गुण-श्रवण-जन्य पूर्वानुराग है। श्रीकृष्ण आलंबन, गुण-श्रवण उद्दीपन और 'हँसत-सी', 'खीजत-सी' इत्यादि अनुभाव एवं उत्कंठा, चिंता और व्याधि आदि संचारी हैं।

'चित्र-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"हौं ही भुलानी कै भूल्यो सबै कोई भूल को मंत्र समूल सिख्यो सो ;
भोजन-पान भुलान्यो सबै सुख स्वैबो सवाद विषाद बिख्यो सो।
चित्र भई हौं विचित्र चरित्र न चित्त चुभ्यो अवरेख रिख्यो सो ;
चित्र लिख्यो हरि-मित्र लख्यो जब तें सिगरो ब्रज चित्र लिख्यो सो।

यहाँ चित्र-दर्शन-जन्य अभिलाषा से उत्पन्न वियोग-दशा है।

'स्वप्न-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"भेटत ही सपने में भटू चख चंचल चारु अरे के अरे रहे;
त्यों हँसिकै अधरानहु पै अधरानहु वे जु धरे के धरे रहे।
चौकी नवीन चकी उझकी मुख सेद के बूँद ढरे के ढरे रहे;
हाय खुलीं पलकैं पल में! हिय के अभिलाष भरे के भरे रहे।"

'प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लुभान;
मुख-सरोज-मकरंद-छबि करत मधुप इव पान।"

यहाँ जानकीजी को श्रीरघुनाथजी के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न अभिलाषा है।

और भी—

"आनि कढ्यो इहिं गैल भटू महिमंडल में अलवेलो न और है;
देखत रीझि रही सिगरी मुख-माधुरी कोहू कछू नहिं छोर है।
'वेनी प्रवीन' बड़े-बड़े लोचन बाँकी चितौन चलाकी को जोर है;
साँची कहैं ब्रज की युवती यह नंद-लड़ैतो बड़ो चितचोर है।"

और भी—

"आज लौं देख्यो न कान सुन्यो कहुँ औचकै आवत गैल निहारो;
त्यों 'लछिराम' न जानि परयो हमैं आँखिन बीच बस्यो कै अखारो।
मूरति माधुरी स्याम घटा तन पीत-पटी छन जोति को चारो;
हास की फाँसुरी डारि गरे मन लै गयो या वन बाँसुरीवारो।"

यहाँ भी प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य अभिलाषा है।

( २ ) ईर्ष्या-हेतुक वियोग।

प्रणय-मान का उदाहरण—

"बोलौ हँसौ बिहँसौ न बिलोकौ, तू मौन भई यह कौन सयान है;
चूक परी सो बताय न दीजिए, दीजिए आपुन को हमैं आन है।
प्रानप्रिया! बिन कारन ही यह रूसिबो 'बेनी प्रवीन' अयान है;
ह्व निरमूल बिलोकिए राधिके, अंबर-बेल औ रावरो मान है।"

यहाँ राधिकाजी का प्रणयमान है। और देखिए—

याही लता-गृह में सिय को तुम मारग नाथ! रहे हे बिलोकत;
खेलत राज-मरालन सों सरिता-तट ताहि बिलंब भयो तित।
आवत ही तुमकों लखिकै कछु दुर्मन से वह व्याकुल ह्वै चित;
कोमल-कंजकली-सम मंजु सु अंजुलि जोरि प्रनाम कियो इत।

सीताजी को त्याग करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी जब शंबुक-वध करके दंडकारण्य से लौट रहे थे, उस समय वन-वासिनी वासंती की श्रीरघुनाथजी के प्रति यह उक्ति है। यद्यपि धनंजय ने अपने दस रूपक में एवं हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में इस पद्य में प्रणय-मान वियोग माना है, किंतु हमारे विचार में यहाँ प्रणयमान की अपेक्षा स्मृति की व्यंजना प्रधान है, अतः 'स्मृति' भाव है।

ईर्ष्या-मान का उदाहरण—

"ठाढ़े हुते कहुँ मोहन मोहिनी, आई तितै ललिता दरसानी;
हेरि तिरीछे तिया-उन माधव, माधवै हेरि तिया मुसकानी।
यों 'नँदरामजू' भामिनी के उर आइगो मान लगालगी जानी;
रूठि रही इमि देखिके नैन कहूँ कहि बैन बहू सतरानी।"

इसमें प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य ईर्ष्या-मान है। और—

"सुरँग महावर सौति-पग निरखि रही अनखाय ;
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय ।"

(बिहारी)

यहाँ सपत्नि के प्रेम-व्यापार के चिह्नों के अनुमान से उत्पन्न मान है। यह 'उद्वेग-दशा' का वर्णन है।

जहाँ अनुनय के प्रथम अर्थात् मान छुटाने का अवसर आने तक मान नहीं ठहर सकता है, वहाँ विप्रलंभ-शृंगार नहीं, प्रत्युत संभोग-संचारी भाव होता है। यथा—

टेढ़ी करौं भृकुटीन तऊ दृग ये उत्कंठ भरे बनि गावतु ;
मौन गहौं रु चहौं रिस पै जरि जानो अरी ! मुखहू मुसकावतु।
चित्त करौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अंगन में उठि आवतु ;
कैसे बनै सजनी पिय सों अब तू ही बता फिर मान निभावतु।

यह मान करने की शिक्षा देनेवाली सखी को मान करने में सफल न होनेवाली नायिका की उक्ति है।

(३) विरह-हेतुक वियोग।

"कूजत कुंज में कोकिल त्यों मतवारे मलिंद घने अटके हैं ;
संक सदा गुरु लोगनि की चलजूह चवाइन के फटके हैं।
ए मनभावरी में 'लछिराम' भरे रँग लालच में लटके हैं ;
या कुल-कानि-जहाज चढ़े ब्रजराज बिलोकिबे में खटके हैं।"

यहाँ गुरुजन आदि की लज्जा के कारण वियोग है। और भी—

"देखैं बनै न देखिबो अनदेखैं अकुलाहिं ;
इन दुखिया अँखियान कों सुख सिरजोही नाहिं।"

(४) प्रवास-हेतुक वियोग।

भविष्यत् प्रवास—

"ऐसेहु बचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान ;
तौ प्रभु-विषम-वियोग-दुख सहिहैं पामर प्रान।"

श्रीरघुनाथजी की भावी वन-यात्रा से श्रीजानकीजी को वियोग-व्यथा का वर्णन है। और भी—

"जिन जाउ पिया! यों कहौं तुमसों तो तुम्हें पतियाँ यह दागती हैं ;
इहाँ चंदन में घनसार मिले सुसबैं सखियाँ तन पागती हैं।
कवि 'ग्वाल' उहाँ कहाँ कंज बिछे औ न मालती मंजुल जागती हैं ;
तजिकै तहखाने चले तो सही पै सुनी मग में लुवैं लागती हैं।"

यहाँ भी भविष्यत् प्रवास है।

वर्तमान प्रवास—

कंकन ये कर सों जु चले अँसुवा अँखियान चले ढल हैं ;
धीरज हू हियरे सों चल्यो चलिबे चित ह्वै रह्यो बिह्वल हैं।
पीतम भौन सों गौन करैं सब ही यह साथ परे चल हैं ;
प्रान! तुम्हें हू तो जाइबो है फिर क्यों यह साथ तजो भल हैं।

यह प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की अपने प्राणों के प्रति सोपालंभ उक्ति है। नायक के प्रवास के लिये उद्यत होने के कारण वर्तमान प्रवास है। और भी—

"वामा भामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस,
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस।"

(बिहारी)

यहाँ भी प्रस्थान के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका के वाक्य में वर्तमान प्रवास है।

भूत-प्रवास—

हे भृंग ! तू भ्रमित ही रहता सदा रे !
गोविंद हैं प्रिय कहाँ ? यह तो बता रे।
देखे निकुंज ? अथवा कह क्यों न, प्यारे !
वंसी लिए कर कहीं यमुना-किनारे ?

यह गोपीजनों का विरहोद्‌गार है। पूर्वोक्त दश काम-दशाओं में यह प्रलाप-दशा का वर्णन है। और भी—

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद सों छ्वै गए हैं ;
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गए हैं।
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनकै न अबै दिन द्वै गए हैं ;
सखि, वे हम वे तुम वेई बनै पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं।"

श्रीनंदकुमार के मथुरागमन करने पर व्रज-युवतियों का यह विरह-वर्णन है।

और भी—

"बरुनीन ह्वै नैन झुकैं उझकैं, मनो खंजन मीन के जाले परे ;
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी, अँगुरीन के पौरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासों कहा कहिए, यह प्रीति किए के कसाले परे ;
जिन लालन चाह करी इतनी, तिन्हें देखबे के अब लाले परे।"

"मेरे मनभावन न आए सखी, सावन में
तावन लगी हैं लता लरजि-लरजि कै ;

बूँदैं कभूँ रूदैं, कभूँ धारैं हिय फारैं दैया!
वीजुरी हू वारै हारी वरजि-वरजि कै।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सौं मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कै;
गरजि गए जे घन गरजि गए हैं भला,
फिर ये कसाई आए गरजि-गरजि कै।"

ये भी प्रवासी प्रिय के वियोग में विरहिणी के विरहोद्गार हैं।

(५) शाप-हेतुक वियोग।

गेरू से मैं लिखकर तुझे मानिनी को शिला पे
जौ लौं चाहौं तव पद-गिरा हा! मुझे भी लिखा मैं।
रोके दृष्टी बढ़कर महा अश्रुधारा असह्य,
है धाता को अहह! अपना संग यों भी न सह्य।
(हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ कुबेर के शाप के कारण यक्ष-दंपती का वियोग है। और भी—

वन कुंजन में अलि-पुंजन की मद-गुंजन मंजु सुनी जब हीं;
विधि काम के बान सरक्त भए कुरुनंदन पांडु भुवाल वहीं।
वह पीर-निवारन की जु क्रिया में प्रवीन प्रिया ढिग मैं हू रहीं;
द्विज-साप के कारन हाय! तऊ करि थोहु सकीं उपचार नहीं।

यहाँ महाराजा पांडु को, महारानी कुंती और माद्री के समीप रहने पर भी, शाप के कारण वियोग है।

"पीतम लै जल-केलि करै हुती नारद ने लियो आइकै दायो;
अंग खुले लखि कोप भयो, पति कौं व्रज को तरु भाखि बनायो।
यों कवि 'ग्वाल' वरी विरहागनि आकसमात को खेद मैं पायो;
नाथ-वियोग कराय अली! कहौ वा मुनि के कहा हाथ मैं आयो।"

नारदजी के शाप से नल-कूबर के वृक्ष-रूप हो जाने पर उन दोनो में से एक की पत्नी की यह उक्ति है।

उद्दीपन विभाव के उदाहरण—

"यह कंज सों कोमल अंग गुपाल को सोऊ सबै तुम जानती हौ;
बलि नैंकु रुखाइ धरैं कुम्हिलात इतो हठ काहे को ठानती हौ।
कवि 'ठाकुर' यों कर जोरि कहौं इतने पै बिनै नहिं मानती हौ;
दृग-बान ये भौंहैं कमान कहो अब कान लौं कौन पै तानती हौ।"

यहाँ उपालंभ देनेवाली सखी उद्दीपन विभाव है।

"पूरन चंद उदोत कियो घन फूलि रहीं बन जाति सुहाई;
भौंरन की अवली कल कैरव-कुंजन पुंजन में मृदु गाई।
बाँसुरीताननि काम के बाननि लै 'मतिराम' सबै अकुलाई;
गोपिन गोप कछू न गने अपने-अपने घर तें उठि धाई।"

यहाँ चंद्रोदय, वन, पुष्प, भ्रमर-गुंज, कुंज और वंशी की ध्वनि आदि उद्दीपन विभावों का वर्णन है।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि कुछ लेखक और समालोचक शृंगार-रसात्मक काव्य और तत्संबंधी विवेचना में अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं। यह उनका भ्रम है। अमर्यादित शृंगार-रस के वर्णन को तो कोई भी

साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा नहीं कहता। उसे तो सभी प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथों ने त्याज्य कहा है। किंतु शृंगारात्मक वर्णन-मात्र को ही त्याज्य समझना काव्य के वास्तविक महत्त्व में अनभिज्ञता है। शृंगार-रस तो काव्य में सर्व-प्रधान है[१]। इसके विना काव्य का तादृश महत्त्व नहीं रहेगा। महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि शांतरस एवं वैराग्य-भक्ति-प्रधान आर्ष-ग्रंथों में भी शृंगार-रस का समावेश है।

---

१ भरत मुनि आदि सभी साहित्याचार्यों ने शृंगार को सर्वोपरि स्थान दिया है। अग्निपुराण में अन्य सभी रसों का शृंगार से ही प्रादुर्भाव माना है। महाराजा भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है—

'व्यभिचारादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते;
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।'
(अग्निपुराण, अ० ३४६। ४, ५)

'शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः;
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः।
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति;
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।'
(शृंगारप्रकाश ६। ७)

ध्वनिकार ने भी कहा है—

## ( २ ) हास्य-रस

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य-रस उत्पन्न होता है।

यह दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। हास्य का विषय देखने-मात्र से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है। जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, वह परस्थ है[1]।

स्थायी भाव—हास।

आलंबन—दूसरे के विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लज्जता, रहस्य-गर्भित वाक्य आदि, जिन्हें देख और सुनकर हँसी आ जाय।

उद्दीपन—हास-जनक चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—ओठ, नाक और कपोल का स्फुरण, नेत्रों का मिचना, मुख का विकसित होना, व्यंग्य-गर्भित वाक्यों का कहना इत्यादि।

संचारी—आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

इसके छ भेद होते हैं—( १ ) स्मित, ( २ ) हसित, ( ३ )

---

'शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात्सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः'। (ध्वन्यालोकवृत्ति, ३।२६ पृष्ठ १७६)

१ 'आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः;
हसंतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसतज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः। ( रसगंगाधर )

विहसित, ( ४ ) अवहसित, ( ५ ) अपहसित और ( ६ ) अतिहसित। इन भेदों का आधार केवल हास की न्यूनाधिकता है। इन भेदों में और कोई विलक्षणता नहीं है।

स्मित हास्य—

यह चित्रित हैं दस चित्र विचित्र बड़ी इनसों छवि भौन की भारी;
इनमें जगनायक की यह साँतवीं साँवरी मूरति कौन की प्यारी।
सखि, तू है सयानी सहेलिन में, इहिसों हम पूछत देहु बतारी;
विकसे-से कपोलन, बाँकी चितौन सिया सखियान की ओर निहारी।

( रसतरंगिणी से अनुवादित )

महाराजा जनक के भवन में चित्रित दशावतारों की मूर्तियों में श्रीरघुनाथजी की मूर्ति को लक्ष्य करके जानकीजी के प्रति उनकी सखियों की—पहले तीन चरणों में—व्यंग्योक्ति है। यह व्यंग्योक्ति हास्य का आलंबन है। सीताजी के कपोलों का विकसित होना, उनका वंक दृष्टि से देखना अनुभाव और व्रीड़ा संचारी है।

"अति धन लै अहसान कै पारो देत सराह;
वैद-वधू निज रहसि[१] सौं रही नाह-मुख चाह।"

( बिहारी )

यहाँ वैद्य द्वारा पारे की विकृत ( अन्यथा ) प्रशंसा है।

---

१ वैद्य-वधू द्वारा अपने पति के मुख को देखने में यह रहस्य है कि यदि इस पारे में सचमुच इतना गुण है, जितना तुम इस रोगी से कह रहे हो, तो फिर तुम्हारी यह दशा क्यों?

वैद्य के कथनानुसार पारे में यदि पुरुषत्व लाने का तादृश गुण होता, तो स्वयं वैद्य क्यों पुरुषत्व-हीन रहता। अतएव यही अन्यथा प्रशंसा यहाँ हास्य उत्पन्न करने का कारण होने से आलंबन है। धन लेकर भी रोगी पर एहसान करना उद्दीपन है। वैद्य-वधू द्वारा अपने पति का मुख निरीक्षण करना अनुभाव और स्मृति आदि संचारी है।

हसित हास्य—

रूप अनूप सजे पट भूषन जात चली मद के झकझोरनि;
औचक काँटो चुभ्यो पग में मुख सों सिसकार कढ़ी बरजोरनि।
सो सुनिकै विट बोल्यो हहा! फिरिहू इमि क्यों न करै चितचोरनि;
लज्जित-सी मुख अंचर दै चितई तरुनी तिरछी दृग-कोरनि।

यहाँ विट ( वेश्यानुरागी ) की रहस्यमयी उक्ति आलंबन है। नायिका का मुख पर वस्त्र लगाकर बाँके कटाक्ष से उसकी ओर देखना अनुभाव है। हर्ष, लज्जा आदि संचारी हैं। स्मित से कुछ अधिकता होने के कारण हसित हास्य है। और भी—

"गौने के द्योस सिंगारन कों 'मतिराम' सहेलिन को गन आयो;
कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखीन हुलास बढ़ायो[1]।
'पीतम-श्रौन-समीप सदा बजैं' यों कहिकै पहलें पहिरायो;
कामिनि कौल चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चल्यो न चलायो।"

---

[1] यहाँ मूल-पाठ 'प्यारी सखी परिहास बढ़ायो' है, पर उसमें 'परिहास' द्वारा हास्य का कथन शब्द द्वारा हो गया है, अतः इसका पाठ 'प्यारी सखी न हुलास बढ़ायो' इस प्रकार कर दिया गया है।

यहाँ सखी के 'पीतम-श्रौन-समीप सदा बनैं' वाक्य में और नायिका द्वारा कमल के फेकने की चेष्टा में हास्य की व्यंजना है।

विकृत आकार-जन्य हास्य—

"बाल के आनन-चंद लग्यो नख आली विलोकि अनूप प्रभा-सी ;
आजु न द्वैज है चंदमुखी ! मतिमंद कहा कहैं ए पुरवासी।
बापुरो ज्योतिसी जानै कहा अरी ! हौं कहौं जो पढ़ि आइहौं कासी ;
चंद दुहू के दुहूँ इक ठौर हैं आजु है द्वैज औ, पूरनमासी।"

यहाँ नायिका के मुख पर नख-क्षत देखकर दूसरे चरण में सखी के वाक्य में और तीसरे एवं चौथे चरण में नायिका के वाक्य में हास्य की व्यंजना है।

विकृत वेश-जन्य हास्य—

काम कलोलन की बतियान में बीति गई रतियाँ उठि प्रात में ;
आपने चीर के धोखे भटू झट पीतम को पहिरयो पट गात में।
ले बनमाल को किङ्किनी ठौर नितंबन बाँधि लई अरसात में ;
देख सखीं विहसीं तब बालहु बोलि सकी न कछू सकुचात में।

यहाँ नायिका का विपरीत वेश हास्य का विभाव है।

और भी—

"केसरि के नीर भरि राख्यो हौद कंचन को,
बसन बिछाए तापै जोन्ह की तरंग में ;
'सोमनाथ' मोहन किनारे तें उसरि आपु
आन्यो है हुलास उर होरी की उमंग में।

आई मनभावनी अनूप कमला-सी बनि
परयो तहाँ चरन सहेलिन के संग में;
रँगी सब रंग में निहारि अंग-अंग प्यारो
विकसे कपोल कै रँग्यो है प्रेम-रंग में।"
(रसपीयूष)

यहाँ भी केसर-रंग में वस्त्रादि का रँग जाना हास्य का विभाव है। और—

"गोपी गुपाल कों बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गईं;
'ठलियारे' बिलोकि-बिलोकि तहाँ हरि, राधिका पास लिवाइ गईं।
उठि हेली मिलौ या सहेली सों यों कहि कंठ सों कंठ लगाइ गईं;
भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें, वे मयंक-मुखी मुसकाइ गईं।"

यद्यपि यहाँ 'मुसकाइ गईं' से हास्य का शब्द द्वारा कथन है, पर यह सखियों का मुस्काना है। ऐसी परिस्थिति में सखी जनों को हँसती देखकर राधिकाजी और श्रीकृष्ण को भी हास्य उत्पन्न होना अनिवार्य था। श्रीराधाकृष्ण का हास्य शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, वह व्यंग्य है, और उसी में प्रधानतया चमत्कार है। अतः यहाँ पर-निष्ठ हास्य है।

और—

"सुनिकै विहंग सोर भोर उठी नंदरानी,
अंग-अंग आलस के जोर जमुहानी वह;
धारी नरतारी सो न सूधी की सँभार रही,
कान्ह कों पिरावत खिलावत सिहानी वह।

'ग्वाल' लखि पूत को सु हीरा धुकधुकी माँहि,
छवि सब आपुनी अजायब दिखानी वह ;
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसू आइ गए पै न खिलन रुकानी वह।"

यहाँ यशोदाजी ने अपने विकृत वेश का प्रतिबिंब श्रीकृष्ण के हार की धुकधुकी में देखकर उनके आँसू आ जाने पर भी खिल-खिलाहट न रुकने में अति हसित की व्यंजना है। किंतु—

तुहिनाचल ने अपने कर सों हर गौरी के लै जब हाथ जुटाए;
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भए अति ही सकुचाए।
'गिरि के कर में बड़ो सीत अहो' कहि यों वह सात्विक भाव छिपाए;
वह संकर१ संकर२ हैं गिरि के रनवास सों जो स-रहस्य लखाए।

जब हिमाचल ने श्रीशंकर का पार्वतीजी का पाणिग्रहण कराया, उस समय पार्वतीजी के स्पर्श से श्रीशंकर के रोमांचादि हो गए। इन रोमांचादि को छिपाने के लिये श्रीशंकर ने कहा कि "हिमाचल के हाथ बड़े शीतल हैं", जिसका अभिप्राय यह था कि उनके रोमांचादि का कारण हिमाचल के हाथों की शीतलता थी। पर वास्तविक रहस्य को अंतःपुर की स्त्रियाँ समझ गईं, और उनके रहस्य-युक्त देखने में हास्य की व्यंजना अवश्य है, पर चौथे चरण में जो भक्ति-भाव है, उसका उक्त हास्य अंग हो गया है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही यहाँ है, न कि हास्य।

---

१ श्रीमहादेवजी। २ शंकर अर्थात् कल्याणकारक।

और—

"सोहै सलोनी सुहाग-भरी सुकुमारि सखीनि समाज मढ़ी-सी ;
'देवजू' सोवत ते गए लाल महा सुखमा सुखमा उमढ़ी-सी ।
पीक की लीक कपोल में पीके विलोकि सखीनि हँसी उमढ़ी-सी ;
लोचन सोहैं न लोचन होत, सकोचन सुंदरि जात गढ़ी-सी ।"

भवानीविलास में इसे हास्य का उदाहरण दिखाया गया है, पर इसमें प्रधानतया व्रीड़ा-भाव की व्यंजना है, हास-भाव उसका पोषक-मात्र है। इसके सिवा यहाँ 'हँसी' शब्द से 'हास' वाच्य भी हो गया है। परंतु—

"विंध्य के वासी उदासी तपोव्रत-धारी महा बिनु नारी दुखारे ;
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-वृंद सुखारे ।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद-मंजुल कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कों पग धारे ।"

यहाँ यद्यपि श्रीराम-विषयक भक्ति-भाव की व्यंजना है, पर वह प्रधान नहीं। अतः यहाँ हास्य-रस ही है।

## ( २ ) करुण-रस

बंधु-विनाश, धर्म के अपघात, द्रव्य-नाश आदि अनिष्ट से करुण-रस उत्पन्न होता है।

स्थायीभाव—शोक।

आलंबन—विनष्ट बंधु, पराभव आदि।

उद्दीपन—प्रिय बंधु जनों का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-

भूषणादि का दृश्य तथा उनके कार्यों का श्रवण एवं स्मरण आदि ।

अनुभाव—दैव-निंदा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, कंप, मुख सूखना, स्तंभ और प्रलाप आदि ।

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, भ्रम, दैन्य, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता आदि ।

इष्ट वस्तु-वियोग-जन्य करुण—

वनवास-धृता जटा कहाँ? सुत ! तेरी रमणीयता कहाँ?
स्मृति भी यह दे रही व्यथा, विधि की है यह हा ! विडंबना ।

श्रीराम-वनवास के समय महाराज दशरथ का यह शोकोद्गार है । श्रीरघुनाथजी आलंबन हैं । वनवास के गमन का प्रस्ताव उद्दीपन है । दैव-निंदा अनुभाव है । विषाद आदि संचारी हैं । और भी—

"नव दारुन वा अपमान सों तू निहचै दृग-नीरहि ढारत होइगी;
सिसु होन समै पै सिया वन में कहुँ वेहद पीर सों आरत होइगी ।
घिरि हाय ! अचानक सिंहनि सों किसि वेवस धीरज धारत होइगी;
करिकै सुधि मेरी हिये में चहूँ तव तातहि तात पुकारत होइगी ।"

( श्रीसत्यनारायण-अनुवादित-उत्तररामचरित )

सीताजी के त्याग के पश्चात् भगवान् रामचंद्र का उनके वियोग में यह शोकोद्गार है । सीताजी आलंबन हैं । उनके वनवास-दुःख का स्मरण उद्दीपन है । यह वाक्य अनुभाव है । स्मृति, चिंता आदि संचारी भावों से यहाँ करुण की व्यंजना

है। इस पद्य में विप्रलंभ-शृंगार नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा रहती है, यहाँ निर्वासित सीताजी के विषय में पुनर्मिलन की आशा नहीं है।

बंधु-विनष्ट-जन्य करुण—

नव पल्लव भी बिछे हुए मृदु तेरे तन को असह्य थे;
वह हाय! चिता धरा हुआ, अब होगा यह सह्य क्यों प्रिये!

इंदुमति के वियोग में महाराज अज का यह विलाप है। इंदुमति का मृत शरीर आलंबन और उसकी चिता उद्दीपन है। यह कारुणिक क्रंदन अनुभाव है। स्मृति, चिंता, दैन्य आदि संचारी हैं। और देखिए—

"जो भूरि भाग्य भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी;
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी;
है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी।"

(जयद्रथ-वध)

यह उत्तरा का विलाप है। अभिमन्यु की मृत्यु आलंबन है। उसके वीरत्व आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन है। उत्तरा का 'दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य आदि संचारी हैं। और भी—

"काव्य-मनि वारिधि-विपत्ति में बूड़े सब,
बिन अवलंब गुन-गौरव गह्यो नहीं;
पवन प्रलय की दीप दीपित दह्यो जो देह,
चित्त हू लह्यो जो दुःख कबहू चह्यो नहीं।

रत्नपुर-राज बलवंत के त्रिदिव जात,
सुमन सुसीलन पै जावत सह्यो नहीं ;
आज अवनी पै अभिरूपन के आलय मैं,
मालव-मिहिर बिन मालव रह्यो नहीं।"

(महाकवि मिश्रण सूर्यमल्ल)

रतलाम (मालवा) के महाराज बलवंतसिंह के परलोक-गमन पर कवि की यह श्रद्धांजलि है। परलोक-गमन आलंबन है, उनके औदार्यादि गुण की स्मृति उद्दीपन है। स्मृति, विषाद आदि संचारी और कवि के ये वाक्य अनुभाव हैं। और भी—

"कुंती कृष्ण राज देन कह्यो पै न लह्यो कर्न,
कह्यो जुद्ध-भार सीस काके धरि जाऔं मैं ;
ताको बल चीन्ह सुत बलिन बलीन होव[1],
दीनन सौं दीन भयो जी न लरिजाऔं मैं।
सब जन चेरो होव, कौन हितू मेरो अब,
दुःखन को घेरो बूमि कौन घर जाऔं मैं ;
कैसे टर जाऔं उबलदगिन जरि जाऔं कैधौं,
कूप परि जाऔं विष खाय मर जाऔं मैं।"

(स्वामी गणेशपुरीजी का कर्णपर्व)

---

१ कर्ण के बल पर मेरा पुत्र दुर्योधन सब बलवानों से बलवान् था, पर अब दीनों से भी दीन हो गया। यहाँ 'होव' का अर्थ है—'जो था वह अब।'

धन-वैभव-विनाश-जन्य करुणा—

"सहस अठ्यासी स्वर्ण-पात्र में जिमातो ऋषि,
युधिष्ठिर और के अधीन अन्न पावै है ;
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष वनिता के,
नाटक-सदन बीच वनिता नचावै है।
राजा तू बकासुर हिडंब को करैया वध ,
पाचक विराट को ह्वै रसोई पकावै है ;
माद्री के सुजसधारी दोनौं ही सुरूपमनि,
एक अश्व-बीच, एक गोधन चरावै है।"

(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

विराट में भीमसेन के समक्ष कीचक की कुचेष्टाओं से दुःखित द्रौपदी का यह कारुणिक क्रंदन है। राज-भ्रष्ट युधिष्ठिरादि आलंबन हैं। कीचक की नीचता उद्दीपन है। द्रौपदी के ये वाक्य अनुभाव हैं। विषाद, चिंता और दैन्य आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ करुणा की व्यंजना है। किंतु—

"अंदर ते निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पायँ जाती हैं ;
हवा हू न लागती, ते हवा तें बिहाल भई,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हाय हारी चीर फारी मन झुँझलाती हैं ;

ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं, ते वनासपाती खाती हैं।"

यहाँ मुग़ल-सम्राटों की रमणियों की दीन-दशा के वर्णन में करुण की व्यंजना तो है, पर करुण-रस नहीं, क्योंकि प्रधानतः शिवराज के वीरत्व की प्रशंसा है। इसलिये यहाँ राज-विषयक रति-भाव प्रधान है, और यवन-रमणियों की कारुणिक दशा का वर्णन उसका अंग हो जाने से संचारी रूप में गौण है।

## ( ४ ) रौद्र रस

शत्रु की चेष्टा, मान-भंग, अपकार, गुरु जनों की निंदा आदि से रौद्र रस प्रकट होता है।

स्थायीभाव—क्रोध।

आलंबन—शत्रु एवं उसके पक्षवाले।

उद्दीपन—शत्रु द्वारा किए गए अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप और कठोर वाक्यों का प्रयोग आदि।

अनुभाव—नेत्रों की रक्तता, भृकुटी-भंग, दाँत और होठों का चबाना, कठोर भाषण, अपने कार्यों की प्रशंसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप, आवेग, गर्जन, ताड़न, रोमांच, कंप तथा प्रस्वेद आदि।

संचारी—मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति आदि चित्त-वृत्तियाँ।

यद्यपि 'रौद्र' और 'वीर' में आलंबन विभाव समान ही

होते हैं, किंतु इनके स्थायी भाव में भेद है। रौद्र में 'क्रोध' स्थायी है, वीर में 'उत्साह'। इसके सिवा नेत्र एवं मुख का रक्त होना, कठोर वाक्य कहना, शस्त्र-प्रहार करना इत्यादि अनुभाव 'रौद्र' में ही होते हैं[1], 'वीर' में नहीं। उदाहरण—

पुरारि को प्रचंड यह खंडि कोदंड फेर,
भृकुटी मरोरि अब गर्व दिखरावै तू;
आत की न वातु मन लातु है निसंक भयो,
कौसिक की कान हूँ न मान बतरावै तू।
देख! ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जानि इतरावै तू;
छत्रिन पतत्रिन[2] ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्योंरे छत्रिबाल भूलि काल हँकरावै तू।

धनुष-भंग के प्रसंग में लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के ये वाक्य हैं। श्रीराम-लक्ष्मण आलंबन हैं। धनुष-भंग और लक्ष्मणजी का निश्शंक उत्तर उद्दीपन हैं। परशुरामजी के वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा यहाँ क्रोध स्थायी भाव की रौद्र रस में व्यंजना होती है।

और भी—

भीम कहैं प्यारी! सारी कौरवन नारिन कों,
रिक्त बेस भूसा मुक्त-केसा करि डारौंगो;

---

१ रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। (साहित्यदर्पण, ३। २३१) २ पक्षियों के समान।

चंड भुज-दंडन में प्रचंड या गदा कों लै,
मंडल भ्रमाय सिंहनाद कै प्रचारौंगो।
लंघन के संग ही घमंड करि भंग-जंग,
दुष्ट दुरजोधन कों वेगि ही पछारौंगो;
रक्त सों रँगे हौ उन रक्त भए हाथन सों,
खुले केस बाँधि तेरी वेनी को सम्हारौंगो।

द्रौपदी के प्रति (जिसने अपने केशाकर्षण के कारण, जब तक दुर्योधन का विनाश न हो, अपने केशों की वेणी न बाँधने की प्रतिज्ञा की थी) भीमसेन के ये वाक्य हैं। द्रौपदी का शोकाकुल होना आलंबन, दुर्योधनादि द्वारा अपमान किए जाने का स्मरण उद्दीपन, भीम के ये वाक्य अनुभाव और गर्व, स्मृति, उग्रता आदि संचारी भावों द्वारा यहाँ रौद्र रस की व्यंजना है।

"लंका ते निकसि आए जुत्थन के जुत्थ लखि,
कूद्यो वज्रअंग किटकिटी दै झपट्टिकै;
सुनि-सुनि गर्वित वचन दुष्ट पुष्टन के,
मुष्ट बाँधि उच्छलत सामने सपट्टिकै।
'ग्वाल' कवि कहै महा मत्त रत्त अच्छ करि,
धावैं जित्त तित्त परे वज्र सो लपट्टिकै;
पव्वत अधर फेंकैं पव्वत उतंग तुंग,
दव्वत दनुज्ज के दलन हैं दपट्टिकै।"

यहाँ रावण की सेना आलंबन है। उसके गर्व-पूर्ण वाक्य

उद्दीपन हैं। दाँत चबाना, पर्वतों को फेकना आदि अनुभाव और उग्रता, अमर्ष आदि संचारी हैं। और भी—

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ१ से जलने लगे ;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े' ;
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठकर खड़े।
उस काल मारे क्षोभ१ के तनु काँपने उनका लगा ;
मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा।"
(जयद्रथ-वध)

यहाँ अभिमन्यु के वध पर कौरवों का हर्ष प्रकट करना आलंबन है। श्रीकृष्ण के वाक्य (जिनके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है) उद्दीपन हैं। अर्जुन के वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, उग्रता और गर्व आदि संचारी हैं। इनके द्वारा रौद्र रस की व्यंजना है।

"नहिंन ताड़का नारि, मैं न हर-धनुष दारुमय ;
नहिंन राम द्विज दीन, मृग न मारीच कनकमय।
बालि हौं न बनचर बराक, जड़ ताद न जानहुँ ;
खर दूपन त्रिसिरा सुबाहु पौरुप न प्रमानहुँ।
पाथोधि हौं न बाँध्यो उपल, सबल सुरासुर-सालको ;
रन कुंभकर्न काकुत्स्थ रे ! महाकाल हौं काल को।"
(नरहरिदासजी-कृत अवतार-चरित्र)

---

१ मूल पाठ 'क्रोध' है। क्रोध का रौद्र के उदाहरण में यहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाना ठीक न था।

यहाँ श्रीरघुनाथजी आलंबन, राक्षसों का विनाश उद्दीपन, कुंभकर्ण के तर्जन-युक्त ये वाक्य अनुभाव, उग्रता, अमर्ष और गर्व आदि संचारी भावों से रौद्र रस ध्वनित होता है।

"धनु हाथ लिए नृप मान-धनी अवलोकत हो पै कछू न कियो ;
कुरु-जीवन कर्न के आगे 'मुरार' वकार के आपनो बैर लियो।
कच-द्रौपदी ऐंचनहार दुसासन को नख तैं जु विदार हियो ;
क्षत जात कह्यो अति आनँद आज मैं जीवित को रत-उष्ण पियो।"

( कविराज मुरारिदानजी )

यहाँ दुःशासन आलंबन, दुर्योधन और कर्ण का समक्ष होना उद्दीपन तथा स्मृति, उग्रता, गर्व और हर्ष आदि संचारी और भीमसेन द्वारा रक्त-पान किया जाना अनुभाव हैं। यहाँ रौद्र रस की व्यंजना है। किंतु—

सत्रुन के कुल-काल सुनी, धनु-भंग-धुनी उठि वेगि सिधाए ;
याद कियो पितु के वध कों, फरकैं अधरा दृग रक्त बनाए।
आगे परे धनु-खंड विलोकि, प्रचंड भए भृकुटीन चढाए ;
देखत श्रीरघुनायक कों भृगुनायक वंदत हौं सिर नाए।

ऐसे उदाहरण रौद्र रस के नहीं हो सकते। यद्यपि यहाँ क्रोध के आलंबन श्रीरघुनाथजी हैं, धनुष का भंग होना उद्दीपन है, होठों का फरकना आदि अनुभाव और पितृ-वध की स्मृति, गर्व, उग्रतादि व्यभिचारी भाव इत्यादि रौद्र की सभी सामग्री विद्यमान है, पर ये सब मुनि-विषयक रति भाव के अंग हो गए हैं—प्रधान नहीं। यहाँ कवि का अभीष्ट

परशुरामजी के प्रभाव के वर्णन द्वारा उनकी वंदना करने का है, अतः वही प्रधान है। 'क्रोध' स्थायी उसका अंग होकर गौण हो गया है।

## (५) वीर-रस

वीर-रस का अत्यंत उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।

वीर-रस के चार भेद हैं—(१) दान-वीर, (२) धर्म-वीर, (३) युद्ध-वीर और (४) दया-वीर। इनका स्थायी भाव तो उत्साह ही है। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी चारो भेदों में पृथक्-पृथक् होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'वीर' पद का प्रयोग युद्ध-वीर-रस में ही होना समुचित है। किंतु साहित्यदर्पण और रसगंगाधर आदि में चारो ही भेद माने गए हैं।

### दान-वीर

आलंबन—तीर्थ, याचक, पर्व और दान योग्य उत्कृष्ट पदार्थ आदि।

उद्दीपन—अन्य दाताओं के दान, दान-पात्र द्वारा की गई प्रशंसा आदि।

अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार, अपनी दातव्य शक्ति की प्रशंसा आदि।

संचारी—हर्ष, गर्व, मति आदि। उदाहरण—

सुन कर्ण का करतव्य दृढ़ है माँगने आए जिसे;
निज हाथ से झट काट अपना शीश भी देना उसे।

बस, क्या हुआ फिर अधिक, घर पर आ गया अतिथी दिसे ;
हूँ दे रहा कुंडल तथा तन-त्राण ही अपने इसे।

ब्राह्मण के वेष में आए हुए इंद्र को अपने कुंडल और कवच देते हुए कर्ण की अपने निकटस्थ सभ्य जनों ( जो इस कार्य से विस्मित हो रहे थे ) के प्रति यह उक्ति है। यहाँ इंद्र आलंबन, उसके द्वारा की हुई कर्ण के दान की प्रशंसा उद्दीपन, कवच और कुंडल का दान और उनमें तुच्छ बुद्धि का होना अनुभाव और स्मृति आदि संचारी भावों से दानवीरता व्यक्त होती है। और भी—

तृन के परजंक सिला सुचि आसन जाहि परे न बिछावनो है ;
जल निर्झर सीतल पीइबे कों फल-मूलन को मधु खावनो है।
बिन माँगे मिलैं ये बिशो बन में, पर एक बड़ो दुख पावनो है ;
पर के उपकार बिना रहिबो वहाँ जीवन व्यर्थ गुमावनो है।

( नागनंद-नाटक से अनुवादित )

और भी—

"देवरु दानव दानी भए तिन जाचक की मनसा प्रतिपाली ;
सोई सुजस्स निहाँन सुहावतु गावतु है 'जनराज' रसाली।
मैं जगदेव पमार प्रसिद्ध सराहति जाहि ससी अँसुमाली ;
सीस की मेरे कहा गिनती जिय राजी रहै कलि में जो कँकाली[१]।

( जनराज-कृत कविता-रसविनोद )

---

१ कंकाली-नामक भाटिनी ने जगदेव से भिक्षा में उसका सिर माँगा था। उस भाटिनी के प्रति जगदेव के ये वाक्य हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध जगदेव पमार की, कंकाली नाम की एक भाट की स्त्री के प्रति यह उक्ति है। यहाँ भी दान के उत्साह की व्यंजना है। किंतु—

पद एकहि सातौं समुद्र सदीप कुलाचल नापि धरा में समायो ;
पद दूसरे सों दिवि-लोक सबै, पद तीसरे कों न कछू जब पायो।
हरि की स्मित मंद विलोकन पेखि तबै बलि ने हिय मोद बढ़ायो ;
तन रोम उठे प्रन राखिवे को जब नापिवे को निज सीस झुकायो।

यद्यपि यहाँ भगवान् वामन आलंबन, उनका सस्मित देखना उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव एवं हर्षादि संचारी भावों से स्थायी भाव उत्साह की दान-वीर के रूप में व्यंजना होती है, पर यहाँ बलि राजा की प्रशंसा करना अभीष्ट है, और उस प्रशंसा का यह उत्साहात्मक वर्णन पोषक है। अतः राज-विषयक रति भाव ही यहाँ प्रधान है—उत्साह उसका अंग-मात्र है। यद्यपि पूर्वोक्त उदाहरण में भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है, पर वहाँ कर्ण के वाक्य कवि द्वारा केवल दोहराए गए हैं—कवि द्वारा प्रशंसा नहीं, अतः वहाँ दान-वीर ही है।

और देखिए—

'बकसि वितुंड दए झुंडन-के-झुंड रिपु-
मुंडन की मालिका त्यों दई त्रिपुरारी कों ;
कहै 'पद्माकर' करोरन के कोष दए,
षोडसहू दीन्हें महादान अधिकारी कों

आम दए, धाम दए, अमित अराम दए,
अन्न-जल दीन्हें जगती के जीवधारी कों ;
दाता जयसिंह दोय बात नहीं दीन्हीं कहूँ,
वैरिन को पीठि और दीठि परनारी कों।"
"संपति सुमेर की कुबेर को जु पावै ताहि
तुरत लुटावत विलंब उर धारैं ना ;
कहै 'पदमाकर' सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितर विचारै ना।
दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथराव,
याहि गज धोखै कहूँ काहू देय डारै ना ;
याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,
गिरि ते गरैं ते निज गोद तें उतारै ना।"

इन दोनो कवित्तों में दान-वीर की उत्कट व्यंजना है, किंतु दान का उत्साह, पहले में जयपुराधीश जयसिंह की और पिछले में राजा रघुनाथराव की प्रशंसा का पोषक है। अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और उत्साह उसका अंग है—दान-वीर नहीं।

## धर्म-वीर

महाभारत, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रंथ आलंबन, उनमें वर्णित धार्मिक इतिहास और फलस्तुति उद्दीपन, धर्माचरण, धर्म के लिये कष्ट सहन करना आदि अनुभाव और धृति, मति आदि संचारी होते हैं।

धर्म-वीर का उदाहरण—

"और ते टेक धरी मन माँहि न छाँड़ि हौं कोऊ करौ बहुतेरो;
धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरो।
मातु सहोदर औ' सुत नारि जु सत्य बिना तिहिं होय न बेरो;
हाथी तुरंगम औ' बसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरो।"

( कुलपति मिश्र का रस-रहस्य )

यहाँ महाराज युधिष्ठिर का धर्म-विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी है। गर्व, हर्ष, धृति और मति आदि संचारी एवं ये वाक्य अनुभाव हैं। किंतु—

"श्रीदसरत्थ महीप के बैन को मानि मही मुनि बेप लयो है;
पै कछु खेद न कीन्हों हिये 'लछिराम' सुबेद-पुरान बयो है।
सातहु दीपन के अवनीप प्रजा प्रतिपाल को रंग रयो है;
राम गरीब-निवाज को भूतल धर्म ही को अवतार भयो है।"

यद्यपि यहाँ पूर्वार्द्ध में धर्म-वीर की व्यंजना है, पर उत्तरार्द्ध में भगवान् श्रीरामचंद्र की धर्म-वीरता की जो प्रशंसा है, वही प्रधान है। अतः देव-विषयक रति-भाव का धर्मवीरत्व अंग हो गया है। 'महेश्वर-विलास' में लछिरामजी ने इसे धर्म-वीर के उदाहरण में लिखा है, पर वास्तव में 'धर्म-वीर' नहीं है।

## युद्ध-वीर

आलंबन—शत्रु।

उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम आदि।

अनुभाव—गर्व-सूचक वाक्य, रोमांच आदि।

संचारी—धृति, स्मृति, गर्व और तर्क आदि।

युद्ध-वीर का उदाहरण—

भाखैं रघुनाथ खोल आंखैं सुन लंकाधिप!
देहु बयदेही स्वयं याचत है राम यह;
मतिभ्रम तेरे कहा, हेरै क्यों न धर्मनीति,
बीतिगो कछू न बने सारे धन-धाम यह।
ना तो मम बान चढ़ि जायगो कमान तबै,
होयगो प्रत्यच्छ जैसो निसित निकाम यह;
चूसि-चूसि रक्त खरदूषन को तृप्त ह्वै न,
ह्वै रह्यो अलक्त अजौं आर्द्र मुख स्याम यह।
( राजशेखर की बालरामायण से अनुवादित )

यह रावण के समीप अंगद द्वारा भेजा हुआ श्रीरघुनाथजी का संदेश है। रावण आलंबन है। जानकी-हरण उद्दीपन है। ये वाक्य अनुभाव हैं। स्मृति, गर्व आदि संचारी हैं। और भी—

"पारथ विचारो पुरुपारथ करैगो कहा,
स्वारथ-सहित परमारथ नसैहौं मैं;
कहैं 'रतनाकर' प्रचारयौ रन भीपम यों,
आज दुरजोधन को दुःख दरि दैहौं मैं।
पंचनि के देखत प्रपंच करी दूर सबै,
पंचन को स्वत्व पंचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं;
हरि-प्रन-हारी जस धारिकै धरौं हौं सांत,
सांतनु को सुभट सुपूत कहिवैहौं मैं।"

यह भीष्मजी की उक्ति है। श्रीकृष्णार्जुन आलंबन हैं। श्रीकृष्ण की शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन है। भीष्मजी के ये वाक्य अनुभाव हैं, और गर्व, स्मृति, धृति आदि संचारी हैं। इसी प्रकार—

"गंगा राजरानी को सुभट अभिमानी भट
भारत के बंस मैं न भीषम कहाऊँ मैं;
जो पै सररेट औ' दपेट रथ पारथ को,
लोकालोक परबत के पौर न बहाऊँ मैं।
'मिश्रजू' सुकवि रनधीर वीर झूमैं खरे,
कीन्हीं यह पैज ताहि सबको सुनाऊँ मैं;
कहौ हौं पुकारि ललकारि महाभारत में,
आज हरि-हाथ जो न सस्त्र कौं गहाऊँ मैं।"

यहाँ भी वीर-रस की व्यंजना है—

"बल के उमंड भुज-दंड मेरे फरकत,
कठिन कोदंड खैंच मेल्यो चहैं कान तैं।
चाउ अति चित्त मैं चढ़्यो ही रहै जुद्ध-हित,
जूटै कब रावन जु बीसहू भुजान तैं।
'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्थन को सीघ्रपनो,
देखेंगे दनुज्ज जुत्थ गुत्थित दिसान तैं;
दसमत्थ कहा, होय जो पै सो सहस्त्र लच्छ,
कोटि-कोटि मत्थन कों काटौं एक बान तैं।"

यह श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। यहाँ रावण आलंबन,

जानकी-हरण उद्दीपन, ये वाक्य अनुभाव और गर्व, अमर्ष, औत्सुक्यादि संचारी हैं।

"एहो अवधेस! अब दीजिए निदेस मोहि,
चंद्र माँहि चूरिकै निचोरि सुधा लाऊँ मैं;
जायकै पताल ताल मारि जीति सेसजू कों,
अष्टकुली नागन कौं गनिकै नसाऊँ मैं।
'रामद्विज' मंडि जस मारतंड-मंडल को,
प्रबल प्रचंड तेज सीतल बनाऊँ मैं;
खंडि जम-दंड जो न चंड भुजदंडन सौं,
वीर बलवंड पौन-पूत न कहाऊँ मैं।"

यहाँ लक्ष्मणजी के शक्ति के लगने पर सुषेण वैद्य द्वारा संजीवनी लाने के लिये कहा जाना आलंबन है। इस कार्य के लिये विचार किया जाना उद्दीपन और मारुति के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ वीर-रस की व्यंजना है।

"मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत जानो मुझे;
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानो मुझे।
है और की तो बात ही क्या गर्व मैं करता नहीं;
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं।"

(जयद्रथ-वध)

ये अपने सारथी से अभिमन्यु के वाक्य हैं। कौरव आलंबन हैं। उनकी अभेद्य चक्र-व्यूह-रचना उद्दीपन है। अभिमन्यु के ये

वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इनके संयोग से वीर-रस की व्यंजना है। किंतु—

"जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन दाटियतु है;
प्रलै कैसे धाराधर धमकैं नगारा भूरि,
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ,
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है;
काच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु है।"

यद्यपि यहाँ उत्साह की व्यक्ति है, किंतु महाराजा शिवराज की प्रशंसा प्रधान है। अतः यहाँ उत्साह उस प्रशंसा का पोषक होकर गौण हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

## दया-वीर

इसमें दयनीय व्यक्ति (दया का पात्र) आलंबन, उसकी दीन दशा उद्दीपन, दया-पात्र से सांत्वना के वाक्य कहना अनुभाव और धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी होते हैं।

उदाहरण—

स्रवत रुधिर धमनीन सों मांसहु मो तन माँहि;
तृपत लखाय न गरुड़ तुहु भखत न क्यों अब याहि।

(नागनंद-नाटक से अनुवादित)

सर्पों की वध्य शिला पर शंखचूड़ के बदले में बैठे हुए दयार्द्र जीमूत-वाहन के अंगों को नोच-नोचकर खाने पर भी उसको (जीमूत-वाहन को) प्रफुल्ल-चित्त देखकर चकित गरुड़ के प्रति जीमूत-वाहन की यह उक्ति है। यहाँ शंखचूड़ आलंबन है। उसको खाने के लिये गरुड़ के उद्यत होने पर उसकी दयनीय दशा उद्दीपन है। धृति आदि संचारी और जीमूत-वाहन के वाक्य अनुभाव हैं।

"देखत मेरे को जीव हने सुनि के धुनि कोस हजार तें धाऊँ ;
और को दुःख न देखि सकौं जिहिं भाँति छुटै तिहिं भाँति छुटाऊँ।
दीनदयाल है छत्रि को धर्म तहूँ सिवि हौं जग-व्याधि नसाऊँ ;
तू जनि सोचै कपोत के पोतक आपनी देह दै तोहि बचाऊँ।"

(रस-रहस्य)

बाज़-रूप इंद्र से डरे हुए शरणागत कबूतर के प्रति ये शिवि राजा के वाक्य हैं। कबूतर आलंबन है, कबूतर की दयनीय दशा उद्दीपन है। राजा के वाक्य अनुभाव हैं। धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं।

और भी—

"हे कपिकंत ! विभीषन कौं यहाँ मंत्रिन साथहि वेगि बुलाय लै ;
हौं सरनागत कौं न तजौं प्रन मेरो यही उर में अपनाय लै।
लीन्हों सुकंठ ने बोलि तबै लखि ताहि कह्यो प्रभु ने उर लाय लै ;
लंक-महीप ! असंकित ह्वै दुख-दंद विहाय अनंद बढ़ाय लै।"

(रसपीयूष)

यहाँ रावण द्वारा अपमानित दया-पात्र विभीषण आलंबन है। सुग्रीव द्वारा कहलाए हुए विभीषण के दीन वाक्य उद्दीपन हैं। धृति, स्मृति आदि संचारी हैं, और श्रीरघुनाथजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। किंतु—

"हेरि हहराय हाय-हाय कै कहत हरा१,
ससुरा न सास कौन मेटै दुख-माला कों ;
थान है मसान ता विकान कों धरै कों श्रान,
लैहै कौन लाला सिंहछाला गजछाला कों।
वृश्चिक भुजंग गोधिकात्मज२ से भव्य-भव्य,
भूषन भरे हैं कैसें काटि हौं कसाला कों ;
वाको दुख चीन्हौं नाहिं, चीन्हौं दुख देवन को,
लीन्हौं ह्याँ अमोल जस पीनी हर३ हाला४ कों।"

(स्वामी गणेशपुरीजी का कर्ण-पर्व)

यद्यपि यहाँ श्रीपार्वती के वाक्यों से अपने घर की दशा पर ध्यान न देकर देवतों की दीनता पर दया करके विष-पान करने में दया के उत्साह की व्यंजना अवश्य है, किंतु इसमें दया-वीर नहीं। यहाँ कवि का अभीष्ट श्रीशंकर की स्तुति करना है, अतः ऐसे वर्णनों में देव-विषयक रति (भक्ति) भाव ही प्रधान रहता है, और दया का उत्साह उसका पोषक होने से भक्ति का अंग हो जाता है।

---

१ श्रीपार्वतीजी। २ गोहिरा। ३ श्रीशंकर। ४ ज़हर।

## ( ६ ) भयानक रस

किसी बलवान् का अपराध करने पर या भयंकर वस्तु के देखने से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—भय।

आलंबन—व्याघ्र आदि हिंसक जीव, शून्य स्थान, वन और शत्रु आदि।

उद्दीपन—निस्सहाय होना तथा शत्रु आदि को भयंकर चेष्टा आदि।

अनुभाव—स्वेद, वैवर्ण्य, कंप, रोमांच और गद्गद होना आदि।

संचारी—जुगुप्सा, त्रास, मोह, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, चिंता और आवेग आदि।

उदाहरण—

"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है;
कुराज[१] चिंता-ग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए;
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए।"

( जयद्रथ-वध )

---

१ मूल-पाठ 'भय और' है। भयानक रस के उदाहरण में यहाँ भय का स्पष्ट कथन होना ठीक न होने के कारण विवशतया 'कुराल' पाठ कर दिया गया है।

अर्जुन की प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन के प्रति जयद्रथ के ये वाक्य हैं। अभिमन्यु के वध का अपराध और अर्जुन की प्रतिज्ञा आलंबन और उद्दीपन हैं। त्रास आदि व्यभिचारी और जयद्रथ का किंकर्तव्य-विमूढ़ होना, गात्र का जलना अनुभाव हैं। इनके द्वारा यहाँ भयानक रस की व्यंजना होती है।

"पवन-वेगमय वाहनवाली गर्जन करती हुई बढ़ी ;
उसी जगह से घन-माला-सम कौरव-सेना दीख पड़ी।
सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे ;
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे।
बोला तब होकर[1] कातर वह शक्ति भूल अपनी सारी ;
देखो-देखो बृहन्नले ! यह सेना है कैसी भारी।
मैं किस भाँति लड़ूँगा इससे, लौटाओ रथ-अश्व अभी ;
सैन्य-सहित जब पिता आयँगे, होगा बस अब युद्ध तभी।"

बृहन्नला के रूप में अपने सारथी अर्जुन के प्रति विराट-राज के पुत्र उत्तरकुमार की यह उक्ति है। कौरव-सेना आलंबन है। उसका भयंकर दृश्य उद्दीपन है। वैवर्ण्य और गद्गद होना अनुभाव है। त्रास, दैन्य, आवेग आदि संचारी हैं। पहला उदाहरण अपराध-जनित भय का है, और यह भयंकर दृश्य-जनित भय का।

"सकट व्यूह भेद करि धायो है पार्थ जबै,
युद्ध करि द्रौन.हो ते याद करि वाका की ;

---

१ यहाँ भी 'भय से' के स्थान पर 'होकर' किया गया है।

कुपित महान भयो रुद्र-सम रूप छयो,
लाग्यो है करन घोप गांडिव पिनाका की।
भने कवि 'कृष्ण' भूमि-मुंडन सों छात भई,
नदी-सी उमड़ि चली स्रोनित धराका की;
कौरव के वीरन की छाती धहरान लागी,
देख फहरान भारी बानर-पताका की।"

अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। अर्जुन आलंबन है। उसके युद्ध का भयंकर दृश्य उद्दीपन है। स्मृति, त्रास आदि संचारी हैं। कौरव-सेना का हृदय धहराना अनुभाव है। किंतु—

"सूबनि साजि पठावतु है निज फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपुनि दुग्ग जमाति विलोकत तेरिए फौज दरेरी।
साहितनै सिवसाहि भई भनि भूषन यों तुव धाक घनेरी;
रातहु द्योस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति सूरति घेरी।"

यहाँ शिवराज आलंबन है, उसके पराक्रम का स्मरण उद्दीपन, औरंगशाह को अपनी ही फ़ौज में शिवाजी की फ़ौज का भ्रम होना अनुभाव और त्रास, चिंता आदि व्यभिचारी भावों से भयानक रस की अभिव्यक्ति तो होती है, किंतु कविराज भूषण का अभीष्ट शिवाजी की स्तुति-वर्णन का है, अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। औरंगजेब का भयभीत होना उसकी पुष्टि करता है, अतः वह अंगभूत है। ऐसे उदाहरणों में भयानक रस नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार—

"छूटे धाम धवल कँवल सुखवार छूटे,
छूटी पति-प्रीति गति छूटी जो करीन में;
भनत 'प्रवीन बेनी' छूटे सुखपाल रथ,
छूटी सुखसेज सुख साहिबी नरीन में।
गाजुद्दी उजीर वीर रावरो अतंकु पाइ,
आजु दिन ह्वै गई जु दीन जे परीन में;
कारी-कारी जामिनी में वैरिन की भामिनी ते,
दामिनी-सी दौरैं दुरी गिरि की दरीन में।"

यहाँ भी भयानक रस की सामग्री है। किंतु इसके द्वारा कवि कृत गाजुद्दीन की प्रशंसा की पुष्टि होती है, अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है। 'नवरसतरंग' में इसे भयानक के उदाहरण में रक्खा है, पर भयानक है नहीं।

## ( ७ ) बीभत्स रस

रुधिर, आँत आदि घृणित वस्तु देखने पर जो ग्लानि होती है, उसी से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—जुगुप्सा (ग्लानि)।

आलंबन—दुर्गंधित मांस, रुधिर, चर्बी, वमन आदि।

उद्दीपन—मांसादि में कीड़े पड़ जाना आदि।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मूँद लेना आदि।

व्यभिचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि एवं मरण आदि।

उदाहरण—

"अति ताप तें अस्थि पसीजन सों कढ़ै मेद की बूँदन जो टपकावैं;
तिन धूम धुमारितु लोथिनि कौं ये पिसाच चितानु सों खैंचि कै खावैं।
डिलियाहु खस्यो तचि मांस सबै जिहिसों जुग संधिहु भिन्न लखावैं;
अस जंघनली-गत मज्जा मिली, सद पी चरबी परबी-सी मनावैं।"

( श्रीसत्यनारायण का मालतीमाधव )

अर्द्ध-दग्ध मृतकों का दृश्य आलंबन और उद्दीपन है। इस दृश्य का देखा जाना अनुभाव और मोह आदि संचारी हैं। और भी—

"सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत;
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदिकै मांस उपारत;
स्वान आँगुरिन काटि-काटिकै खात विदारत।
बहु चील नोंचि लै गात तुच मोद भरयो सबको हियो;
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो।"

( भारतेंदुजी का सत्यहरिश्चंद्र )

यहाँ श्मशान का दृश्य आलंबन, और मृतकों के अंगों का काकादि द्वारा खाया जाना उद्दीपन इत्यादि से बीभत्स रस की व्यंजना है।

"इतहि प्रचंड रघुनंदन उदंड भुज,
उतै दसकंठ चढ़ि आयो डरु डारिकै;
'सोमनाथ' कहै रन मंड्यो फर मंडल में,
नाच्यो रुद्र स्रोनित सों अंगन पखारिकै।

मेद गूद चरबी की कींच मची मेदनी में,
बीच-बीच डोलैं भूत भैरों मद धारिकै ;
चायनि सौं चंडिका चबाति चंड-मुंडनि कों,
दंतनि सौं अंतनि निचोरैं किलकारिकै।"
(रसपीयूष)

किंतु—

इह कावरि है अघ-ओघन को सब दोषन को यह गागरि है ;
अस तुच्छ कलेवर कों स्रक-चंदन भूषन साजि कहा करि है।
मल-मूतन कीच गलीच जहाँ कृमि आकुल पीव अँतावरि है ;
दिन वे किन याद करे ? घिन कै जब सूकर कूकर हू फिरि है।

यद्यपि यहाँ बीभत्स की व्यंजना है, किंतु मनुष्य-शरीर की घृणास्पद अंतिम अवस्था के वर्णन से वैराग्य की पुष्टि की गई है, अतः शांत रस प्रधान है, और बीभत्स उसका अंग है।

इसी प्रकार—

"आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा वह,
मादा-मल-मूत औ' मज्जा की सलीती है ;
कहै 'पदमाकर' जरातो जागि भीजी तब ,
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भींती है।
सीतापति राम में सनेह यदि पूरो कियो ,
तौ तौ दिव्य देह जम-जातना सों जीती है ;
रीती राम-नाम तें रही जो बिना काम वह ,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।"

इसमें मनुष्य-शरीर की वीभत्सता का वर्णन होने पर भी वीभत्स रस नहीं है। यहाँ जुगुप्सा स्थायी न रहकर संचारी हो गया है, क्योंकि शरीर की वीभत्सता बताकर राम-भक्ति को प्रधानता दी गई है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही है। और—

"भूप शिवराज कोप करि रन-मंडल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकत्ता के दरबारे में;
काटे भट विकट गजन के सुंड काटे,
पाटे ढारि भूमि काटे दुवन सितारे में।
'भूषन' भनत चैन उपजे सिवा के चित्त,
चौसट नचाई जबैं रेवा के किनारे में;
आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।"

यहाँ भी जुगुप्सा की व्यंजना है। किंतु वह संचारी भाव होकर महाराज शिवाजी के प्रताप के वर्णन का अंगभूत हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है—वीभत्स रस नहीं। किंतु—

"चटकत बाँस कहूँ जरत दिखात चिता,
मज्जा-मेद-बास मिल्यो गंधवाह[1] गहिए।
काहू थल आँत-पाँत दग्ध देह की दिखात,
नील-पीत ज्वाल-पुंज भाँति बहु लहिए;

---

१ पवन।

केतिक कराल गीध चील माल जाल रूप
मांसहारी जीवन जमात लखि विनिए,
ऐसे समसान माँहि शांत हेतु शब्द यही
राम-नाम सत्य है, श्रीराम-नाम कहिए।"

यद्यपि चौथे चरण में शांत के विभावों का वर्णन है, पर शांत रस के अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः ऐसे वर्णनों में बीभत्स को ही प्रधान समझना उचित है।

## (८) अद्भुत रस

आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओं के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।

स्थायी भाव—विस्मय।

आलंबन—अलौकिक, अदृश्य पूर्व आश्चर्य-जनक वस्तु।

उद्दीपन—उसकी विवेचना।

अनुभाव—स्तंभ, स्वेद, रोमांच और गद्गद होना, अनिमिष देखना और संभ्रम आदि।

संचारी—वितर्क, आवेग, भ्रांति और हर्ष आदि।

उदाहरण—

जदुनाथ सों माँगि विदा वगदे मग माँहि अनेक विचार फुरे चित;
निज भौन हतो तहँ मंदिर चारु पुरंदर हू अभिलाषित जो नित।
मनि-थंभ रु विद्रुम देहरी त्यों गज-मोतिन वंदनवार परे जित;
लखि चौंकि के विप्र कह्यो यह है सपनो अथवा लखि साँचौ परै इत।

यहाँ द्वारिका से लौटकर आने पर सुदामाजी को अपने घर का न दीखना आलंबन, अलौकिक विभव-संपन्न भवन का वहाँ होना उद्दीपन, वितर्क आदि संचारी हैं। इनसे विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में व्यक्त होता है।

और भी—

गोपों से अपमान जान अपना क्रोधांध होके तभी,
की वर्षा व्रज इंद्र ने सलिल से चाहा डुबाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहो?

यहाँ गोवर्धनधारी श्रीनंदनंदन आलंबन हैं। उनका अविकल स्थिर रहना उद्दीपन है। व्रजवासियों के ये वाक्य अनुभाव हैं और वितर्क, हर्ष आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ अद्भुत रस की व्यंजना है।

और भी—

"व्रज बछरा निज धाम करि फिरि व्रज-लखि फिरि धाम;
फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि विरंचि तिहि ठाम।"

वत्स-हरण के समय ब्रह्मा द्वारा गोपकुमार और बछड़ों को ब्रह्म-धाम में छोड़ आने पर भी श्रीकृष्ण के पास उनको देखकर ब्रह्मा को विस्मय होने में अद्भुत रस की व्यंजना है।

"ताही पै संधान बान गांडीव तैं अर्जुन को,
ताही पै अच्छर चख चंचल चलात हैं।

रूप रंग भूपन जे बसन निहारत ही,
छिन ही में और ही से ओर दिखारात हैं।
मेरो ही बरयो है कैधों और को बरयो है ऐसो,
अस्त्र बिन सस्त्र ही में दृश्य लखि पात है।
याही ख्याल बीच हैं बिहाल सुर-बाल डारैं,
सेत फूल माल लाल-लाल भई जात है।"
(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

यहाँ अर्जुन के बाणों से स्वर्गगामी होनेवाले वीरों के दृश्य में, सुरांगनाओं के हृदय में अद्भुत रस की व्यंजना है।

"दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबंधु!
दीन ह्वै कै द्रुपद-कुमारी यों पुकारी है,
छाँड़े पुरुपारथ कों ठाढ़े पिय पारथ से
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है;
अंबर तो अंबर अमर किये 'वंसीधर'
भीपम करन द्रोन सोभा यों निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि
सारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है।"

यहाँ द्रौपदी के चीर-हरण के समय वस्त्र-वृद्धि को देखकर भीष्मादि के चित्त में अद्भुत रस की व्यंजना है।

किंतु—

जाते ऊपर को चढ़ो उतर के नीचे जहाँ से कृती,
हैं पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।

देखो भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किए ;
स्वर्गारोहण-मार्ग जो कि इनके क्या ही अनोखे नए ।

ऐसे उदाहरणों में अद्भुत रस नहीं, क्योंकि यहाँ श्रीगंगा की महिमा का वर्णन किया जाने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है; विस्मय व्यभिचारी अवस्था में उसका अंग है। इसी प्रकार—

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ;
जाहि अनादि अखंड अनंत अभेद अछेद सुवेद बतावैं ,
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरी छाछ पै नाच नचावैं ।"

यहाँ भी चतुर्थ चरण में विस्मय की अभिव्यक्ति होने पर भी वह प्रधान नहीं। भगवान् की भक्त-वत्सलता का वर्णन होने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और विस्मय-भाव उसी का पोषक होने से अंगभूत है।

## ( ९ ) शांत रस

तत्त्व-ज्ञान और वैराग्य से शांत रस उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

आलंबन—अनित्य रूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्म-चिंतन।

उद्दीपन—ऋषि जनों के आश्रम, गंगा आदि पवित्र तीर्थ, एकांत वन, सत्संग आदि।

अनुभाव—रोमांच, संसार-भीरुता, अध्यात्म-शास्त्र का चिंतन आदि।

संचारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति आदि।

काव्यप्रकाश में 'शांत' रस का स्थायी निर्वेद माना गया है। मम्मटाचार्य का मत है कि जो तत्त्व-ज्ञान से निर्वेद होता है, वह स्थायी भाव है, और जो इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण निर्वेद होता है, वह संचारी है[1]। नाट्य-शास्त्र में शांत रस का स्थायी भाव 'शम' माना गया है।

साहित्यदर्पण में शांत रस की स्पष्टता करते हुए कहा है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।'

अर्थात् जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिंता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शांत रस कहते हैं। यहाँ शंका हो सकती है कि यदि शांत रस का यह स्वरूप मान लिया जायगा, तो शांत रस की स्थिति मोक्ष-दशा में ही हो सकेगी, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान होना असंभव हो जायगा। फिर विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के द्वारा शांत रस की सिद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है? इसका समाधान यह किया गया है कि युक्त[2]

---

१ "स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद्भवेद्यदि ; इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ" काव्यप्रकाश, वामनाचार्य टीका, पृष्ठ १२८।
२ रूप, रस आदि विषयों से मन को हटाकर ध्यान-मग्न योगी को युक्त कहते हैं।

वियुक्त१ और युक्त-वियुक्त२ दशा में जो 'शम' रहता है, वही स्थायी होकर शांत रस में परिणत हो जाता है, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान भी संभव है। यहाँ मोक्ष-दशा या निर्विकल्पक समाधि का शम अभीष्ट नहीं है।

शांत रस में जो सुख का अभाव कहा गया है, वह विषय-जन्य सुख का अभाव है, न कि सभी प्रकार के सुखों का अभाव। क्योंकि—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्;
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।"

अर्थात् संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं, तथैव स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलकर भी तृष्णा-क्षय (शांति) से उत्पन्न होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते। अतएव 'शम' अवस्था में सुख अवश्य होता है, और वह अनिर्वचनीय होता है। शांत का उदाहरण—

"जानि परयो मोकों जग असत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है,

---

१ जिसे योग-बल से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, और समाधि-भावना करते ही सब वांछित वस्तुओं का ज्ञान अंतःकरण में भान होने लगता है, उस योगी को वियुक्त कहते हैं। २ जिसकी नेत्र आदि सब इंद्रियाँ महत्त्व और अद्भुत रूप आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब अतींद्रिय विषयों का साक्षात् कर सकती हैं, उस योगी को युक्त-वियुक्त कहते हैं।

याते परिवार व्यवहार जीत हारादिक
त्याग करि, सबही विकसि रह्यो मन है ।
'ग्वाल' कवि कहै मोह काहू मैं रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन-धन है ;
कीन्हों मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अलख अपार चारु चिदानंदघन है ।"

यहाँ जगत् की अनित्यता आलंबन है। किसी में मोह न रहना अनुभाव है । मति आदि संचारी भाव हैं। इनके द्वारा शांत रस ध्वनित होता है।

और भी—

व्याल सौं न भीति प्रीति मोतिन की माल सौं न
जैसो रत्न ढेर तैसो लोहहू प्रमानौं मैं,
फूलन बिछान त्यों पखान हू समान मेरे
मित्र और सत्रु में न भेद कछु जानौं मैं।
तृन कों न तुच्छ, नहिं लच्छ करौं तरुनी कों
राग और द्वेष को न लेस चित्त आनौं मैं।
कोऊ पुन्यारन्य माँहि मेरे यह द्यौस वीतौ
बीतौं ना और एक सिव-सिव बखानौं मैं।

यहाँ प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष आदि में समदृष्टि होने के कारण शांत रस की व्यंजना है। जिस संस्कृत-पद्य का यह अनुवाद है, उसे काव्यप्रकाश में शांत रस के उदाहरण में लिखा है।

नागोजी भट्ट[१] और क्षेमेंद्र[२] कहते हैं कि 'समदृष्टि के लिये सभी स्थल शिवमय हैं, फिर पुण्यारण्य की ही इच्छा उस अवस्था के (समदृष्टि के) प्रतिकूल होने से यहाँ अनौचित्य है।' हमारे विचार में इसके द्वारा निर्वेद या वैराग्य की व्यंजना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, प्रत्युत पुण्यारण्य का सेवन और शिव-शिव की रटन तो विरक्तावस्था के अनुकूल ही है। केवल विषय-सुख और दुःख के विषय में ही समदृष्टि की आवश्यकता है। अतएव यहाँ अनौचित्य नहीं। और भी—

"हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाम बिलैहैं;
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहैहैं।
'केसव' काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐहैं;
चेत रे चेत अजौं चित अंतर अंतक लोक इकेलो ही जैहैं।"

यहाँ भी विभावादिकों से शांत रस है। कहीं-कहीं निर्वेद के विभावादि की स्थिति होने पर भी शांत रस नहीं होता। जैसे—

सुरसरि-तट दृग मूँदि सब विषयन विष-सम जान;
कब निमग्न ह्वै हौं मधुर नील जलज-छवि ध्यान।

यद्यपि यहाँ विषयों के तिरस्कार आदि के द्वारा पूर्वार्द्ध में निर्वेद की व्यंजना है, किंतु कवि का अभीष्ट भगवान् कृष्ण में प्रेम-सूचन करना ही है। अतः शांत रस नहीं, देव-विषयक रति

---

१ देखिए, शांत रस के इस उदाहरण की काव्यप्रकाश की उद्योत टीका। २ औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला, प्रथम गुच्छक, पृष्ठ १३१।

( भक्ति ) भाव प्रधान है, और निर्वेद संचारी अवस्था में उसका पोषक है। इसी प्रकार—

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं;
आठहु सिद्धि नवों निधि को, सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन लोचन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं;
कोटि करौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।"

ऐसे वर्णनों में भी देव-विषयक रति भाव ( भक्ति ) ही प्रधान है, न कि शांत रस। और—

"बैठि सदा सतसंगहि में विषयान विषै रस कीर्ति सदाहीं;
त्यों 'पदमाकर' झूठि जितौ जग जानि सुज्ञानहि कों अवगाहीं।
नाक की नोंक में दीठि दिए नित चाहैं न चीज कहूँ चित चाही;
संतत संत सिरोमनि है धन हैं धन वे जन वेपरवाही।"

जगद्विनोद में कवि ने इसे शांत के उदाहरण में लिखा है। किंतु यहाँ तीन चरणों में जो वैराग्य की व्यंजना है, वह चौथे चरण में संत जनों की महिमा का अंग हो जाने से मुनि-विषयक रति भाव है, न कि शांत रस।

शांत रस और दया-वीर रस में यह भेद है कि दया-वीरता में देहादि का अभिमान रहता है, किंतु शांत में अहंकार का आभास भी नहीं होता है। यदि दया-वीर, धर्म-वीर और देव-विषयक रति भाव, सब प्रकार के अहंकारों से शून्य हो जायँ, तो वे शांत रस के अंतर्गत आ सकते हैं।

हास्य और बीभत्स रस के आश्रय।

रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी भावों के आलंबन और आश्रय दोनो की ही प्रतीति होती है। जैसे शृंगार-रस में शकुंतला-विषयक दुष्यंत की रति में शकुंतला आलंबन और दुष्यंत रति का आश्रय है, और दोनो की ही प्रतीति होती है। परंतु हास्य और जुगुप्सा में केवल आलंबन की ही प्रतीति होती है—आश्रय की नहीं। अर्थात् जिसे देखकर हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसी का वर्णन होता है—जिस व्यक्ति के हृदय में हास और घृणा उत्पन्न होती है, उस ( आश्रय ) का प्रायः वर्णन नहीं होता। पंडित-राज जगन्नाथ का[१] इस विषय में यह कहना है कि हास और जुगुप्सा में आश्रय के लिये काव्य के पाठक और श्रोता या नाटक के दर्शक किसी व्यक्ति का आक्षेप कर लेते हैं। यदि किसी व्यक्ति का आक्षेप न भी किया जाय, तो पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों को ही आश्रय मान लेना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि पाठक, श्रोता या दर्शक तो अलौकिक रस के आस्वाद के आनंद का अनुभव करनेवाले हैं ( अर्थात् आस्वाद के आधार हैं ), और इसलिये लौकिक हास और जुगुप्सा के वे आश्रय कैसे हो सकते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार श्रोता आदि को अपनी स्त्री-संबंधी वर्णनात्मक काव्य से रसास्वाद होता है ( अर्थात् लौकिक रस का जो आश्रय है, वही अलौकिक रस को आस्वाद

१ देखिए, रसगंगाधर, पृष्ठ ४९।

करनेवाला भी है), उसी प्रकार हास और जुगुप्सा में भी आश्रय और रसानुभवी एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं।

## रसों का पारस्परिक संबंध

एक रस का दूसरे रस के साथ कहीं पर विरोध और कहीं पर अविरोध (मैत्री) होता है।

## पारस्परिक विरोध

साहित्य-दर्पण के अनुसार—

शृंगार के विरोधी करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक हैं।

हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं।

करुण के विरोधी हास्य और शृंगार हैं।

रौद्र के विरोधी हास्य, शृंगार और भयानक हैं।

भयानक के विरोधी हास्य, शृंगार, वीर, रौद्र और शांत हैं।

शांत के विरोधी रौद्र, शृंगार, हास्य, भयानक और वीर हैं।

बीभत्स का विरोधी शृंगार है।

वीर के विरोधी भयानक और शांत हैं।

रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार से हुआ करता है—

(१) एक आलंबन विरोध—अर्थात् एक से अधिक रसों का केवल एक ही आलंबन होने के कारण विरोध।

(२) एक आश्रय विरोध—अर्थात् एक से अधिक रसों का केवल एक ही आश्रय होने के कारण विरोध।

( ३ ) नैरंतर विरोध—अर्थात् दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस की व्यंजना न होने से विरोध।

एक आलंबन विरोध—

वीर का शृंगार के साथ एक आलंबन में विरोध है। क्योंकि जिस आलंबन के कारण शृंगार-रस उत्पन्न होता है, उसी आलंबन के कारण वीर-रस के उत्पन्न होने में दोनो ही रस आस्वादनीय नहीं रह सकते।

रौद्र, वीर और वीभत्स के साथ संभोग-शृंगार का एक आलंबन में विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार हो रहा हो, उस पर क्रोध और घृणा होने पर शृंगार का आस्वाद नहीं रह सकता--रस-भंग हो जाता है।

विप्रलंभ-शृंगार का भी वीर, करुण, रौद्र एवं भयानक के साथ एक आलंबन के कारण उक्त प्रकार से विरोध है।

एक आश्रय विरोध—

वीर-रस का भयानक के साथ एक आश्रय में विरोध है, क्योंकि निर्भीक और उत्साही पुरुष वीर होता है, उसमें यदि भय उत्पन्न हो, तो वीरत्व कहाँ ?

नैरंतर विरोध—

शांत का शृंगार के साथ।।

## पारस्परिक अविरोध अर्थात् मैत्री

वीर-रस का अद्भुत एवं रौद्र के साथ, शृंगार का अद्भुत

के साथ, भयानक का बीभत्स के साथ अविरोध (मैत्री) है, क्योंकि इनका उक्त तीनों ही प्रकार से विरोध नहीं—इनका एक अवलंबन, एक आश्रय और नैरंतर समावेश हो सकता है।

रसों के विरोधाविरोध के विषय में कुछ आचार्यों का मत-भेद प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में कोई विरोध नहीं है। किसी आचार्य ने 'एक अवलंबन' को, किसी ने 'एक आश्रय' को और किसी ने 'नैरंतर' को लक्ष्य में रखकर रसों की एकत्र स्थिति में विरोधाविरोध बतलाया है।

रसों के विरोधाविरोध-प्रकरण में 'रस' पद से स्थायी भाव समझना चाहिए, क्योंकि रस तो वेद्यांतरसंपर्क-शून्य है। अर्थात् रसास्वाद के समय अन्य किसी को प्रतीति नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में विरोध होना संभव नहीं। अतः स्थायी भावों का ही विरोध होता है[1]। इसी प्रकार एक रस दूसरे रस का अंग भी नहीं हो सकता। अतएव जहाँ-जहाँ एक रस दूसरे रस का अंग कहा गया है, या आगे कहा जायगा, वहाँ उस रस का स्थायी भाव ही समझना चाहिए[2]।

रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध की विवेचना इसलिये

---

१ 'रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते'—काव्यप्रकाश, वामनाचार्य, पृष्ठ २२८; और प्रदीप उद्योत टीका, आनंदाश्रम सं०, पृष्ठ २०७-२७८। २ 'मतांतरेऽपि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामंङ्गित्वेनाविरोधित्वमेव'—ध्वन्यालोक, पृष्ठ १७९।

आवश्यक है कि विरोधी रस की सामग्रियों के वर्णन से उस ( विरोधी ) रस की व्यंजना होने लगती है, जिससे वर्णनीय रस का आस्वाद नष्ट हो जाता है, या दोनो रस ही नष्ट हो जाते हैं।

## रसों के पारस्परिक विरोध का परिहार

( १ ) जिन रसों की एक आलंबन में अभिव्यक्ति होने के कारण विरोध होता है, उन रसों के पृथक्-पृथक् आलंबन होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

निरखत सिय-मुख-कमल छवि रघुवर बारहिं वार;
निसिचर-दल-कलकल सुनत बाँधत जटा सँभार।

यहाँ श्रृंगार और वीर दो परस्पर विरोधी रसों का आश्रय तो एक श्रीरामचंद्र ही हैं, किंतु श्रृंगार-रस का आलंबन श्री-जनक-नंदिनी हैं, और वीर-रस का आलंबन राक्षस-सेना। यहाँ पृथक्-पृथक् आलंबन होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

जिन रसों की एक आश्रय में स्थिति होने के कारण विरोध होता है, वहाँ आश्रय-भेद ( पृथक्-पृथक् आश्रय ) होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

धनुप चढ़ावत तोहि लखि सम्मुख रन-भुवि माच;
मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरिजन जाहिं पलाय।

यहाँ वीर और भयानक दो परस्पर में विरोधी रसों का आलंबन वर्णनीय राजा है, किंतु विरोध नहीं। क्योंकि उत्साह

का आश्रय वर्णनीय राजा है, और भय का आश्रय है उस राजा के शत्रुगण। अतः आश्रय-भेद होने के कारण विरोध नहीं रहा है। और भी—

"उतैं वे निकारैं वरमाला हस्य संपुट सौं
इतैं अखै तून तैं निकारत ही बान के,
उतैं देव-वधू माल-ग्रंथि कों सँधान कैं
गांडीव की मुरवी पै होत ही सँधान के।
इतैं जापै कोप की कटाक्ष भरे नैन परैं
उतैं भर काम के कटाक्ष प्रेम-पान के;
मारिवे को वरवे को दोनो एक साथ चलैं
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अपच्छरान के।"

(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

यहाँ रौद्र और शृंगार दोनो विरोधी रसों का एक ही आलंबन, कौरव-सेना के वीर पुरुष, किंतु रौद्र का आश्रय अर्जुन है और शृंगार का आश्रय देवांगनाएँ। अतः आश्रय-भेद हो जाने से दोष नहीं रहा है।

(२) नैरंतर विरोधी रसों के बीच मे किसी ऐसे तीसरे तटस्थ रस का, जो दोनो का विरोधी न हो, समावेश किया जाने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

आलिंगित सुरतियन सों नभ विमान-थित वीर;
निरखत स्यारन सों घिरे रन निज परे सरीर।

युद्ध में मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त होने पर देवांगनाओं के

साथ विमान में स्थित वीर जनों का यह वर्णन है। यहाँ पूर्वार्द्ध में देवांगना आलंबन है, अतः शृंगार-रस है। उत्तरार्द्ध में उन राजाओं के मृतक शरीर आलंबन हैं, अतः बीभत्स है। यद्यपि शृंगार और बीभत्स, परस्पर विरोधी रसों का समावेश है, किंतु इन दोनो के बीच में निश्शंक प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वीर-रस की प्रतीति हो जाती है। वीर-रस इन दोनो का विरोधी नहीं—उदासीन है। अर्थात् शृंगार-रस के आस्वाद में रुकावट पैदा करनेवाले बीभत्स के पहले वीर-रस का आस्वादन हो जाता है, अतः विरोध नहीं रहता।

स्मरण किए गए विरोधी रस का किसी दूसरे रस के साथ समावेश हो जाना; परस्पर में विरोधी दो रसों का साम्य विवक्षित होना, अर्थात् दोनो विरोधी रसों की समान रूप से व्यंजना होना; परस्पर में विरोधी रसों में एक रस का दूसरे रस या भाव का अंग हो जाना; या दोनो ही रसों का किसी अन्य रस या भाव आदि के अंग हो जाना; और वर्णनीय रस के विभावों द्वारा विरोधी रस के विभावों का बाधित हो जाना; इत्यादि कारणों से भी विरोध का परिहार हो जाता है।

( ३ ) स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार।

> कहि - कहि मृदु मीठे वचन रस की चितवन डार;
>
> सम्मुख मा क्यों करत नहिं, प्रिये ! आज सतकार।

मृत नायिका के समक्ष ये नायक के वाक्य हैं। नायिका के

विषय में शृंगार-रस की व्यंजना है, और साथ ही मृतक नायिका-आलंबन, अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि संचारी भावों से करुण रस की व्यंजना है। शृंगार और करुण विरोधी रसों का समावेश है। किंतु यहाँ शृंगार-रस का स्मरण-मात्र है, अतः विरोध नहीं।

इसी प्रकार—

"है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी ;
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँदकर मैं रह गयी।
'यह करतल-स्पर्शन प्रिये! मुझसे न छिप सकता कहीं',
फिर इस समय क्या नाथ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं।"

(जयद्रथ-वध)

मृत अभिमन्यु के समीप उत्तरा का यह कारुणिक क्रंदन है। ऊपर के पद्य के अनुसार यहाँ भी करुण के साथ विरोधी शृंगार-रस का स्मरण-मात्र है।

(४) साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार। जैसे—

इतै प्रिया-दृग स्रवत उत परत समर-धुनि कान ;
प्रेम रु रन-रस बस सुभट हिय किय दोउ समान।

यहाँ रण में जाने को उद्यत सुभट के हृदय में अपनी प्रिया के नेत्रों में अश्रुपात देखकर वियोग-शृंगार की व्यंजना है। और, संग्राम का भेरी-नाद सुनकर उत्साह होने में वीर-रस की व्यंजना है। शृंगार और वीर परस्पर में विरोधी रसों की समान रूप से व्यंजना है, अतः दोष नहीं।

इसी प्रकार—

रक्त-मना१ मृगराज-वधू दसनच्छत२ कीन्ह अतंत प्रमोदित ;
त्यों नखतें जु विदारन ह्वै प्रकटे व्रन३ ते तन में जित ही तित।
मोद समात न गात मनो पुलकावलि के मिस है वह सोभित ;
देखि के तोहि सरक्त४ सखे ! मुनिराज विरक्तहु डाह करैं चित।

क्षुधा-पीड़ित सिंहिनी को दया-वश अपना शरीर खिलाते हुए बुद्ध के प्रति किसी चाटुकारी के ये वाक्य हैं५। यहाँ शृंगार और दया-वीर६ परस्पर विरोधी रसों का समावेश है। कामिनी द्वारा किए गए दंतक्षतादि से जिस प्रकार शृंगार-रस की व्यंजना होती है, उसी प्रकार यहाँ सिंहिनी द्वारा किए गए दंतक्षतादि से दया-वीर-रस की व्यंजना होती है। शृंगार और दया-वीर दोनो विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यंजना होना कवि को अभीष्ट है। और, शृंगार-रस के सादृश्य से दया-वीर की पुष्टि भी होती है, अतः ऐसे वर्णनों में विरोध नहीं रहता है।

---

१ रक्त अर्थात् रुधिर में मन जिसका, अथवा अनुरक्त होकर। २ दाँतों से किए गए घाव अथवा अनुरक्त नायिका द्वारा किए हुए दंतक्षत। ३ नखों से किए गए घाव अथवा नायिका द्वारा किए गए नखक्षत। ४ रुधिर-युक्त ; अथवा अनुरक्त। ५ 'व्याघ्री जातक'-नामक बौद्ध-ग्रंथ में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा का इसी प्रकार वर्णन है। ६ काव्यप्रकाश के कुछ व्याख्याकारों ने दया-वीर के स्थान पर यहाँ शांत-रस और कुछ व्याख्याकारों ने वीभत्स रस बतलाया है। देखो, बालबोधिनी-टीका-संस्करण, पृष्ठ २५०-२०।

(५) दूसरे किसी रस या भाव के अंग हो जाने से परिहार। जैसे—

ऊँचे किएँ कच-पास गहैं, अरु नीचे किएँ पकरैं पद जोरन;
ऐंचत, रोप सों दूर किएँ, बरजोरन आँचर के दुहुँ छोरन।
व्याकुल ह्वै फिरती नृप! हैं तुव सत्रुन की वनिता करि सोरन;
जायँ जहाँ तित ही नहिं केते कँटीले तरू बन में चहुँ ओरन१।

यहाँ समासोक्ति अलंकार है। समासोक्ति में समान विशेषणों द्वारा दो अर्थ हुआ करते हैं—एक प्रस्तुत (प्राकरणिक) और दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक)। 'ऊँचे किए कच-पास गहैं' इत्यादि विशेषण ऐसे हैं, जिनका एक अर्थ वन के कंटीले वृक्षों द्वारा शत्रु-वनिताओं को पीड़ित किया जाना होता है। इस अर्थ में शत्रुओं की स्त्रियों की दयनीय दशा के वर्णन में करुण-रस की व्यंजना होती है। इन्हीं विशेषणों का दूसरा अर्थ उन स्त्रियों के साथ कामी पुरुषों द्वारा किए जानेवाले व्यवहार का होता है। इस दूसरे अर्थ में कामीजनों के अनुराग का वर्णन किए जाने से शृंगार-

१ किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा की है कि 'हे राजन्! जिन वनों में आपके शत्रुओं की रमणियाँ भटकती फिरती हैं, वहाँ ऐसे बहुत-से कँटीले वृक्ष हैं, जो ऊँचे किए जाने पर उन रमणियों के केश-पाशों को नीचे किए जाने पर उनके चरणों को और तंग आकर दूर हटाने पर उनके वस्त्रों के प्रांत-भागों को पकड़ लेते हैं।' दूसरा अर्थ यह है कि उन रमणियों को वन में कामीजन इस प्रकार की चेष्टाओं से व्याकुल करते हैं।

रस की व्यंजना होती है। करुण और शृंगार परस्पर में विरोधी रस हैं, किंतु यहाँ कवि को राजा का प्रताप वर्णन करना अभीष्ट है। अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। इस भाव के यहाँ करुण और शृंगार दोनो ही पोषक हैं। जिन वाक्यों द्वारा करुण व्यक्त होता है, उन्हीं से शृंगार भी व्यक्त होता है, और उन्हीं वाक्यों से राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है। अतः करुण और शृंगार दोनो ही राज-विषयक रति के अंग हो गए हैं, और विरोध हट गया है। और देखिए—

आवतु है न बुलावतु हू भई प्रार्थित हू मुख को न दिखावै,
बातैं अनेक रहस्यमयी सुनिके हू नहीं कछु बोलि सुनावै;
पास गए हू न ह्वै समुही करतव्य-विमूढ़ भई दरसावै,
भूपति तेरे रिपून की वाहिनी मानवती जुवती-सी लखावै।

यह राजा के वीरत्व की प्रशंसा है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं को मानिनी नायिका की चेष्टाओं से उपमा दी गई है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं में भयानक रस और मानिनी की चेष्टाओं में शृंगार-रस की ध्वनि है। यहाँ भयानक रस का शृंगार-रस अंग है, क्योंकि मानिनी नायिका की चेष्टाओं की उपमा द्वारा सेना की तादृश चेष्टाओं में जो भय की व्यंजना होती है, उसका उत्कर्ष होता है। और, भयानक रस राज-विषयक रतिभाव का अंग हो गया है, क्योंकि शत्रु-सैन्य में भय का उत्पन्न होना राजा के प्रताप का उत्कर्षक है।

प्रथम उदाहरण में समानरूप से दो विरोधी रस ( करुण और शृंगार ) राज-विषयक रतिभाव के अंग हैं ; जैसे दो समान श्रेणी के सेनापति एक राजा के अंग होते हैं। और, इस उदाहरण में—जैसे एक सेनापति और दूसरा उसका भृत्य दोनो राजा के अंग होते हैं, उसी प्रकार भयानक रस का अंगभूत शृंगार और भयानक ये दोनो ही रस राज-विषयक रतिभाव के अंग हो गए हैं। इन दोनो उदाहरणों में यही मार्मिक भेद है।

इसी प्रकार--

"कूरम नरिंददेव कोप करि बैरिन तें ,
सहदत्त की सेना समसेरन तें भानी है ;
भनत 'कविंद'- भीत-भीत दे असीसन को ,
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी को लिए ,
सोनित पिवत ताकी उपमा बतानी है ;
प्यालो लै चीनी को छकी जोबन तरंग मानो ,
रंग-हेत पीवत मजीठ मुगलानी है।"

यहाँ कूरम नरेंद्र की प्रशंसा अभीष्ट है, अतः राज-विषयक रतिभाव प्रधान है। और, तीन चरणों में व्यंजित वीभत्स और चौथे चरण में व्यंजित वीभत्स का अंगभूत शृंगार - रस ये राज-विषयक रति के अंग हैं, क्योंकि इन दोनो के द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है।

(६) विरोधी रस के बाधित[१] हो जाने के कारण परिहार। जैसे—

साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनो हू रमनीय;
पै तरुनी-दृग-भंगि लौं चल जीवन-स्मरनीय।

ऐसे स्थानों में ध्वनिकार[२] और क्षेमेंद्र[३] शांत-रस की प्रधानता बतलाते हैं। वे कहते हैं कि विलासी जनों को शांत-रस का स्पष्ट उपदेश रुचिकर नहीं होता, इसलिये उनको उन्मुखी करने के लिये इसमें शृंगार-रस उसी प्रकार मिलाया गया है, जिस प्रकार बालकों के लिये कड़ुई दवा को रुचिकर बनाने के लिये उसमें मिश्री आदि मिला दी जाती है। आचार्य मम्मट[४] कहते हैं, यह बात नहीं है। इस पद के तीन चरणों में जो शृंगार-रस के विभाव हैं, वे शांत-रस द्वारा बाधित हैं। यहाँ मनुष्य-जीवन की क्षण-भंगुरता बतलाने के लिये कटाक्षों की चंचलता से उपमा दी गई है। कामिनी के कटाक्षों का जीवन से भी अधिक चंचल होना सुप्रसिद्ध है, अतः इसके द्वारा शांत-रस की पुष्टि होती है, और शृंगार-रस की व्यंजना दब जाती है।

---

१ किसी विरोधी रस की सामग्री का समावेश होने पर भी प्रधान रस की प्रबलता होने के कारण विरोधी रस की व्यंजना का रुक जाना। २ देखिए, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १८०। ३ देखिए, औचित्यविचार-चर्चा, पृष्ठ १२२। ४ देखिए, काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-संस्करण, सप्तम उल्लास, पृष्ठ ४०३।

इसी प्रकार—

है कहाँ काज अजोग ये औ' ससिबंस कहाँ ? फिर हू दिखराय है ?
दोष-विनास कों शास्त्र सुने अहो ! रोषहु में मुख मोद बढ़ाय है ?
लोग कहा कहिहैं सुकृती ? सपनेहु कहा अब वो दृग आय है ?
धीरज क्यों न धरै चित तू धन है जन जो अधरामृत पाय है।

उर्वशी के विरह में राजा पुरूरवा की यह विरहोक्ति है। इस पद्य के प्रत्येक पाद के पूर्वार्द्ध में क्रमशः वितर्क, मति, शंका और धृति व्यभिचारी भावों की व्यंजना है। ये 'शम' स्थायी के अनुकूल होने से शृंगार के विरोधी शांत के पोषक हैं। किंतु प्रत्येक पाद के उत्तरार्द्ध में आए हुए अभिलाषा के अंगभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिंता व्यभिचारी भावों की व्यंजना से उनका तिरस्कार हो जाता है। अर्थात् शांत-रस के भाव दब जाते हैं—उनका बाध हो जाता है। और अंत में उर्वशी-विषयक चिंता ही प्रधानतया स्थित रहती है, जिसके द्वारा विप्रलंभ-शृंगार की व्यंजना होती है।

जिन रसों का परस्पर में विरोध नहीं है, उनका भी प्रबंधात्मक काव्य में प्रधान रस की अपेक्षा अत्यंत विस्तृत समावेश किया जाना अनुचित है—

"अविरोधी विरोधी वा रसेऽङ्गिनि रसांतरे,
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता।"

(ध्वन्यालोक ३। २४)

रसों के विरोधाविरोध के अतिरिक्त रस-विषयक और भी कुछ दोष हैं।

## अन्यान्य रस-दोष

( १ ) रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन।

रस व्यंग्यार्थ है, उसका आस्वादन केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है। अतः रस का शृंगार आदि विशेष शब्दों द्वारा अथवा 'रस' सामान्य शब्द द्वारा स्पष्ट कथन अनुचित[1] है।

जैसे—

हौं वलि चलि वाको छिनक लीजै आजु निहार ;
उमगत है चहुँ ओर छवि मानहु रस शृंगार।

---

१ "व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ... ।"
( काव्यप्रकाश ७ । ६०-६२ )

"रसस्थायिव्यभिचारिणां स्वशब्देन वाच्यत्वं ।"
( हेमचंद्र, काव्यानुशासन, पृष्ठ ११० )

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि"...
"दोषा रसगतामताः ।" ( साहित्यदर्पण ७ । १२-१५ )

"निषध्यमानो रसो रसशब्देन शृंगारादि शब्दैर्वानाभिधातुमुचितः अनास्वादापत्तेस्तदास्वादश्च व्यंजनमात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात् । एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः ।"
( रसगंगाधर, पृष्ठ ५० )

खेद है, हिंदी के कवियों ने इस दोष पर बहुत कम ध्यान दिया है।

इसमें रस और शृंगार का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

और देखिए—

"काहू एक दास काहू साहब की आस में,
कितेक दिन बीते रीत्यो सबै भाँति बल है;
बिथा जो बिनै सों करै उत्तर याही सो लहै,
सेवा-फल ह्वै ही रहै, यामें नहिं चल है।
एक दिन हास-हित आयो प्रभु पास तन,
राखे न पुराने बास कोऊ एक थल है;
करत प्रनाम सो बिहँसि बोल्यो यह कहा?
कह्यो कर जोरि देव-सेवा ही को फल है।"

इसे काव्य-निर्णय में भिखारीदासजी ने हास्य-रस के उदाहरण में लिखा है। किंतु यहाँ हास का स्पष्ट कथन हो गया है।

"रति को कलंक लियो होतु जानि संकर के,
करुना के अंकुर ह्वै पंकु सों उदै भए।"

उजियारे कवि ने अपने जुगुलप्रकाश में इसमें करुण रस माना है। परंतु यहाँ 'करुणा' का स्पष्ट कथन है।

"मींडि मारयो कलह बियोग मारयो बोरि कै,
मरोरि मारयो अभिमान भरयो भय भान्यो है;
सबको सुहाग अनुराग लूटि लीन्हों दीन्हों,
राधिका कुँवरि कहँ सब सुख सान्यो है।
झपट-झटकि डारयो निपटि कै औरन सों,
भेटी पहिचानि मन में हू पहिचान्यो है।

जीत्यो रति-रन मथ्यो मनमथहू को मन,
'केसोराइ' कौनहू पै रोष डर आन्यो है।"

रसिकप्रिया में इसमें रौद्र माना है, परंतु यहाँ रोष का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो गया है।

"टूटे टाटि घुन घने घूम-घूम सेन सने,
झींगुर छुगोड़ी साँप बिच्छिन की घात जू;
कंटक कलित गात तृन वलित बिगंध जल,
तिनके तलप तल ताको ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अंधतम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू;
छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर-घरनीनि यह जात न घिनात जू।"

रसिकप्रिया में इसमें बीभत्स-रस का उदाहरण दिखाया है। 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाने से दोष आ गया है। हाँ, 'असूया' संचारी भाव की व्यंजना अवश्य है।

"गेंद के लाइबे के मिस कै हसिकैं कढ़ि ग्वालन संग बिहार तें;
पील पटी कटि सों कसिकै उर में डरप्यो न कलिंदी की धारतें।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए जु बढ़ी अरुनाई उछाह अपार तें!
काली फनिंद के फंदन कों चढ़ि कूद्यो गुविंद कदंब की डार तें।"

रस-पीयूष में इसमें वीर माना है, परंतु यहाँ वीर-रस के उत्साह स्थायी का शब्द द्वारा कथन है।

इसी प्रकार—

"कहा कीन्हीं असमै अनीति दसकंठ कंत,
हरिलायौ सिया कों सु ताको फल पावैगौ;
सेत बाँधि सिंधु में अडिग पथ कीन्हौं उनि,
कौन अब ऐसो समुझाय जु बचावैगौ।
बूड़ि-बूड़ि जात मन मेरो भय-सागर में,
कहा जानौं कैसे त्रास आँखिन दिखावैगौ;
बंदी करि सब कीस वारे रघुनंद आय,
हाय-हाय हाथें हाथ लंकहि लुटावैगौ।"

रस-पीयूष में इसे भयानक में लिखा है, परंतु यहाँ भयानक रस के भय स्थायी और त्रास संचारी का शब्द द्वारा कथन है।

और—

"हा-हा तुहूँ चलि देखि भटू अजहूँ वह पालने लाल परयो है;
जाहि निहारि कहै 'ससिनाथ' अचंभौ महा व्रज माहि भरयो है।
ठौर हि ठौर यही चरचा, गृह-काज, समाज सबै बिसरयो है;
नैंक से नंद के छोहरा री, पग सों सकटासुर चूर करयो है।

सोमनाथजी ने रस-पीयूष में इसे अद्भुत रस माना है, किंतु इसमें 'अचंभौ' पद से अद्भुत रस का शब्द द्वारा कथन है।

"दान न दै गई मोसों कह्यो मैं कह्यो नँदगामु में बेचति नाहीं,
लै गयो छीन छला चट सों नट तातें परी यहि झंझट माहीं।
वार नगीन है 'बेनीप्रवीन' कहै सपनो सपनो यहि ठाहीं,
है अलि ताको वलावति क्यों न गहे ललिता को न छोड़ति बाहीं।"

इसे 'नवरस' तरंग में 'स्वप्न' संचारी के उदाहरण में लिखा है। यहाँ 'सपनो सपनो' में स्वप्न का शब्द द्वारा कथन है।

इसी प्रकार स्थायी और व्यभिचारी भावों की भी प्रतीति व्यंजना द्वारा ही हो सकती है, न कि शब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाने से। जैसे—

"निसि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात;
उठि न सकत आलस वलित सहज सलोने गात।"

(जगद्विनोद)

यहाँ 'आलस' का कथन है। उसकी व्यंजना 'आलस' पद के विना भी हो सकती है।

"मठा तें, मथानी तें, मथन तें, सुमाखन तें
मोहन की मेरे मन सुधि आय-आय जात।"

इसे ग्वाल कवि के 'रस-रंग' में स्मृति भाव के उदाहरण में दिया है, पर 'सुधि' पद से स्मृति का स्पष्ट कथन है।

"हरि भोजन तब तें दए तेरे हित बिसराय;
दीन भयो दिन भरत है, तब ते हाहा खाय।"

इसे रसलीन ने अपने 'रसप्रबोध' में दैन्य संचारी के उदाहरण में दिया है, पर दीन शब्द से दैन्य का स्पष्ट कथन है। और देखिए—

प्रिय के मुख कों लखि लज्जित भे परमादर सों करुना भरि आए;
अति त्रासित सर्प-विभूषन सों सिर चंद्रकला लखि विस्मय पाए।

लखि जह्नुसुता कों अमर्ष भरे नृ-कपालन सों भय पाय डराए ;
नव-संगम यों रस-युक्त घने गिरिजा दृग वे हमैं मोद बढ़ाए ।

इसमें व्रीड़ा, त्रास और अमर्ष व्यभिचारी भावों का ; विस्मय तथा भय स्थायी भावों का एवं करुण-रस का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है ।

किंतु इसी पद्य को यदि—

दयितानन देखि बिनम्र भए चरमांबर सों झट ही मुकलाएँ ;
लखि सर्प-विभूषन कंपित भे ससि कों लखिकै अनिमेष जनाएँ ।
नृ-कपालन सों अति ग्लान तथा लखि जह्नुसुता अति बंक लखाएँ ;
नव-संगम में प्रिय कों लखिकै गिरिजा-दृग सो नित मोद बढ़ाएँ ।

इस रूप में कर दें तो स्थायी और व्यभिचारियों का शब्द द्वारा कथन न होकर, उनकी 'विनम्र' आदि अनुभावों द्वारा व्यंजना होती है ; और दोष नहीं रहता । इसी प्रकार रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा ही व्यंजना होना समुचित है ।

कहीं व्यभिचारी भाव का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाने पर भी दोष नहीं माना जा सकता ; परंतु ऐसा वहीं हो सकता है, जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा उस भाव की, जिसकी प्रतीति कराना अभीष्ट हो, स्वशब्द के कहे बिना स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती हो । जैसे—

अति उत्सुक सौं झट आगे बढ़ीं पुनि लाज सौं जो हटि औंड़ं भईं ;
समुझाय-बुझाय सखीनन सौं प्रिय-सम्मुख जो फिर ओंड़ं भईं ।

नव-संगम में लखि कै प्रिय को हिय में भय हू कछु पाँई भई ;
मुद-मंगल-दायक हों गिरिजा हँसिके हर हीय लगाँई भई।

यहाँ औत्सुक्य और लज्जा आदि व्यभिचारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, पर दोष नहीं माना जा सकता। क्योंकि इन व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा यहाँ स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती है। 'झट' अनुभाव केवल औत्सुक्य का ही व्यंजक नहीं, भय आदि के कारण भी शीघ्रता की जा सकती है। 'पीछे हट जाना' या 'मुँह फेर लेना' अनुभाव केवल लज्जा ही से नहीं, किंतु क्रोध, घृणा या भय से भी हो सकते हैं, अतः यहाँ लज्जा शब्द के स्पष्ट कहे बिना लज्जा की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार यदि यहाँ भय को विभावादि द्वारा पुष्ट किया जाता तो भयानक रस, शृंगार का विरोधी होने से, दोष हो जाता। अतः यहाँ भय का भी स्वशब्द द्वारा कथन दोष नहीं, किंतु गुण ही है। और देखिए—

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे ;
बिहँसे करुना-ऐन, चितइ जानकी लखन तन।

(तुलसीदास)

यहाँ 'बिहँसे' पद से 'हास' स्थायी का शब्द द्वारा कथन है, किंतु दोष नहीं। क्योंकि केवट के अटपटे वचन जो अनुभाव हैं, उनसे केवल हास्य की ही प्रतीति नहीं, किंतु इनके द्वारा 'विस्मय' आदि की भी प्रतीति हो सकती है, अतएव इसका स्पष्ट कथन आवश्यक था।

(२) विभाव और अनुभावों की कष्ट-कल्पना[1] से प्रतीति। जैसे—

चहति न रति यह दिगत मति चितहु न कित ठहराय;
विषम दसा याकी अहो कीजै कहा उपाय।

यह वियोगी नायिका की दशा का वर्णन है। 'रति न चहत' आदि अनुभावों द्वारा केवल वियोग ही सूचित नहीं होता, किंतु करुण, भयानक और बीभत्स भी। अतएव यहाँ विप्रलंभ-शृंगार के विभाव 'विरहिणी नायिका' की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है। और—

कीन्ह धवल छवि चंद्रमा भुवि-मंडल दिवि लोकु;
भ्रू-विलास कछु हास-जुत रमनी-मुख अवलोकु।

यहाँ शृंगार-रस के आलंबन-विभाव नायिका और उद्दीपन-विभाव चंद्रोदय का वर्णन तो है, किंतु नायक के 'रति-कार्य' अनुभावों का वर्णन नहीं। अतः यह समझना कठिन है कि नायिका के 'भ्रू-विलास और हास' अनुभाव स्वाभाविक विलास-मात्र हैं या संभोग-शृंगार के रति-कार्य।

---

१ 'कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।'

(काव्यप्रकाश ७। ६०)

'आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।'

(साहित्यदर्पण ७। १२)

'एवं विभावानुभावयोरसत्यवप्रत्यये विलम्बेनप्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।'

(रसगंगाधर, पृष्ठ ९०)

(३) वर्णनीय रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन१।

"मधु कहता है ब्रजबाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान;
आओ यहाँ पुकार रहा है श्रीमधुसूदन मोद निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान;
यौवन के सु रसाल योग में काल रोग है अति बलवान।"

(विरहिणी व्रजांगना)

यहाँ 'काल-रोग' से यौवन की अस्थिरता बतलाई गई है। यह शांत-रस का उद्दीपन विभाव है। इस वियोग-शृंगार के वर्णन में यह अनुचित है। इसी प्रकार—

"ऐहैं न फेरि गई जो निसा तन जोबन है घन की परछाँही;
त्यों 'पद्माकर' क्यों न मिलै उठि यों निबहैगो न नेह सदाँही।

---

१ 'विरोधिरससंबंधिविभावादिपरिग्रहः।'

(ध्वन्यालोक ३। १८, पृष्ठ १६१)

'यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।' (ध्वन्यालोक, पृष्ठ १६२)

'प्रतिकूलविभावादिग्रहो।'—(काव्यप्रकाश ७। ६१)

'विभावादिप्रातिकौल्यं रसादेर्दोषः।'

(हेमचंद्र-काव्यानुशासन, पृष्ठ ११२)

'परिपंथिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।'

(साहित्यदर्पण ७। १२)

'समबलप्रबलप्रतिकूलरसाङ्गानां निबंधनंतु प्रकृतरसपोषप्रातीपिकमिति दोषः।' (रसगंगाधर, पृष्ठ ५०)

कौन सयान जो कान्ह सुजान सौं ठानि गुमान रही मन माँही ;
एक जो कंज कली न खिली तो कहौ कहुँ भौंर को ठौर है नाँही।"

'यौवन है धन की परिछाइं' में यौवन की अस्थिरता का वर्णन है।

किंतु कहीं ऐसा नहीं भी होता है। अर्थात् प्रतिकूल विभावादि के वर्णन में भी दोष नहीं होता। जैसे—

पीत-वदन कृस सरस हिय अलसित तू दरसाय ;
सखि ! तेरे तन में बढ्यो चेत्रिय रोग जनाय।

वियोगिनी के प्रति उसकी सखी के ये वाक्य हैं। 'पीत-वदन कृस' आदि अनुभाव करुण-रस के व्यंजक हैं, न कि शृंगार के। ध्वनिकार[१] का मत है कि इनके द्वारा वियोग-शृंगार की पुष्टि होने के कारण ये अनुभाव यहाँ विप्रलंभ के अंग हो गए हैं, अतएव विरोध नहीं। किंतु आचार्य मम्मट[२] और पंडितराज जगन्नाथ[३] कहते हैं कि यहाँ पीत-वदन आदि अनुभाव करुण और विप्रलंभ दोनो के समान बल से व्यंजक होने से विरोध नहीं है, क्योंकि समान विशेषणों के प्रभाव से दो परस्पर विरोधी रसों की व्यंजना में विरोध नहीं होता।

---

१ देखिए, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १६६

२ देखिए, काव्यप्रकाश, आनंदाश्रम-सं०, पृष्ठ ३७४ और वामनाचार्य की बालबोधिनी, पृष्ठ ४४२।

३ 'अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।'

(रसगंगाधर, निर्णयसागर संस्क०, सन् १८९४, पृष्ठ ४९)

( ४ ) प्रबंध-रचना में रस-विषयक दोष ।

रस-विषयक निम्न-लिखित कुछ ऐसे दोष हैं, जो एक पद्य में नहीं, किंतु काव्य या नाटक की प्रबंध-रचना में ही हो सकते हैं। इन दोषों के उदाहरणों में आचार्य मम्मट ने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्य और नाटकों का नामोल्लेख किया है। और, उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी साहित्याचार्य इस विषय में उनसे सहमत हैं।

रस की पुनर्दीप्ति—किसी रस के परिपाक हो जाने पर, अर्थात् 'रस' विशेष का प्रसंग समाप्त हो जाने पर, उस रस का फिर वर्णन ( दीप्ति ) करना।

परिपुष्ट और उपभुक्त रस, पुनः दीप्त किए जाने पर, परिम्लान पुष्प के समान, नीरस हो जाता है। जैसे महाकवि कालिदास ने, कुमारसंभव-महाकाव्य में, रति-विलाप के प्रसंग में करुण रस का वर्णन[1] समाप्त करके उसे फिर दीप्त किया है[2]।

अकांड प्रथन—असमय रस का वर्णन करना।

वेणी-संहार-नाटक के दूसरे अंक में अनेक वीरों के विनाश के समय बीच ही में रानी भानुमति के साथ दुर्योधन के प्रेमालाप के वर्णन में यह दोष है। वहाँ शृंगार-रस का वर्णन असामयिक है।

---

१ 'अथ मोहपरायणा सती'—( कुमारसंभव, ४ । १ )

२ 'अथ सा पुनरेव विह्वला'—( कुमारसंभव ४ । ४ ) यहाँ से फिर दीप्त किया गया है।

अकांड छेदन—असमय में रस का भंग करना।

भवभूति के महावीर-चरित नाटक के दूसरे अंक में श्रीरघुनाथजी और परशुरामजी का संवाद धारावाहिक वीर-रस का प्रसंग है। इसमें श्रीरघुनाथजी की 'कंकणं मोचनाय गच्छामि' उक्ति में वीर-रस के भंग हो जाने में यह दोष है।

अंगभूत रस की अत्यंत विस्मृति—जिस प्रबंध में जिस रस का प्रधानतया वर्णन न हो, वहाँ उस अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन करना।

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं की विलास-क्रीड़ा के शृंगारात्मक विस्तृत वर्णन में यह दोष है। किरातार्जुनीय शृंगार-रस प्रधान नहीं है।

अंगों का अननुसंधान—रस के आलंबन और आश्रय, प्रबंध के नायक या नायिकादि का बीच-बीच में अनुसंधान न होना अथवा उनका आवश्यक प्रसंग में भूल जाना।

रस के अनुभव का प्रवाह आलंबन और आश्रय पर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंग पर अनुसंधान न होने से रस भंग हो जाता है। महाराजा श्रीहर्ष की रत्नावलीनाटिका के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य द्वारा सागरिका ( जो प्रधान नायिका है ) को भूलजाने में यह दोष है।

प्रकृति-विपर्यय—काव्य-नाटकों में प्रधान नायक तीन प्रकृति के होते हैं—दिव्य ( स्वर्गीय देवता ), अदिव्य ( मनुष्य ) और दिव्यादिव्य ( मनुष्य रूप में प्रकटित भगवान् के अवतार )।

इन तीनो के धीरोदात्त१, धीरोद्धत२, धीर-ललित३ और धीर प्रशांत४, चार-चार भेद होते हैं। ये भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। जो पात्र जिस प्रकृति का हो, उसका उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन किया जाना उचित है। जहाँ प्रकृति के प्रतिकूल—अस्वाभाविक—वर्णन किया जाय, वहाँ यह दोष होता है। रति, हास, शोक और विस्मय तो उत्तम प्रकृतिवाले अदिव्य पात्र के समान दिव्य प्रकृति के पात्र में भी वर्णन किए जाने में दोष नहीं; किंतु संभोग-शृंगारात्मक रति का उत्तम प्रकृतिवाले दिव्य पात्रों में (जिनमें हमारी पूज्य बुद्धि रहती है) वर्णन किए जाने में प्रकृति-विपर्यय दोष है।

महाकवि कालिदास-कृत कुमारसंभव में श्रीशंकर और पार्वती के संभोग-शृंगार के वर्णन में यह दोष है। इसी प्रकार स्वर्ग-पातालादि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य या दिव्यादिव्य प्रकृति के ही वर्णनीय हैं, न कि अदिव्य प्रकृति के। क्योंकि अदिव्य प्रकृतियों के अमानुषिक कार्यों के वर्णन में प्रत्यक्ष असत्य की प्रतीत होने के कारण रसास्वाद नहीं हो सकता।

अनंग-वर्णन—ऐसे रस का वर्णन किया जाना, जिससे प्रकरणगत रस को कुछ लाभ न हो।

---

१ जिनमें उत्साह प्रधान हो। २ जिनमें क्रोध प्रधान हो। ३ जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान हो। ४ जिनमें वैराग्य प्रधान हो।

कविराज राजशेखर-कृत कर्पूर-मंजरी सट्टिका में राजा चंडसेन एवं नायिका विभ्रमलेखा द्वारा किए हुए वसंत के वर्णन का अनादर करके वंदी जनों द्वारा किए गए वर्णन की प्रशंसा करने में यह दोष है।

देश, काल आदि के वर्णन में रस-विषयक दोष।

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि के विषय में लोक और शास्त्र-विरुद्ध वर्णन अनौचित्य है। जैसे स्वर्ग में वृद्धता, व्याधि आदि, पृथ्वी पर अमृत-पान आदि देश-विरुद्ध; शीत-काल में जल-विहार, ग्रीष्म में अग्नि-सेवन, आदि काल-विरुद्ध; ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना, शूद्र का वेद पढ़ना, आदि वर्ण-विरुद्ध; ब्रह्मचारी और संन्यासी का तांबूल-भक्षण और स्त्री-सेवन आदि आश्रम-विरुद्ध; बालक और वृद्ध का स्त्री-सेवन आदि अवस्था-विरुद्ध; और दरिद्री का धनाढ्य-जैसा और धनवान् का दरिद्री-जैसा आचरण स्थिति-विरुद्ध है। अनुचित वर्णनों से रसास्वाद भंग हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार पानक-रस (शर्बत आदि) में कंकड़, मिट्टी आदि मिल जाने से उसके आस्वाद में आनंद नहीं मिलता, उसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से रसानुभव में आनंद प्राप्त नहीं होता—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य—कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा।'

(ध्वन्यालोक)

## रसात्मक काव्य में अलंकार-विषयक दोष

( १ ) यद्यपि अलंकार रस के उपकारक हैं—शोभाकारक हैं—किंतु रसात्मक काव्य में अलंकारों का प्रासंगिक समावेश ही उपकारक है।

शृंगार-रस में, विशेषतया विप्रलंभ-शृंगार में, यमकादि अलंकारों की रचना त्याज्य है। क्योंकि यमक, सभंग श्लेष एवं चित्रबंध अलंकारों के समावेश से इन अलंकारों की प्रधानता हो जाती है, और इनके चमत्कार में बुद्धि के संलग्न हो जाने से वर्णनीय रस गौण हो जाता है—रस का तादृश आनंदानुभव नहीं हो सकता[१]। शृंगारात्मक काव्य में, विभावादि के आयोजन में, यमक आदि किसी अलंकार का काकतालीय[२] निस्पादन ( सिद्ध ) हो जाने में तो कोई हानि नहीं है, किंतु आग्रह-पूर्वक अलंकारों का अप्रासंगिक समावेश करना अनुचित है। देखिए—

कर के तल सों जु कपोलन की पतरावलि मंजु मिटाइ रह्यो ;
पुनि स्वासन सों अधरानहु को लै सुधा-रस मोजु मनाइ रह्यो।
लगि कंठ ढरावतु स्वेदहु त्यों कुच-मंडल चारु हिलाय रह्यो ;
यह रोप कियो मनभावतो तू नहिं प्यारी ! मैं तोहि सुहाय रह्यो।

---

१ 'ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ;
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।'
( ध्वन्यालोक २ । १६ )

२ विना यत्न के स्वयं।

नायिका हथेली पर कपोल रक्खे हुए हैं, दीर्घ निस्वासों से अधर शुष्क हो रहे हैं, प्रस्वेद टपक रहे हैं, कंठ अवरुद्ध हो रहा है, और हिचकियों से हृदय उछल रहा है; ऐसी कुपित नायिका के प्रति नायक के वाक्य हैं कि 'तूने अब अपना प्रियतम क्रोध ही को बना लिया है, क्योंकि वह तेरे कपोलों की पत्रावली मिटा रहा है, निस्वासों से अधर रस-पान कर रहा है, कंठ से लगकर ( गद्‌गद कंठ हो जाने से ) प्रस्वेद छुटा रहा है, और कुच-मंडल को हिला रहा है।

यहाँ प्रियतम द्वारा किए जानेवाले कार्यों की श्लिष्ट ( द्व्यर्थक ) शब्दों द्वारा क्रोध में समानता दिखाई जाने में श्लेष अलंकार है। क्रोध में प्रियतम का आरोप किया जाने से रूपक अलंकार भी है। तुझे क्रोध, मेरे से अधिक प्रिय है, इस कथन में व्यतिरेक अलंकार भी है। ये तीनों ही अलंकार यहाँ वियोग-श्रृंगार के वर्णन में अनायास सिद्ध हो गए हैं—इनका आग्रह-पूर्वक समावेश नहीं किया गया है। अतः यहाँ इनके द्वारा रस के आनंदानुभव में कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती, प्रत्युत ये वियोग-श्रृंगार के पोषक हैं। अर्थात् ये रस के अंग हो गए हैं, जिससे रस की प्रधानता बनी हुई है। किंतु—

"देखी सो न जुही फिरति सोनजुही से अंग;
दुति लपटनु पट सेत हू करति बनौटी रंग।"

इसमें 'सो न जुही' पद के यमक की प्रधानता ने नायिका-वर्णनात्मक श्रृंगार-रस को दबा दिया है। इसी प्रकार—

"बस न चलत तुम सों कछू बस न हरहु हरि लाज ;
बसन देहु ब्रज माँहि अब बसन देहु ब्रजराज[१] ।"

गोपी जनों की इस उक्ति में दैन्य संचारी की व्यंजना को 'बसन' पद के यमक ने दबा दिया है।

( २ ) रसात्मक काव्य में रूपक आदि अर्थालंकारों को रस के अंगभूत रखना उचित है, न कि अंगी अर्थात् प्रधान। जैसे—

"दृग चौंकत कोए चलैं चहुँधा अँग बारहिं बार लगावत तू ;
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू ।
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार बढ़ावत तू ;
हम खोजत जाति ही पाँति मरे धनि रे धनि भौंर ! कहावत तू ।"

( राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतलानुवाद )

शकुंतला के मुख पर मँडराते हुए भृंग को स्वाभाविक चेष्टाओं में दुष्यंत ने भ्रमर को धन्य कहकर अपने को अधन्य सूचित किया है, अतः व्यतिरेक अलंकार है। यह यहाँ विप्रलंभ-शृंगार का अंग है, क्योंकि इसके द्वारा दुष्यंत के हृदयगत शकुंतला-विषयक पूर्वानुराग का अतिशय सूचन होने के कारण यहाँ विप्रलंभ-शृंगार की पुष्टि होती है। अतएव अलंकार की प्रधानता न रहने से अनौचित्य नहीं है।

---

१ तुमसे कुछ बस नहीं चलता, बस लज्जा का हरण मत करिए, ब्रज में बसने दीजिए, अब वस्त्रों को दे दीजिए।

किंतु—

आलिंगन[1] ते हीन ही रति-सुख चुंबन-सेस ;
राहु-तिय को कीन्ह हरि चक्रघात आदेस।

भगवान् विष्णु का ऐश्वर्य वर्णन है, अतः देव-विषयक रति-भाव है। पर्यायोक्ति[2] अलंकार के चमत्कार ने इस भाव को दबा दिया है। राहु के सिरच्छेदन को सीधे तरह से न कहकर भंग्यंतर से (दूसरे प्रकार से) कहे जाने में पर्यायोक्ति का चमत्कार प्रधान हो गया है, अतएव अनौचित्य है।

(३) रसके अंगभूत अलंकार का भी अवसर पर ही उपयोग करना उचित है। जैसे—

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न ;
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहिर निकसत बैन।"

नायक और नायिका के वचनों को यहाँ जो सूम की उपमा दी गई है, वह शृंगार-रस में क्रीड़ा-भाव की पुष्टि करती है; अतः उपमा का अवसर पर उपयोग किया गया है। इसी प्रकार—

"होठन बीच हसै बिकसै चख भौंह कसै कुच-कोर दिखावै ;
बान-कटाछ को लच्छ करै, परतच्छ ह्वै और कबौं दुरि जावै।

---

१ अमृत-दान के समय भगवान् ने मोहिनी रूप में राहु दैत्य का सिर चक्र से काटकर उसकी स्त्री का रति-सुख केवल चुंबन-मात्र ही कर दिया। २ पर्यायोक्ति में किसी बात को सीधी तरह से न कहकर भंग्यंतर से (घुमा-फिराकर दूसरी तरह से) कही जाती है।

छाँह छुवावै छबीली न आपुनी लाल नवेले को यों ललचावै ;
हाथी कों चावुक को असवार ज्यों साथ लगायकै हाथ न आवै ।"

( कविराज मुरारीदान )

यहाँ नायिका को जो चाबुक, सवार से उपमा दी गई है, वह पूर्वानुराग-शृंगार की पुष्टि करती है ; अतः उपमा का उपयोग समयोचित है। किंतु—

लंकापुरी, विमल-वंश, अपार शक्ति—
आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति ।
है धन्य, किंतु यदि रावणता[1] नहीं हो,
एकत्र सर्व-गुण-राशि नहीं कहीं हो ।

( राजशेखर की बाल-रामायण से अनुवादित )

प्रहस्त ने रावण के लिये जब जनक से सीताजी की याचना की, उस समय के शतानंदजी के इन वाक्यों द्वारा जनक को रावण के विषय में घृणा उत्पन्न कराना कवि को अभीष्ट है। चौथे चरण में अर्थांतरन्यास[2] अलंकार द्वारा उस घृणाभाव की व्यंजना दब जाती है, अतः यहाँ अलंकार का अप्रासंगिक उपयोग है।

( ४ ) ग्रहण किए हुए अलंकार को किसी अवसर पर, रस की अनुकूलता के लिये, छोड़ देना उचित होता है।

---

१ संसार को दुःख देकर रुलानेवाला ।

२ अर्थांतरन्यास द्वारा यहाँ रावण की क्रूरता का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। अर्थात् वह क्रूरता घृणोत्पादक न रहकर साधारण बात हो गई है।

तू[1] नव-पल्लव रक्त दिखातु त्यों मैं हू प्रिया-गुन रक्त लखावतु ;
धावत तो पै सिलीमुख त्यों कुसुमायुध-प्रेरित मोहू पै आवतु ।
कामिनि के पद-घात सौं तू विकसै तिमि मोहू वो मोद बढ़ावतु ;
पै तू असोक रु मैं हू स-सोक यही समता अपनी नहिं पावतु ।

'रक्त', 'शिलीमुख' आदि श्लिष्ट पदों से यहाँ श्लेष अलंकार की रचना प्रारंभ की गई थी, पर वियोग-शृंगार को पुष्ट करने के लिये चौथे चरण में 'असोक' और 'स-सोक' अश्लिष्ट पदों का प्रयोग करके अंत में श्लेष अलंकार का छोड़ा जाना ही रसानुकूल है।

( ५ ) किसी अवसर पर रस की अनुकूलता के लिये अलंकारों का अत्यंत निर्वाह न करना ही उचित होता है।

जैसे—

"आए भोर गोबिंद विभावरी बिताए अंत,
झूमन झुकति गात आलस अतुल तें ;
नैन झपकीले बैन कढ़त कछू-के-कछू,
सिथलित अंग रति-रंग के वहुल तें ।

---

१ वियोगी पुरुष की अशोक-वृक्ष के प्रति उक्ति है —'तू नवीन पत्रों से रक्त ( अरुण वर्ण ) है, मैं भी अपनी प्रिया के गुणों से रक्त ( अनुरक्त ) हूँ । तुझ पर शिलीमुख ( भृंग ) आते हैं ; मुझ पर भी काम के शिलीमुख ( बाण ) आते हैं । तू कामिनी के चरण के आघात से प्रफुल्लित हो जाता है, मुझे भी वह आनंद-प्रद है । हम दोनो में ये सभी समानता होने पर भी एक बड़ी असमानता यह है कि तू अशोक है, किंतु मैं सशोक—प्रिया के वियोग से शोकाकुल हूँ ।

मदन छली-सी छैल छल सों छली-सी दीसी ,
सूखत अधर घने स्वास की उछुल तें ;
वाहु-वल्लरी के खास पास में फँसाय बाल,
गाल गुलचावत गुलाबन के गुल तें।"

नायिका की बाहु-लता में पाश का जो आरोप किया गया है, उस रूपक का अत्यंत निर्वाह नहीं किया गया है—पाश में बाँधने के रूपक को दृढ़ करने के लिये, यदि उसके अनुकूल अन्य सामग्रियों का भी वर्णन होता, तो रस भंग हो जाता।

जैसे—

"मुरली सुनत वाम काम-जुर लीन भई,
धाईं धुर लीक सुनि विंधी विधुरनि सों ;
पावस नदी-सी यह पावस न दीसी परै ,
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सों।
लाज-काज सुख-साज बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसंक सकुचैं नहिं गुरुनि सों ;
मीन ज्यों अधीनी-गुन कीनो खैंच लीनी 'देव'
वंसीधर वंसी डार वंसी के सुरनि सों।"

यहाँ वंशी में ( मुरली में ) वंसी ( मछली मारने का यंत्र वडिस ) का आरोप करने में रूपक है, और इस रूपक का गोपियों को मीन की उपमा देकर अंत तक निर्वाह किया गया है। ऐसा करने से यहाँ अनर्थ हो गया है, क्योंकि वंसी ( वडिस ) द्वारा मीनों का प्राण नष्ट होता है। इस प्रकार वेमौक़े अलंकारों

का निर्वाह करने में रस भंग हो जाता है, अतः अनौचित्य है।

( ६ ) रसात्मक काव्य में यदि अलंकारों का निर्वाह करना अभीष्ट ही हो, तो औचित्य का विचार रखकर करना चाहिए, अर्थात् वर्णनीय रस का अलंकार को अंगभूत बनाए रखना चाहिए। जैसे—

माधवी की लतिकान बनी जु कलिंद-सुता-तट मंजुल कुंजन;
कैहूलयान की कूज जहाँ मधुरी मधुपावलि की मद-गुंजन।
लै बनसी बनसी सम कै मधुराधर के मधु सों मनरंजन;
श्रीनँदनंदन ने धुनि की ब्रज-बालन मानमयी झख-भंजन।

मुरली को यद्यपि यहाँ भी बंसी ( मच्छी मारने के यंत्र ) की उपमा दी गई है, किंतु इस उपमा का अंत तक निर्वाह करने के लिये गोपी जनों के मान को मीन कल्पना किया गया है, न कि साक्षात् गोपियों को। यहाँ इस उपमा द्वारा श्रृंगार-रस की पुष्टि होती है, क्योंकि गोपांगनाओं के मान का मुरली की ध्वनि से नष्ट होना सुसंगत है।

और भी—

श्यामाओं में मृदुल-वपु को, दृष्टि भीता मृगी में,
चंद्राभा में वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भंगी को चल लहरि में, देखता मानिनी मैं,
तेरी एकस्थल सदृशता हा! न पाता कहीं मैं।

( हिंदी-मेघदूत-विमर्श )

विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा की श्यामा ( प्रियंगुलता )

आदि में उत्प्रेक्षा की गई है, और इस सादृश्य का अंत तक निर्वाह भी किया गया है। किंतु महाकवि कालिदास ने इस सादृश्य को यहाँ विप्रलंभ-शृंगार का अंगभूत ही बनाए रक्खा है। इसी प्रकार—

"फूँकि-फूँकि मंत्र मुरली के मुख जंत्र कीन्हीं,
प्रेम परतंत्र लोक-लीक तें डुलाई हैं;
तजे पति, मात, तात, गात न सँभारे कुल-
वधू अधरात बन-भूमिन भुलाई हैं।
नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गुपाल गुन,
गारुडू सिंगार रूपकला अकुलाई हैं;
लीलि-लीलि लाज दृग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि व्यालिनी-सी ग्वालिनी बुलाई है।"

गोपी जनों की इस उक्ति में मुरली में ध्वनि-मंत्र का आरोप किया गया है। गोपांगनाओं को व्यालिनी की उपमा देकर इस रूपक का अंत तक निर्वाह किया गया है। किंतु इसके द्वारा विप्रलंभ-शृंगार की पुष्टि होती है। यहाँ रूपक अलंकार विप्रलंभ का अंग बना हुआ है, अतः यहाँ अलंकार के निर्वाह में अनौचित्य नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि रसात्मक काव्य में रस की व्यंजना के अनुकूल अलंकारों का प्रयोग किए जाने में अनौचित्य नहीं है। जहाँ अलंकार द्वारा रस की व्यंजना में बाधा उपस्थित हो जाती है, वहीं अनौचित्य है।

असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि के प्रधान भेद-रस के विवेचन के पश्चात् अब 'भाव' आदि अन्य भेदों का निरूपण किया जाता है—

## भाव

**देव आदि विषयक रति-सामग्री के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र ( अपुष्ट ) रति आदि स्थायी और प्रधानता से व्यंजित निर्वेदादि संचारियों को भी कहते हैं।**

अर्थात् ( १ ) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ 'रति' के आलंबन होते हैं, या यों कहिए कि जहाँ इनके विषय में भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्यभाव, प्रशंसा, वात्सल्य और स्नेह ध्वनित होता है, चाहे वे सामग्री से पुष्ट हों अथवा अपुष्ट, वहाँ रति अर्थात् भक्ति आदि 'भाव' कहे जाते हैं।

( २ ) जहाँ रति आदि नवों स्थायी भाव उद्बुद्ध-मात्र हों, अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारियों से परिपुष्ट न हों, वहाँ इन स्थायी भावों को भाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नायक-नायिका आलंबन होने पर भी 'रति' शृंगार-रस में परिणत तभी हो सकती है, जब वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट की गई हो। अन्यथा उस ( रति )

की भी 'भाव' संज्ञा दी है। और, इसी प्रकार जब हास आदि भी विभावादि से परिपुष्ट होते हैं, तभी रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं—अपुष्ट अवस्था में वे भी भाव कहे जाते हैं।

काव्यप्रकाश और रसगंगाधर के भाव-प्रकरण में स्थायी का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किंतु साहित्यदर्पण के—

"संचारिणः प्रधानानि देवादिविषयारतिः ;
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।"

इस वाक्य से अपुष्ट स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा स्पष्ट है। काव्यप्रदीप में भी ऐसा ही स्पष्टीकरण है[1]।

( ३ ) निर्वेदादि संचारी जहाँ प्रधानता से व्यंजित ( प्रतीत ) होते है, वहाँ उनकी भाव संज्ञा है।

जहाँ व्यभिचारी होता है, वहाँ रस भी होता है और रस ही प्रधान रहता है फिर प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी की भाव संज्ञा किस प्रकार मानी जा सकती है ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि जैसे मंत्री के विवाह में मंत्री-दूल्हा आगे चलता है, और राजा, स्वामी होने पर भी, दूल्हा के पीछे चलता है, इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष अवस्था में 'व्यभिचारी' प्रधानता से प्रतीत

---

१ "रतिरिति स्थायीभावोपलक्षणम्।...कान्तादि विषयाऽप्य-पूर्णरतिहासादयश्चाप्राप्तरसावस्थाः प्राधान्येन व्यंजितो व्यभिचारी च भाव इत्यवधातव्यम्।" ( काव्यप्रदीप आनंदाश्रम-संस्करण, पृष्ठ १२९। )

होता है, वहाँ अपने रस की अपेक्षा प्रधान होकर 'भाव' कहा जाता है।

जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी मिलकर ही, प्रपानक रस के समान, रस का आस्वाद कराते हैं, तो फिर व्यभिचारी का पृथक् आस्वाद और वह भी प्रधानता से किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि प्रपानक रस में भी जब इलायची आदि किसी पदार्थ का आधिक्य होता है, तो उसका आस्वाद प्रधानता से होता है, उसी प्रकार व्यभिचारी भी किसी विशिष्ट अवस्था में प्रधानता से प्रतीत होने लगता है।

## देव-विषयक रति

उदाहरण—

हौं भवसागर में भ्रमि बूड़त हा! न मिल्यो कोउ पार उतारन;
नाथ! सुनौ करुना करिकै सरनागत की यह दीन पुकारन।
चाहौं सदा गुन-गावन कै मनभावन वे उर माहि निहारन;
कालिंदी-कूल-निकुंजन की अघ-भंजन-केलि अहो गिरिधारन।

यहाँ श्रीनंदनंदन आलंबन हैं। यमुना-तट का विहार उद्दीपन है। यह विनीत प्रार्थना अनुभाव है। चिंता, विषाद, और औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। भगवान् के विषय में जो अनुराग ध्वनित होता है, वह देव-विषयक रति-भाव है। देव-विषयक रति भक्ति का पर्याय है। और भी—

दिवि में भुवि में निवास हो या, नरकों में नरकांत! हो न क्यों या;
रमणीय पदारविंद तेरे, मरते भी स्मरणीय होयँ मेरे।

"पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलासिबो;
प्रभु के उतीरन की गूदरी करौं चीरन की,
माल भुजकंठ कर छापन को लसिबो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम-भरि,
वृंदावन सीमा ते न बाहिर निकसिबो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुंजन की कुंजनि में बसिबो।"

यहाँ श्रीवृंदावन-विहारी में कवि का जो प्रेम ध्वनित होता है, वह 'भक्ति'-भाव है।

देव-विषयक रति अर्थात् भक्ति-रस को साहित्याचार्यों ने 'भाव' संज्ञा दी है। भक्ति-रस को शृंगार-रस नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शृंगार की व्यंजना तो कामी जनों के हृदय में ही उद्भूत हो सकती है। यह बात शृंगार शब्द के यौगिक अर्थ से भी स्पष्ट है। किंतु भक्ति को एक स्वतंत्र रस न मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव में अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री इसमें भी है। जैसे भक्ति-रस के आलंबन भगवान् श्रीरामकृष्ण आदि हैं; श्रीमद्भागवत आदि का श्रवण उद्दीपन है; और, वह रोमांच, अश्रुपात आदि द्वारा अनुभव गम्य और हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होता है।

'रसो वै सः।'

'रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आनन्देन जातानि आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशंति।'

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों द्वारा जिस ब्रह्मानंद पर ही रस का रसत्व अवलंबित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस ब्रह्मानंद से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनंद तदीय भक्त जनों को होता है, उसे स्वतंत्र रस न मानना और क्रोध, शोक, भय और जुगुप्सा आदि की व्यंजना को रस-संज्ञा देना वस्तुतः युक्ति-युक्त नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि भक्ति-जन्य आनंद में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर यही है कि जब अन्य रसों के आनंदानुभव के प्रमाण के लिये सहृदयों के हृदय के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, तो भक्ति-रस के आनंदानुभव के लिये भी भक्त जनों का हृदय ही साक्षी है। अस्तु।

गुरु-विषयक रति-भाव ( प्रेम या श्रद्धा अथवा पूज्य भाव )—

वामन[१] पद-क्षालन-सलिल भवसागर-प्रिय जोय;
वंदौं भवसागर-दमन गुरु-पद-क्षालन तोय।

---

१ वामन भगवान् के चरणों को प्रक्षालन करनेवाला जल अर्थात् श्रीगंगाजी को भवसागर अर्थात् भव ( श्रीशंकर ) और सागर

यहाँ गुरु के पाद-प्रक्षालन के जल की वंदना में गुरु-विषयक रति-भाव है।

पुत्र-विषयक रति-भाव ( वात्सल्य अथवा स्नेह )—

वात्सल्य वह प्रेम है, जो माता, पिता आदि गुरुजनों के हृदय में पुत्रादि के विषय में होता है। इसी कारण 'वात्सल्य' को स्वतंत्र रस न मानकर पुत्र-विषयक रति-भाव माना है।

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं ;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे छबि भूरि अनंग की दूर करैं।
कबहूँ ससि माँगति आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं ;
कबहूँ कर-ताल बजाय कै नाचत मातु तबै मन मोद भरैं।"

यहाँ कौसल्याजी का श्रीराम-विषयक जो वात्सल्य है, वह पुत्र-विषयक रति-भाव है।

और भी—

"देहौ दधि मधुर धरनि धरयो छोरि खैहैं,
धाम तें निकसि धौरी धेनु धाइ खोलि हैं ;
धौरि लोटि ऐहैं लपटैहैं लटकत ऐहैं,
सुखद सुनैहैं बैन बतियाँ अमोलि हैं।

---

( समुद्र ) से प्रेम है, क्योंकि शिवजी की जटा में वह विराजमान हैं, और समुद्र में जाकर मिलती हैं। किंतु मैं भवसागर ( संसार ) से घबरा रहा हूँ, अतः भवसागर ( संसार ) के दुःखों को दूर करनेवाले श्रीगुरु-चरणों को प्रक्षालन करनेवाले जल को प्रणाम करता हूँ।

'आलम' सुकवि मेरे ललन चलन सीखैं,
बलन की बाँह ब्रज-गलिन में डोलि हैं ;
सुदिन सुदिन दिन ता दिन गिनौंगी माई,
जा दिन कन्हैया मोसों मैया कहि बोलि हैं।"

यहाँ यशोदाजी का भगवान् श्रीकृष्ण-विषयक वात्सल्य है। किंतु—

"वर दंतकि पंगति कुंद-कली अधराधर पल्लव खोलन की ;
चपला चमकै घन-बीच जगै छवि मोतिन-माल अमोलन की।
घुंघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ;
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' बलिजाउँ लला इन बोलन की।"

और—

"पग नूपुर औ' पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नव नील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिए।
अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए।
मन में न बस्यो अस बालक तो 'तुलसी' जग में फल कौन जिए।"

ऐसे वर्णनों में पुत्र-विषयक रति ( वात्सल्य ) नहीं। गोस्वामीजी का अपने इष्टदेव बाल-रूप भगवान् रघुनाथजी के प्रति जो प्रेम है, वह भक्ति-प्रधान है, अतः देव-विषयक 'रति-भाव' है।

राज-विषयक 'रति-भाव'—

न मृगया[1] रति नित्य नवीन भी,
न मधुरा मधुर[2] ही रस-लीन की।

---

१ शिकार। २ मदिरा।

नव-वया तरुणी रमणीय भी,
न उसकी मति कर्षित की कभी।
न करुणा सुरराज समीप थी,
न वितथा[1] परिहासमयी कभी।
वह कठोर न थी रिपु साथ भी,
दशरथीय गिरा इस भाँति थी।

( रघुवंश से भावानुवादित )

यहाँ महाराजा दशरथजी के विषय में कवि का प्रेम व्यंजित होता है।

"साहितनै सरजा तव द्वार प्रतच्छन दानकि दुंदुभि बाजै;
'भूषन' भिच्छुक भीरन कों अति भोजहु ते बढ़ि मौजनि साजै।
राजन को गन राजन! को गनै साहिन मैं न इती छवि छाजै;
आजु गरीव-निवाज मही पर तोसो तुहीं सिवराज विराजै।"

यहाँ महाराज शिवाजी पर भूषन कविराज का प्रेम ध्वनित होता है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

## कांता-विषयक अपुष्ट 'रति-भाव'

"दृग न राखिवे जोग वह सुमन-सरिस सुकुमार;
कब खेलन इत आइ हैं सखि वह नंदकुमार।"

( नंदरामजी का शृंगार-दर्पण )

यहाँ श्रीनंदनंदन के विषय में राधिकाजी की रति केवल

---

1 मिथ्या।

उद्बुद्ध-मात्र है। अन्य पोषक सामग्रियों के अभाव में शृंगार-रस का परिपाक नहीं है।

## अपुष्ट हास

वेसर-मोती-द्युति-झलक परी अधर निज आय ;
बहुरि-बहुरि पोंछत प्रिया लखि-लखि पिय विकसाय ।

यहाँ नकवेसर के मोती की कांति का प्रतिबिंब नायिका के अरुण अधर पर पड़ने पर उसे पान का चूना लगा हुआ समझकर नायिका के बार-बार पोंछने पर नायक के विकसित होने में हास का उद्बुद्ध-मात्र है।

## अपुष्ट शोक

"राम के राज-सिंहासन बैठत आनँद की सरिता उमही है ;
त्यों 'नँदरामजू' राजसिरी सियराम के आनन राजि रही है।
भूषन हार भँडार लुटावत कौसिला कामद बानि गही है ;
कैकई के पछिताव यहै इहिं औसर औध-भुवाल नहीं है।"

यहाँ श्रीराम-राज्याभिषेक के आनंदोत्सव में दशरथजी के न होने का कैकेयी को पश्चात्ताप होने में शोक उद्बुद्ध-मात्र है।

इसी प्रकार क्रोध आदि अन्य स्थायी भाव जहाँ अपुष्ट रहते हैं, वहाँ भाव कहे जाते हैं।

## प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी

तन छूवत ही कर सों हटक्यो मुख सों न कह्यो न किए दृग सौंही ;
आज लखी सपने में प्रिया अँखियान भरे अँसुवान रिसौंही।

कै विनती परि पायँ मनाय, चह्यो भरि अंक में लेइबे ज्यों ही ;
हा ! विधि की सठता का कहौं झट नींद छुटाय दई तबलौं ही ।

किसी वियोगी की अपने मित्र के प्रति उक्ति है—'आज अपनो रूठी हुई प्रिया को मैंने सपने में देखा, किंतु जब तक मैं उसे प्रसन्न करके अंक में लूँ, इसके पहले ही शठ विधाता ने मेरी निद्रा भंग कर दी।' यहाँ विधाता के प्रति जो असूया है, वही प्रधानता से ध्वनित हो रही है। यद्यपि विप्रलंभ-शृंगार के उदाहरण—'गेरूँ से मैं लिखकर तुझे' ( पृष्ठ १८८ ) में—भी विधाता की क्रूरता के विषय में असूया है, किंतु वहाँ 'रोके हट्टी' पद से वियोग-शृंगार ही प्रधानता से व्यंजित होता है। अतएव वहाँ असूया विप्रलंभ-शृंगार का अंग हो जाने से प्रधान नहीं, इसी से वहाँ विप्रलंभ-शृंगार-रस है। और भी—

"दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत ;
हौं कसिकै रिसकै करौं, ये निरखैं हँसि देत।"

यहाँ संभोग संचारी प्रधानता से व्यंजित होता है। 'टेढ़ी करौं भ्रकुटी न तऊ' ( पृष्ठ १८५ ) पद्य में भी यही संभोग संचारी भाव है। और—

री सखी कैसी विचित्रता है चपला थिर या उर माँहि सुहावहि ;
दीनदयालु है आली ! सुनौ वनमाली अहो नव वेनु बजावहि ।
दूरहि सों सुनिकै हित सों चित मोहित ह्वै मृग-वृंद लखावहि ;
दाँतन गास लिए धरि श्रौन रु मौन भे चित्र लिखे-से जनावहि ।

यहाँ 'जड़ता'-भाव की प्रधानता से व्यंजना है।

# रसाभास

**जब रस अनौचित्य रूप में होता है, तब उसे रसाभास कहते हैं।**

सहृदय जनों को अनुचित प्रतीत होना ही अनौचित्य है। यद्यपि अनौचित्य दोष है, किंतु आपात रमणीय होने के कारण क्षण-भर के लिये इसके द्वारा भी रस का आभास होता है। जल में सूर्य के प्रतिबिंब आदि की तरह अवास्तव स्वरूप को 'आभास' कहते हैं[1]। रसाभास में भी वस्तुतः सीप में चाँदी की झलक की तरह रस की झलक-मात्र रहती है[2], इसलिये रसाभास को ध्वनि का एक भेद माना है।

**शृंगार-रसाभास**—उपनायक ( अन्य पुरुष ) में अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि निरिंद्रियों में संभोग का आरोप करना, पशु-पक्षियों के प्रेम का वर्णन करना, गुरु-पत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में उभयनिष्ठ प्रेम का न होना[3], नीच व्यक्ति में प्रेम होना इत्यादि।

**हास्य-रसाभास**—गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों का हास का आलंबन होना।

---

१ 'प्रतिबिंबादिवदवास्तवस्वरूपम्'—शब्द-कल्पद्रुम।

२ 'शुक्तौरजताभासवत्'—ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ६६।

३ स्त्री का प्रेम पुरुष में हो, पुरुष का स्त्री में न हो, या पुरुष का प्रेम स्त्री में हो, पर स्त्री का पुरुष में न हो।

करुण-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।

रौद्र रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।

वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना आदि।

भयानक रसाभास—उत्तम व्यक्ति में भय का होना आदि।

बीभत्स-रसाभास—यज्ञ के पशु में ग्लानि होना आदि।

अद्भुत रसाभास—ऐंद्रजालिक कार्यों में विस्मय होना आदि।

शांत रसाभास—नीच व्यक्ति में शम की स्थिति होना आदि।

## उपनायकनिष्ठ रति-शृंगार-आभास

[1]"फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग-छवि-झौंर में भयो भौंर की नाव।"

यह अंतरंग सखी की नायक के प्रति उक्ति है। 'टुटी लाज की लाव' इस कथन से नायिका की उपनायक में रति का सूचन है, अतः रसाभास है।

## बहुनायक-निष्ठ रति-शृंगार-आभास

"यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै ;
त्यों 'पद्माकर' एकन के उर में रस बीजनि वै चलै वै चलै।
एकन सों बतराय कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै ;
एकन सों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखनि दै चलै दै चलै।"

---

1 उसका चित्त तुम्हारे अंगों के लावण्य रूप झौंर के भौंर में फँस गया है। उसकी गति जल के भँवर में फँसी हुई नाव की तरह हो रही है, अर्थात् वहाँ से निकलना असंभव-सा हो रहा है।

यहाँ नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से शृंगार-रसाभास है।

## अधम पात्र में रति-शृंगार-आभास

"गेह तैं निकसि बैठि बेचत सुमन-हार,
देह-दुति देखि दीह दामिनि जला करै;
मदन - उमंग नव - जोबन तरंग उठै,
वसन सुरंग अंग भूषन सजा करै।
'दत्त' कवि कहै प्रेम पालन प्रवीनन सों,
बोलत अमोल बैन बीन-सी बजा करै;
गजब गुजारती बजार में नचाय नैन,
मंजुल मजेज भरी मालिन मना करै।"

यहाँ मालिन में अनुराग सूचन होता है, अतः अधम पात्र-निष्ठ रति होने से रसाभास है।

## अनुभय-निष्ठ रति-शृंगार-आभास

"गात पै पातन के कपरा गर गुंजनि की दुलरी मन मोहै;
लाल कनेर के कानन फूल सदा बन को बसिबो चित टोहै।
आजु अचानक ही बन में ब्रजराज कुमार चरावतु गो है;
देखि पुलिंद-वधू बस-काम सखान सों पूछत ही यह को है।"

(हरिप्रसाद-कृत बालकराम-विनोद)

यहाँ श्रीनंदनंदन को देखकर पुलिंद-रमणियों के रति-प्रेम

उत्पन्न होने में अनुभय-निष्ठ रति है, क्योंकि श्रीकृष्ण की उनमें रति नहीं। अतः रसाभास है।

## निरिंद्रियों में रति के आरोप में शृंगार-आभास

देखी जाती सलिल-कृश हो एक वेणी-स्वरूप,
जो वृक्षों के गिर दल पके हो रही पांडु रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य, क्योंकि—
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य जोकि।

(हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ नदी में विप्रलंभ-शृंगार का आरोप किया जाने से रसाभास है।

## पशु-पक्षियों में रति के आरोप में शृंगार-आभास

"सब राति वियोग के जोग जगे न वियोग-सराप सराहत हैं;
पुनि प्रात सँयोग भए पै नए तऊ प्रेम उछाह उछावत हैं।
चकवाह रहे चकई चकवा सु छकै चकि भै चकि चाहत हैं;
बिछुरे न मरे इहि लाज मनो सु खरे खरे नेह निबाहत हैं।"

(कुलपति मिश्र का रस-रहस्य)

यहाँ चकवा-चकवी पक्षियों में विप्रलंभ का आरोप है।

## रौद्र रसाभास

हैं वे वृद्ध विचार-शील न अहो! कैसी बढ़ा दी कथा,
गाते हैं वह ताड़िका-दमन जो स्त्री-वध्य ही क्या न था।

वीरों को खरदूषणादि वध भी क्या गण्य युद्धत्व है ?
वाली का वध-कृत्य सत्य कहना ? क्या उग्र वीरत्व है ?
( उत्तररामचरित से अनुवादित )

यह कुमार लव की गर्वोक्ति है। इस उक्ति में वीर-रस के उद्दीपन के लिये नाटक के प्रधान नायक श्रीरघुनाथजी के लोकातिरिक्त वीरत्व को, ताड़िका-दमन आदि को नगण्य वीरत्व कहकर कवि ने स्वयं ही विनष्ट कर दिया[1] है। अतः पूज्यतम श्रीरघुनाथजी के विषय में क्रोधावेश के कारण लव द्वारा ऐसे कथन में रौद्र रस का आभास-मात्र है।

## बीभत्स रसाभास

"दुबरो कानों-हीन स्रवन बिन पूछ नवाएँ ;
बूढ़ो बिकल सरीर लार मुख ते टपकाएँ।
झरत सीस तें राधि रुधिर कृमि डारत डोलत ;
छुधा छीन अति दीन गरे घट-कंठ कलोलत।
यह दसा स्वान पाई तऊ कुतियन सँग उरझत गिरत ;
देखो अनीत या मदन की मृतकन हूँ मार त फिरत।"

यहाँ कुत्ते के इतने बीभत्स विशेषणों द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि की गई है, किंतु कुत्ते का तो इन घृणित वस्तुओं के आस्वादन का स्वाभाविक धर्म है, अतः इनके द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि नहीं हो सकती, इसलिये यहाँ बीभत्स रस का आभास-मात्र है।

---

१ देखो क्षेमेंद्र-कृत औचित्य-विचार-चर्चा।

यदि ऐसा वर्णन मनुष्य-विषयक किया जाता, तो बीभत्स रस हो सकता था।

## अद्भुत रसाभास

अति अचरजमय जलधि पुनि तिहिं वदि मुनि किय पान ;
तासों वदि लघु घट-जनम का जग अचरज पार ? ।
( मुनिमतमीमांसा से अनुवादित )

महामहिम अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र-पान का यह वर्णन है। प्रथम तो समुद्र ही सारे आश्चर्यों का खज़ाना है। फिर ऐसे समुद्र का एक चुल्लू में पी जाना और भी आश्चर्य है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि जिन अगस्त्यजी ने इसे पिया, उनका जन्म एक छोटे-से घड़े से है। यहाँ तक क्रमशः आश्चर्य की पुष्टि होती रहती है, किंतु चौथे पाद में अर्थांतरन्यास-अलंकार द्वारा यह कहने से कि 'इस जगत् के आश्चर्य का क्या अंत है' उपर्युक्त सारा आश्चर्य छिप गया है। अतः चौथे पाद का वर्णन अनौचित्य होने से रसाभास हो गया।

## भावाभास

भाव का जब अनौचित्य रूप से वर्णन होता है, या जहाँ भाव रसाभास का अंग हो जाता है, तब उसे भावाभास कहते हैं। व्यभिचारी जब तक किसी रस के पोषक रहते हैं, तब तक वे व्यभिचारी हैं, जब वे प्रधानता से प्रतीत होते हुए भाव-

अवस्था को प्राप्त होकर दूसरे किसी आभास के अंग हो जाते हैं, तब वे भी भावाभास ही कहे जाते हैं।

विस्मृति-पथ भे विषय सब रह्यो न शास्त्र-विवेक ;
केवल वह मृगलोचिनी टरत न हिय छिन एक।

किसी अन्य नायिका का स्मरण करते हुए किसी प्रवासी पुरुष की यह उक्ति है। स्रक्-चंदनादि आनंद-दायक विषयों में विराग, परिश्रम से पढ़े हुए शास्त्रों में कृतघ्नता और उस नायिका का स्मरण कदापि दूर न होना, ये 'स्मृति' संचारी की पुष्टि करते हैं। अतः स्मृति-भाव प्रधान है, और वह स्मृति-भाव यहाँ अन्य नायिका-निष्ठ है, अतः भावाभास है।

और भी—

"नृत्यत कैसे हरप ये लै गति परम विचित्र ;
कैसें कढ़त मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र।"

यहाँ मृदंग की ध्वनि के विषय में चिंता करना अनुचित है, अतः चिंता-भाव का आभास है।

## भाव-शांति

जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरुद्ध भाव की व्यंजना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे भाव-शांति कहते हैं। जैसे—

कंज-मुखी ! कहु क्यों अनखी ? पग तेरे परौं करु कोप निवारन ;
मानिनि ! एतो न मान कबौं तैं गह्यो अब जेतो गह्यो ! बिन कारन।

यों मनभावन की सुनि बात सकी न कछू मुख सों जु उचारन ;
मीलित से तिरछे दृग-कोरन जोरन सों अँसुवा लगी ढारन।

यहाँ मानवती नायिका के आँसू गिरने से ईर्ष्या-भाव की शांति है।

और भी—

लक्षी किया यदपि एक लघु कुरंग को था,
प्रेमानुरक्त हरिणी-निकटस्थ वो था।
आकृष्ट भी शर किया न प्रहार जो कि—
कामी कृपार्द्र नृप देख दशा उन्हों की१।

( रघुवंश से अनुवादित )

यह महाराज दशरथ के शिकार का वर्णन है। मृग को वध करने के लिये बाण के संधान करने में जो उत्साह-भाव है, उसकी स्मृति-भाव से शांति है—मृग को कामासक्त देखकर अपनी कामासक्त दशा का स्मरण हो आने में स्मृति-भाव की व्यंजना है। और भी—

"अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।

---

१ दशरथ महाराज ने एक मृग को लक्ष्य ( निशाना ) बनाकर, उस पर बाण संधान कर लिया था, पर उसे हरिणी के पास प्रेमानुरक्त देखकर उस पर बाण नहीं छोड़ा, क्योंकि वह स्वयं विलासी थे, अतएव उनकी तादृश दशा देखकर अपनी तादृश अवस्था का उन्हें स्मरण हो आने से उस पर दया आ गई।

परंतु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुंद को।"

( प्रियप्रवास )

उद्धवजी के व्रज में आने के समय ग्वालवालों की श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये अभिलाषा में जो हर्ष-भाव है उसको, रथ में श्रीकृष्ण को न देखकर, विषाद-भाव से शांति है।

"वह चौहटे की चपरेट में आज भली भइ धाय दुहू घिरगे;
कवि 'वेनी' दुहूँन के लालची लोचन छोर सँकोचन सों भिरगे।
समुझाने हिए भर भेटिवे को सु चवाइन की चरचा चिरगे;
फिरगे कर से कर हेरत ही करते मनु मानिक से गिरगे।"

यहाँ भी हर्ष-भाव की विषाद-भाव से शांति है।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की भी भाव-शांति होती है। जैसे—

"बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे;
जनु चित्र-लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे;
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर-चाप सजि कोसल धनी,
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मरकट अनी।"

यहाँ भय, जड़ता, विस्मय आदि भावों की उत्साह-भाव से शांति है।

और भी—

अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रहीं सो,
वो देख रूप शिव का पुलकांगिनी हो;

मार्गावरुद्ध गिरि से सरिता-गती ज्यों,
यों पार्वती चल सकीं, न सकीं खड़ी हो[1]।
(कुमारसंभव से अनुवादित)

यह पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा करने के लिये छल-वेष में गए हुए श्रीशंकर द्वारा उस कपट-वेष के दूर कर देने पर श्रीगिरिजा की तात्कालिक अवस्था का वर्णन है। यहाँ आवेग संचारी भाव की हर्ष-भाव से और हर्ष-भाव की जड़ता से शांति है।

## भावोदय

जहाँ किसी भाव की शांति के अनंतर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' होता है।

---

१ ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण करके आए हुए श्रीमहादेव, पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा लेने लिये, अपनी निंदा के वाक्य कहते हुए न रुके, तब अधिक सहन न करके पार्वतीजी ने वहाँ से उठकर जाने के लिये बड़े आवेग से एक चरण उठाकर आगे रक्खा ही था कि इतने में उस कपट-वेप को दूर करके शंकर ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। उस रूप को देखकर पार्वतीजी न तो आगे को जाने के लिये दूसरा चरण उठा सकीं, और न पीछे ही हट सकीं। उनकी दशा ऐसी हो गई, जैसे मार्ग में पर्वत के आ जाने से नदी-प्रवाह न तो आगे ही जा सकता है, और न वेग के कारण पीछे ही हट सकता है।

जैसे—

मैं हौं हठी तुम हो कपटी अस की उलटी बतियाँ जब प्यारी ;
पाँय परे पी न मान कियो अपमान निरास भए गिरिधारी।
रूसि चले पिय कों लखिकै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी ;
त्यों अँसुवान भरी अखियाँन की दीठ प्रिया सखियान पै डारी।

यहाँ नायक के लौट जाने पर कलहांतरिता नायिका में 'विषाद संचारी भाव' का उदय है, और इसी में चमत्कार है।

'भाव-शांति' में दूसरे भाव का उदय होता है, और भावोदय में पहले भाव की शांति। अतएव भाव-शांति और भावोदय में कोई विशेष भेद नहीं। किंतु रसगंगाधरकार का मत है कि दोनो को समान मानने में चमत्कार नहीं रहेगा, इसीलिये पृथक्-पृथक् दो भेद माने गए हैं। एक मत यह भी है कि जहाँ पहले भाव की शांति में अधिक चमत्कार होता है, वहाँ भाव-शांति और जहाँ पिछले भाव के उदय में अधिक चमत्कार होता है, वहाँ भावोदय समझना चाहिए।

## भाव-संधि

जब समान चमत्कारवाले दो भावों की उपस्थिति एक ही साथ होती है, वहाँ भाव-संधि कही जाती है।

जैसे—

मुख घूँघट को पट है न तऊ जुग नैनन कों तरसाय रही ;
अति दुर्लभ जानत हौं मिलिबो मन को जु तऊ ललचाय रही।

मद-जोबन सौं मतवारी भई तन की छवि कों दरसाय रही;
हँसि हेरत में मुख फेरत में हिय कों हुलसाय लराय रही।

यहाँ हर्ष और विषाद भावों की संधि है। और भी—

"प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल;
खेलत मनसिज-मीन युग जनु विधुमंडल डोल।"

"देख्यो चहै पिय को मुख पै अँखियाँ न करै जिय की अभिलाषी;
चाहति 'संभु' कहै मन में बतियाँ मुख में पुनि जाति न भाषी।
भेटिवे कों फरकैं भुज पै नहिं जीभ ते जाइ नहीं नहीं भाखी;
काम सँकोच दुहूँन वहू बलि आजु दुराज-प्रजा करि राखी।"

यहाँ औत्सुक्य और व्रीड़ा की संधि है।

## भाव-शवलता

जहाँ एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा, इस प्रकार बहुत-से भावों का एक ही स्थान पर सम्मेलन होता है, उसे भाव-शवलता कहते हैं। जैसे—

या विधि की विपरीत कथा हा! विदेह-सुता कित है अरु मैं कित;
ता मृगनैनी बिना बन में अब होइ मो प्रान अधारहु को इत।
मोहि कहेंगे कहा सब लोग? रु कैसे लखौंगो उन्हें समुहै चित;
राज रसातल जाहु अबै है धरातल जीवन हू में कहा हित।

यह जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की कातरोक्ति है। यहाँ 'विधि की विपरीत कथा' में 'असूया' है। 'हाय विदेह-सुता कित' में 'विषाद' है। 'ता मृगनैनी' में 'स्मृति' है।

'मेरा प्राण-आधार कौन होगा'? यह वितर्क है। 'लोग मुझे क्या कहेंगे' यह 'शंका' है। 'मैं उन लोगों के सम्मुख कैसे देखूँगा' यह 'व्रीड़ा' है। और 'राज रसातल जाहु' इत्यादि में निर्वेद है। इन बहुत-से भावों की प्रतीति होने से यहाँ 'भाव-शबलता' है।

एक मत है कि तिल-तंदुलन्याय से—चावल और तिलों की तरह—पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव-शबलता है। पर दूसरा मत है कि यदि ऐसा माना जायगा, तो इस लक्षण की 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का—जो निवृत्त हो गया, उस भाव का—फिर न होना शबलता है। तीसरा मत यह है कि युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दीख पड़ता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ माना जायगा, तो तिल-तंदुल-न्याय के अनुसार 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

'भाव-शांति' आदि चार अवस्थाओं की तरह 'भाव-स्थिति' भी एक अवस्था है। किंतु भाव-शांति आदि चारो अवस्थाओं के सिवा भाव का होना ही भाव-स्थिति है, अतएव व्यंजित संचारी और अपुष्ट रति आदि के उदाहरण जो पहले दिखाए गए हैं, वे भाव-स्थिति के ही उदाहरण हैं।

यहाँ तक अभिधा-मूला-ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्य क्रम-

व्यंग्य का—रस, भाव, रसाभासादि का—निरूपण किया गया है। अब इसी अभिधा-मूला-ध्वनि के दूसरे भेद संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य का निरूपण किया जाता है।

काव्यप्रकाश के 'उद्योत' टीकाकार नागोजी ने यह स्पष्टीकरण किया है कि उक्त असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य-ध्वनि में जहाँ विभावादिकों से व्यक्त होनेवाले स्थायी भावों के उद्रेकातिशय से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'रस-ध्वनि' होती है। जहाँ अपने अनुभावों से व्यक्त होनेवाले व्यभिचारी आदि[1] के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'भाव-ध्वनि' होती है। और संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य-ध्वनि में, व्यंग्यीभूत व्यभिचारियों की अपेक्षा न करके, केवल विभाव अनुभावों के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, अर्थात् रस, भाव आदि के बिना वस्तु या अलंकार की ध्वनि होती है।

## संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि

**जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम संलक्ष्य होता है—भले प्रकार प्रतीत होता है—उसे संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि कहते हैं।**

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर व्यंग्यार्थ प्रतीत

---

[1] यहाँ 'आदि' पद से अपुष्ट 'रति' आदि नवों स्थायी भाव भी समझना चाहिए।

होता है, वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे घड़ावल के बजने पर पहले जोर का टंकार होता है तदनंतर अनुरणन अर्थात् झंकार होती है, उसी प्रकार टंकार के समान वाच्यार्थ का बोध होने पर झंकार की भाँति इस ध्वनि में व्यंग्य अर्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे टंकार की अपेक्षा झंकार मधुर होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ मधुर होता है और जैसे टंकार का झंकार के साथ पौर्वापर्य—पहला-पिछला—क्रम स्पष्ट जाना जाता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के अनंतर प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम इस ध्वनि में स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् इस ध्वनि में रस, भाव आदि की तरह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम असंलक्ष्य नहीं रहता।

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहीं शब्द-शक्ति द्वारा, कहीं अर्थ-शक्ति द्वारा और कहीं शब्द-अर्थ उभय शक्ति द्वारा प्रतीत होता है। अतः इस ध्वनि के तीन भेद हैं—(१) शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि, (२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि और (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि।

## शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उसी शब्द से, न कि उसके पर्याय-वाचक शब्द से, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

यह दो प्रकार की होती है—( १ ) वस्तु-ध्वनि और ( २ ) अलंकार-ध्वनि। वस्तु उस अर्थ को कहते हैं, जिसमें कोई अलंकार नहीं होता है। अतः जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो, जिसमें कोई अलंकार न हो, वहाँ वस्तु-ध्वनि कही जाती है। जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो, जिसमें कोई अलंकार हो, वहाँ अलंकार-ध्वनि कही जाती है। अलंकार-ध्वनि के विषय में एक बात का स्पष्ट करना आवश्यक है—

## अलंकार और अलंकार्य

दो पदार्थ हैं। अलंकार उसे कहते हैं, जो दूसरे को शोभायमान करता है; जैसे हार, कुंडल आदि शरीर को शोभित करते हैं। अलंकार्य उसे कहते हैं, जो दूसरे से शोभित होता है; जैसे मनुष्य का शरीर अलंकारों से शोभित होता है। इसी प्रकार जब उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ ( वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ ) को शोभित करते हैं, तब उन्हें अलंकार कहते हैं। जब वे व्यंग्यार्थ में प्रधानता से प्रतीत होते हैं, तब अलंकार्य हो जाते हैं। अतः उन्हें 'अलंकार-ध्वनि' कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वभाविक है कि जो अलकार्य ( व्यंग्यार्थ ) है, वह अलंकार ( वाच्यार्थ ) किस प्रकार कहा जा सकता है? अर्थात् अलंकार-ध्वनि में जो उपमा आदि अलंकार ध्वनित होते हैं, उनको यदि प्रधान माना जाय, तो उनमें अलंकारता कहाँ रह सकती है—दूसरे को शोभाय-

मान करना जो अलंकार का धर्म है, वह उनमें नहीं रहता, क्योंकि दूसरे को शोभित करनेवाला तो अप्रधान होता है। और यदि उनको (ध्वनित होनेवाले उपमा आदि अलंकारों को) अप्रधान माना जाय, तो उनमें ध्वनित्व नहीं रह सकता, क्योंकि जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है, वह तो प्रधान अर्थ ही होता है। निष्कर्ष यह है कि एक ही पदार्थ को अलंकार और ध्वनि—अप्रधान और प्रधान—किस प्रकार कहा जा सकता है?

इसका समाधान ब्राह्मण-क्षपणक-न्याय द्वारा हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण हो और फिर क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) हो जाता है, उस अवस्था में उसमें ब्राह्मणत्व न रहने पर भी—शिखा-सूत्र का अभाव रहने पर भी—उसे ब्राह्मण-क्षपणक कहते हैं। उसी प्रकार अलंकारों के अलंकार्य अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उनमें यद्यपि वस्तुतः अलंकारता (अप्रधानता) नहीं रहती है, किंतु अलंकार-ध्वनि इसलिये कही जाती है कि उनको पहले अलंकार संज्ञा थी।

## शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि

[1]पत्थर-थल हैं पथिक! इत सथर[2] कहुँ न लखायँ;
उठे पयोधर देखि जो रह्यो चहतु रहि जायँ।

(गाथा सप्तशती से अनुवादित)

यह पथिक के प्रति स्वयं दूतिका नायिका की उक्ति है।

---

१ पत्थर फैला हुआ स्थल अर्थात् पहाड़ी ग्राम। २ यह शब्द प्राकृत भाषा का है। इसके अर्थ शय्या और बिस्तर (बिछौने) दोनों हैं।

पहले तो यह वाच्यार्थ बोध होता है कि 'यहाँ बिछौने आदि नहीं हैं, पहाड़ी गाँव है। यदि उठे हुए पयोधरों को—बद्दलों को—देखकर रात्रि के समय, मार्ग में वर्षा की पीड़ा समझकर, रहने की इच्छा हो, तो यहाँ रुक जाइए'। इस वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों की शक्ति से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि 'परस्त्री-गमन का निषेध करने-वाले शास्त्रों को यहाँ कोई नहीं पूछता है। यदि मेरे उठे हुए (उन्नत) पयोधरों को (स्तनों को) देखकर इच्छा हो, तो रुक जाइए'। यहाँ यदि 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द बदल दिए जायँ, तो उपर्युक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता। शब्द के आश्रय से ही यहाँ व्यंग्य है, अतएव यह शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

यह वस्तु-ध्वनि इसलिये है कि इस व्यंग्यार्थ में कोई अलं-कार प्रतीत नहीं होता है। अनुरणन-ध्वनि इसलिये है कि यहाँ वाच्यार्थ का बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ की क्रमशः ध्वनि निकलती है।

## शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि

उत्पादन-संभार१ विन जगत-चित्र विन भीत२ ;
कला-श्लाघ्य हर३ ने रच्यो वंदौं उन्हैं विनीत।

(स्तवचिंतामणि से अनुवादित)

१ रचना करने की सारी सामग्रियाँ। २ दीवार। ३ प्रशंसनीय कला (चंद्रमा की कला) धारण करनेवाले अथवा चित्र-कला में प्रवीण श्रीशिव।

यहाँ भगवान् शंकर का चित्र-कला-संबंधी लोकोत्तर उत्कर्ष व्यंग्य द्वारा प्रतीत होता है। प्रवीण चित्रकार रंग और लेखिनी (ब्रुरुस) आदि सामग्रियों से और दीवार आदि किसी प्रकार के आधार पर ही चित्र बना सकता है, पर श्रीशंकर ने बिना ही कोई सामग्री और आधार के—शून्य स्थान पर—जगत् का विचित्र चित्र बनाया है, अतः 'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि है। इस प्रकार चित्रकार से श्रीशंकर का आधिक्य सूचित होता है। यदि 'चित्र' और 'कला'-शब्द बदल दिए जायँ, तो यह व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता, इसलिये शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि है।

और भी—

मेघकाल करवाल की जल-धारान प्रपातु;
अरिन प्रतापानल बढ़्यो देव ! तुम्हीं बिनसातु।

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है—'हे राजन् ! मेघ-जैसी करवाल (तलवार) की जलधारा से, अर्थात् कांति-युक्त तलवार की धार से, शत्रुओं के प्रताप-रूपी बढ़ी हुई अग्नि का तुम्हीं विनाश करते हो'। इस मुख्य अर्थ को बोध कराके अभिधा-शक्ति रुक जाती है, फिर यहाँ व्यंग्य से इंद्र का अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् 'हे देव ! आप कालकर (काली कांतिवाले) बाल (नवीन) मेघों की जल-धाराओं के प्रपात से (डालने से) जल के शत्रु-तेज आदि का ताप विनाश करते हो।' वाच्यार्थ प्राकरणिक राजा है और व्यंग्यार्थ है अप्राकरणिक

इंद्र। राजा को इंद्र की उपमा व्यंग्यार्थ से प्रतीत होती है, अतएव उपमा-अलंकार की ध्वनि है।

जहाँ शब्द-उद्भव-शक्ति द्वारा व्यंग्य से अलंकार ध्वनित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ अलंकार-रूप होता है, वहीं शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि होती है। और, जहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ रूप न होकर वाच्यार्थ होते हैं, वहाँ ध्वनि नहीं, किंतु श्लेषालंकार होता है।

जैसे—

हैं पूतना-मारण में सुदक्ष,
जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किंतु रक्षा उसकी दयालु,
शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु।

यहाँ शब्द-शक्ति से एक साथ ही श्रीरामचंद्र और श्रीकृष्ण-चंद्र दोनो का वर्णन है। दोनो अर्थ वाच्यार्थ हैं और न इनमें उपमेय और उपमान-भाव ही व्यंग्य है, अतः उपमालंकार की ध्वनि नहीं, केवल शब्द-श्लेषालंकार-मात्र है।

## अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ शब्द-परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि में शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं होता, किंतु इसमें शब्द-परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ सूचित होता है। अतः यह, शब्द पर निर्भर न होने के कारण अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि कही जाती है। व्यंजक अर्थ (जिससे व्यंग्यार्थ सूचित होता है) तीन प्रकार का होता है—(१) 'स्वतः संभवी', (२) 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' और (३) 'कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध'।

## (१) स्वतः संभवी

जो 'अर्थ' (वर्णन) कवि की कल्पना-मात्र ही न हो, किंतु संभव भी हो, अर्थात् लोक-व्यवहार में असंभव प्रतीत न हो, वह स्वतः संभवी है।

## (२) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जो 'अर्थ' केवल कवि की कल्पना-मात्र ही हो, अर्थात् जिसका होना असंभव हो (जैसे काली वस्तु को सफ़ेद करनेवाली चंद्रमा की चाँदनी केवल कवि की कल्पना-मात्र है, क्योंकि लोक में ऐसी चाँदनी नहीं देखी जाती), उसे कवि की प्रौढ़ोक्ति कहते हैं। और ऐसे कवि-कल्पित वर्णन को कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध कहते हैं।

## (३) 'कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जहाँ कवि की स्वयं उक्ति न होकर कवि-कल्पित पात्र की अर्थात् नायक-नायिका आदि की प्रौढ़ोक्ति द्वारा लोकातिरिक्त

केवल कल्पनात्मक वर्णन होता है, वहाँ 'कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' कहा जाता है। 'कवि-प्रौढ़ोक्ति में' कवि स्वयं वक्ता होता है, और इसमें कवि-कल्पित पात्र। बस यही भेद है।

इन तीनो भेदों में कहीं तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनो ही वस्तु-रूप या अलंकार-रूप होते हैं, और कहीं दोनो में (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में) एक वस्तु-रूप और दूसरा अलंकार-रूप होता है, अतएव इन तीनो के चार-चार भेद होते हैं।

## स्वतः संभवी

(क) स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप।

(ख) स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ अलंकार-रूप।

(ग) स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ अलंकार-रूप और व्यंग्यार्थ वस्तु-रूप।

(घ) स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी अलंकार और व्यंग्यार्थ भी अलंकार।

## कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

(ङ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

(च) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य।

(छ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य।

(ज) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

## कवि-निबद्ध पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

( झ ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

( ञ ) कवि-निबद्ध पात्र-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य।

( ट ) कवि-निबद्ध प्रौढ़ोक्ति० अलंकार से वस्तु व्यंग्य।

( ठ ) कवि-निबद्ध प्रौ० अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

## ( क ) स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य

सर सम्मुख धावहिं फिरहिं, फिर आवहिं फिर जाहिं,
मधुप-पुंज अति मधुर ये गुंजत अधिक सुहाहिं।

यहाँ मधुर गुंजित भौंरों का सरोवर के पास बार-बार लौटकर आना, जो वाच्यार्थ है, वह वस्तु-रूप है। इसमें कोई अलंकार नहीं है। इसके द्वारा यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि कमलों का शीघ्र ही विकास होनेवाला है, तथा शरद्-ऋतु भी आ रही है। और यह व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप है—इसमें भी कोई अलंकार नहीं। भ्रमरों का मधुर गुंजार जो वाच्यार्थ है, वह और शरद् का होनेवाला प्रादुर्भाव दोनो ही स्वतः संभवी हैं, क्योंकि इन बातों का होना संभव है, अतः यहाँ स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य है। और भी—

मृदु पद रख धीरे कंटका भू-स्थली है;
सिर पट ढकिए री! घाम कैसी घनी है।
पथि पथिक-वधू यों मैथिली को सिखातीं;
दृग-सलिल बहातीं, प्रेम को थीं दिखातीं।
( बालरामायण से अनुवादित )

श्रीरघुनाथजी के वन-गमन की कथा कहते हुए सुमंत्र की राजा दशरथ के प्रति जो यह उक्ति है, वह वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। यहाँ 'जानकीजी' के अंगों की सुकुमारता, उनका पातिव्रत्य और इस दुस्सह अवस्था में भी पति का साथ देना इत्यादि जो भाव पथिकांगनाओं के हृदय में उठे हुए प्रतीत होते हैं, वह व्यंग्यार्थ है, और वह भी वस्तु-रूप है।

## ( ख ) स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

रवि-प्रताप हू घटत है जब वह दच्छिन जाय;
रघु-प्रताप नहिं सहि गयो नृपन तिहीं दिसि माय।
( रघुवंश से अनुवादित )

यह रघु का दिग्विजय-वर्णन है। 'दक्षिण दिशा में जाकर ( दक्षिणायन होकर ) सूर्य का भी प्रताप—अधिक ताप—घट जाता है, पर उस दिशा में भी महाराज रघु का प्रताप नहीं घटा—उस प्रताप को दक्षिण दिशा ( पांड्य देश ) के राजा नहीं सह सके।' यह स्वतः संभवी वस्तु-रूप वाच्यार्थ है, कवि-कल्पित नहीं। और इस वाच्यार्थ के द्वारा सूर्य के

तेज से रघु के तेज का उत्कर्ष सूचित होता है। इस व्यंग्यार्थ से 'व्यतिरेक'-अलंकार की ध्वनि निकलती है। अतः वस्तु से अलंकार-व्यंग्य है।

इसी प्रकार—

"गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी;
मेघ सहे सिर सीत सहे तन धूप-समैं जु पँचागिन जारी।
भूख सही रहे रूख तरे पर 'सुंदरदास' सहे दुख भारी;
डासनि छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मारयो पै आस न मारी।"

यहाँ गेह आदि सब वस्तुओं के त्यागने पर भी आशा का बना रहना कहा गया है। इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'आशा के त्यागे बिना घर आदि का त्याग वृथा है'। इस व्यंग्यार्थ में विनोक्ति-अलंकार की ध्वनि निकलती है।

## ( ग ) स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

"ऐसे रन रावन बुलाए बीर बान हूत,
जानत जे रीति सब संजुग समाज की;
चली चतुरंग चमू चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग राति-चर-राज की।
'तुलसी' बिलोकि कपि भालु किलकित-लल—
कत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुनाज की;
राम-रुख निरखि हरख्यो हिय हनूमान,
मानो खेलवार खोली शीश-ताज बाज की।"

रावण की सेना को देखकर श्रीरघुनाथजी ने, युद्ध करने के लिये, हनुमानजी को इशारा किया। उस इशारे से हनुमानजी को जो हर्ष हुआ, उस हर्ष की शिकारी द्वारा टोपी खोले हुए बाज़ पक्षी की उत्प्रेक्षा की गई है। इस उत्प्रेक्षा-अलंकार से यह वस्तु-रूप व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि रावण से युद्ध करने को हनुमानजी की जो चिरकाल से उत्कट उत्कंठा थी, वह पूर्ण हो गई।

जीरन वसन विहाय जिमि पहरत अपर नवीन ;
तिमि पावत नव-देह नर तजि जीरन तन-छीन।
( श्रीमद्भगवद्गीता से अनुवादित )

भगवान् की इस उक्ति में उपमा अलंकार स्वतः संभवी वाच्यार्थ है। वस्तु रूप ध्वनि यह है कि 'जन्म-मरण तो होता ही रहता है, पर युद्ध में जीतने से यहाँ सुख और सुकीर्ति है और मरने से स्वर्ग की प्राप्ति है, अतः उभय-लोक-साधक युद्ध अवश्य ही कर्तव्य है।'

## ( घ ) स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

रिपु-तिय-रद-छद अधर को दुख सब दियो मिटाय ;
नृप ! तुम रन में कुपित ह्वै अपने अधर चबाय।

कवि राजा से कहता है कि 'संग्राम में कुपित होकर अपने ओठों को चबाकर तुमने अपने शत्रुओं की स्त्रियों के अधरों का दुःख ( जो उनके पतियों द्वारा किए गए

दंत-क्षतों से होता ) दूर कर दिया।' यह वाच्यार्थ है। इसमें 'अपने ओठों को चबाकर दूसरों के ओठों का दुःख दूर करना' यह विरोधाभास-अलंकार है१। इस अलंकार द्वारा 'तू अपने ओठ इसलिये चबाता है कि तेरे ओठों के चाहे क्षत हो जायँ, पर दूसरों के क्षत न हों' यह उत्प्रेक्षा की ध्वनि भी निकलती है, अथवा 'अधरों का चबाना' और 'शत्रुओं का मारना' दो क्रिया एक काल में होने में समुच्चय अलंकार की ध्वनि है।

## (ङ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से वस्तु-व्यंग्य

कुसुम-बान सहकार के मधु केवल न सनात;
करि सम्मुख तरुनीन के स्मर-कर में पकरात।

यह वसंत-वर्णन है। वसंत को वाण बनानेवाला, कामदेव को योद्धा, स्त्री-जनों को लक्ष्य, और आम्र को वाण कहा गया है। किंतु काम योद्धा या उसके चलते हुए वाण देखे नहीं जाते, यह कवि की केवल कल्पना-मात्र है। अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु-रूप वाच्यार्थ है, उससे यहाँ 'कामोद्दीपन-काल'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

---

१ कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ विरोधाभास न मानकर विरोध-मूलक अतिशयोक्ति-अलंकार बतलाया है।

## ( च ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से अलंकार-व्यंग्य

निशि ही में ससि करतु है केवल भुवन प्रकास ;
तेरो जस निसि-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास ।

राजा के यश से त्रिभुवन में प्रकाश होना कवि-कल्पना-मात्र है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। 'चंद्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाश करता है, और तेरा यश दिन-रात', इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ से राजा के यश में चंद्रमा से अधिकता व्यंग्य से सूचित होती है, अतः व्यतिरेक-अलंकार की ध्वनि निकलती है।

और भी—

"हम ख़ूब तरह से जान गए जैसा आनंद का कंद किया,
नव-रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
तुम हुस्न प्रभा की बाकी लै फिर विधि ने यह फरफंद किया,
चंपक-दल सोनजुही नरगिश चामीकर चपला मंद किया।"

( महंत सीतलदासजी )

यहाँ अंगों के रूप-लावण्य की रचना करके बची हुई सामग्री से चंपक-दल आदि की रचना के कथन में कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इसमें व्यतिरेक-अलंकार की व्यंजना है, क्योंकि चंपक आदि से अंगों की कांति की अधिकता सूचित होती है।

## ( छ ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

रावन सिर के मुकुट सों तिहिं छिन भुवि-तल आय ;
मनि-मिस निसिचर-लच्छिम के अँसुवा गिरे ढराय।

( रघुवंश से अनुवादित )

'श्रीरघुनाथजी के जन्म-समय रावण के मुकुट से मणियों के गिरने का तो बहाना-मात्र था, वास्तव में राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू पृथ्वी पर गिरे थे।' इस वर्णन में 'राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू' कवि-कल्पित हैं, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। 'मणियों के बहाने से आँसू गिरे' इस कथन में 'अपह्नुति'-अलंकार वाच्यार्थ है। इसमें 'आगे को होनेवाला राक्षसों का विनाश'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

## ( ज ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

"कोप के कटाच्छ तें निहारत ही रिपु-ओर,
काम के कटाच्छ वाम तिनकी चितात हैं ;
मूर्वी-गांडीव ताकी सपरस करत अरी—
नारिन के कज्जल को परस मिटात है।
दसत है होठ आप पीर को सहत वीर
सत्रु-वधू होठनि की पीर सो बिलात है ;
बान के सँधानत ही अर्जुन के सत्रुन की—
त्रियन की चूरिन को चूरन दिखात है।"

अर्जुन के युद्ध के वर्णन में यह कवि की प्रौढ़ोक्ति है। 'शत्रुओं पर अर्जुन के कुपित कटाक्षों का गिरना' यह कारण अन्य स्थान पर और उनकी (शत्रुओं की) स्त्रियों के काम-कटाक्ष का अंत हो जाना' यह कार्य अन्य स्थान पर होने में असंगति-अलंकार है। इस अलंकार द्वारा कार्य-कारण का एक साथ होना रूप अतिशयोक्ति-अलंकार की ध्वनि निकलती है।

और भी—

"नाहिन ये पावक प्रबल लुवै चलैं चहुँ पास ;
मानहु विरह-वसंत के ग्रीसम लेत उसास।"

यहाँ अपने प्यारे 'वसंत के विरह में लूओं के रूप में ग्रीष्म-ऋतु का तप्त श्वास लेना' सापह्नव उत्प्रेक्षा है। इस उत्प्रेक्षा द्वारा "जब स्वयं ग्रीष्म-ऋतु ही तप्त श्वास ले रही है, तब जीवधारी मनुष्यादिकों के संताप की बात ही क्या है" यह 'अर्थापत्ति'-अलंकार व्यंग्यार्थ से ध्वनित होता है। और भी—

सुनत बिहारी के ललित दोहन-मोहन मंत्र ;
स-हृदय हृदय न सुधि रहत लगत न जंत्र न तंत्र।

विहारी कवि के दोहों को मोहन-मंत्र कहने में 'रूपक' अलंकार वाच्यार्थ है। इसके द्वारा 'अन्य मंत्रों की मोहन-शक्ति पर जंत्र-तंत्रों का प्रभाव हो सकता है, और इन मोहन-मंत्रों पर कोई जंत्र-मंत्र नहीं चल सकता' यह उत्कर्ष सूचित होता है। अतः 'व्यतिरेक' अलंकार व्यंग्य है। यह कवि-कल्पित वर्णन है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र है।

## ( भ ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यंग्य

"करी विरह[1] ऐसी तऊ गैल न छोड़त नीच ;
दीन्हेऊ चसमा चखनि चाहत लखै न मीच ।"

यहाँ मृत्यु के नेत्र में चश्मे का होना कवि-कल्पित वस्तु-रूप है। वक्ता विरह-निवेदना दूती है, अतः कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति है, और नायिका की अत्यंत कृशता का सूचित होना वस्तु-व्यंग्य है।

## ( ञ ) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार-व्यंग्य

सदन-बान तजि पंचता सखि ! वे भए अनंत ;
विरहिन कों अब पंचता आई हाय ! बसंत ।

कवि-निबद्ध नायिका की उक्ति है—'हे सखी, कामदेव के पुष्प-बाणों को जो पंचता ( पाँच की संख्या ) थी, वह उन्होंने वसंत-ऋतु में छोड़ दी, अर्थात् वे बाण असंख्य हो गए हैं, अतः वियोगियों को अब पंचता ( मृत्यु ) आ गई'। यह जो वस्तु-रूप वर्णन है, उसके द्वारा जो बाणों की पंचता थी,

---

[1] विरह ने उसे इतनी दुबली कर दी है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती, फिर भी नीच विरह उसका पिंड नहीं छोड़ता।

वही मानो वियोगी जनों में आ गई, यह उत्प्रेक्षा अलंकार व्यंग्य से प्रतीत होता है।

## ( ट ) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

मानिनि ! मालति-कुसुम पै गुंजत भ्रमर सुहाहिं ;
मानो मदन-प्रयान के सु-समय शंख बजाहिं।

मानिनी के प्रति कवि-निबद्ध सखी की यह प्रौढ़ोक्ति है। भ्रमर के गुंजार में कामदेव के शंख की उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ है। इस उत्प्रेक्षा-अलंकार द्वारा "कामोद्दीपक समय आ गया, फिर भी तू मान नहीं छोड़ती" यह वस्तु-ध्वनि निकलती है। और भी—

"मरबे को साहस कियौ बढ़ी विरह की पीर ;
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि-समीर।"

यह कवि-निबद्ध दूति को प्रौढ़ोक्ति है। मरने के लिये चंद्रमा और कमलों के सम्मुख दौड़ना इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न है, अतः विचित्र अलंकार है। इसके द्वारा नायिका का अत्यंत विरह-संताप सूचित होना वस्तु-ध्वनि है। और भी—

तव सद नख-रद-छद दियो मेरे दृगन सुवेस ;
रक्तांसुक सुप्रसाद यह कुपित न है प्रानेस !

'तेरे नेत्र अरुण क्यों हो रहे हैं ?' इस प्रकार पूछनेवाले नायक के प्रति रक्तनयना कुपित नायिका की यह प्रौढ़ोक्ति

है। 'मेरे नेत्र कोप से नहीं, किंतु तुम्हारे अंग पर नवीन (अन्य स्त्री द्वारा अभी किए हुए) दंत-क्षत और नख-क्षतों द्वारा मेरे नेत्रों को दिया हुआ रक्तांशुक अर्थात् तुम्हारे अंग के क्षतों की अरुण कांति का प्रतिबिंब (श्लेषार्थ—रक्त वस्त्र) रूप प्रसाद है'। यहाँ नायिका का उत्तर जो वाच्यार्थ है, उसी से नायक के पूर्वोक्त प्रश्न का अनुमान होता है, अतः उत्तरालंकार है। इसके द्वारा "तुम केवल अन्य प्रेमिका के किए हुए नख-क्षतादि ही नहीं छिपाते, किंतु तुमने मुझे उसकी प्रसाद-पात्र भी बना दिया है (दूसरे की उपभुक्त वस्तु को ही प्रसाद कहते हैं)," यह वस्तु-व्यंग्य है।

## (ठ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

हिय तेरो बहु तिय भरयो मिलत न ताको ठौर ;
छाँड़ि सबहि वह करत नित कृस तन अब कृस और।

यहाँ कवि-निबद्ध दूती की दक्षिण-नायक के प्रति प्रौढ़ोक्ति है। 'बहुत-सी युवतियों के प्रेम से भरे हुए तुम्हारे हृदय में स्थान न मिलने के कारण वह बेचारी अब सब काम छोड़-कर प्रतिदिन अपने कृश देह को और भी कृश कर रही है; यह इसलिये कि अत्यंत क्षीण होने से संभव है हृदय में कुछ स्थान मिल जाय'। यह 'काव्यलिंग' अलंकार वाच्यार्थ है। इसमें

'कृश देह होने पर भी तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं मिलता' यह 'विशेषोक्ति' अलंकार-व्यंग्य से प्रतीत होता है।

## शब्द और अर्थ उभय शक्ति उद्भव-अनुरणन ध्वनि

**जहाँ कुछ पदों का परिवर्तन होने पर भी और कुछ पदों का परिवर्तन न होने से ही 'व्यंग्य' सूचित होता है, वहाँ शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक 'ध्वनि' होती है।**

यह भेद केवल वाक्यगत ही होता है—पदगत नहीं। क्योंकि एक ही पद में दो विरुद्ध धर्म ( अर्थात् शब्द-परिवर्तन सहन करना और सहन न करना ) नहीं रह सकते। इसमें वस्तु के द्वारा अलंकार-व्यंग्य होता है, न कि वस्तु-रूप व्यंग्य। क्योंकि 'वस्तु' शब्दार्थ-उभय-मूलक नहीं होती, वस्तु के गोपन में—छिपाने में—केवल शब्द-शक्ति ही समर्थ है, अर्थ-शक्ति नहीं। उदाहरण—

सोहत चंद्राभरन जुत मनमथ प्रबल बढ़ातु ;
तरल-तारका कलित यह श्यामा ललित सुहातु।

इसके दो अर्थ हैं—( १ ) चंद्रमा जिसका आभरण है, जो कामदेव को बढ़ाती है, और तरल-तारका है, अर्थात् कहीं-कहीं कुछ तारागणों से युक्त है; ऐसी यह श्यामा ( रात्रि ) शोभित

हो रही है। (२) जो चंद्र अर्थात् कपूर के भूषणों से अथवा चंद्राभरण से (ललाट के भूषण से) युक्त है, कामदेव को बढ़ानेवाली है, और तरल-तारका[1] है, अर्थात् चंचल नेत्रवाली है (अथवा तारों के समान कांतिवाले छोटे-छोटे हीरों की लटकनवाला हार धारण किए है) ऐसी यह श्यामा-कामिनी शोभायमान है'। ये दोनो वाच्यार्थ वस्तु-रूप हैं। इनमें स्त्री के समान रात्रि शोभित है, अथवा चाँदनी रात्रि-जैसी कामिनी शोभित है, यह उपमा अलंकार व्यंग्य से ध्वनित होता है। 'चंद्र', 'तरल' और 'श्यामा'-शब्दों के स्थान पर इन्हीं अर्थों के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर, दो अर्थ नहीं हो सकते, यह शब्द-शक्ति-मूलकता है, और 'आभरण', 'मनमथ' तथा 'बढ़ात'-शब्दों के स्थान पर इसी अर्थवाले दूसरे शब्द बदल देने पर भी दो अर्थ हो सकते हैं, यह अर्थ-शक्ति-मूलकता है। अतः यहाँ शब्द और अर्थ दोनो की शक्ति से व्यंग्यार्थ सूचित होने से यह शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक 'ध्वनि' है।

यहाँ तक ध्वनि के जिन १८ प्रधान भेदों का निरूपण किया गया है, उन १८ भेदों के यथासंभव, अर्थात् पृष्ठ ८१ और ८२ की तालिका के अनुसार, पद[2] में, वाक्य[3] में,

---

१ तरल=चंचल, तारका=आँखों के बीच का काला मंडल।
२ सुबंत और तिङंत को 'पद' कहते हैं। ३ पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। अतएव पदों के समूहात्मक वाक्य में और पदों के समास में जो ध्वनि होती है, वह भी वाक्यगत ध्वनि है।

प्रबंध[१] में, पदांश[२] में, वर्ण[३] में और रचना[४] में ५१ भेद होते हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं—

## पदगत-ध्वनि

पदगत ध्वनि में प्रधानता से एक ही पद व्यंजक होता है, अन्य पद केवल उस पद के उपकारक होते हैं—

'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ;
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।'

(ध्वन्यालोक)

---

१ महावाक्य को अर्थात् अनेक वाक्यों के समूह को 'प्रबंध' कहते हैं। प्रबंध दो प्रकार के होते हैं—ग्रंथ-रूप और ग्रंथ के अवांतर प्रकरण-रूप।

२ पद के एक अंग या अंश को 'पदांश' कहते हैं। जैसे धातु, नाम (प्रातिपदिक) तिङ् विभक्ति, सुप् विभक्ति, क्त आदि प्रत्यय, संबंध-वाचक षष्ठी विभक्ति, लङ् आदि लकार, वचन (एक वचन आदि), प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष, समास में पूर्वनिपात विभक्ति विशेष, 'क' आदि तद्धित, 'प्र' आदि उपसर्ग, 'च' आदि निपात, सर्वनाम और समास आदि।

३ 'क' आदि वर्ण।

४ गूँथने का नाम रचना है। इसके वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौड़ी चार भेद हैं। वैदर्भी रचना समास-रहित होती है, पांचाली दो-तीन या चार पदों के समासवाली, 'लाटी' पाँच तथा सात पदों के समासवाली होती है, और गौड़ी में यथाशक्ति पदों का समास हो सकता है।

अर्थात् नासिका आदि किसी एक अंग में धारण किए गए भूषण से जैसे कामिनी के सारे शरीर की शोभा हो जाती है, उसी प्रकार एक पद के व्यंग्यार्थ से कवि-कृत सारे पद्य की रचना शोभा को प्राप्त हो जाती है। उदाहरण—

जाके सुहृद जु सुहृद हो रिपुहू रिपु ही होइ;
जनम सफल तिहि पुरुष को जीवित हू जग सोइ।

यहाँ 'सुहृद्' और 'रिपु' पद में 'अर्थांतर संक्रमित' ध्वनि है। दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद्'-शब्द के वाच्यार्थ में 'विश्वास के योग्य' और 'रिपु' के वाच्यार्थ में 'परास्त के योग्य' व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इस ध्वनि की व्यंजना में यहाँ दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद' और 'रिपु' पद ही प्रधान हैं, इसी से यह पदगत अर्थांतर संक्रमित ध्वनि है। पदगत 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि का उदाहरण 'लगि मुख को निश्वास' (पृष्ठ ८६) में है।

## पदगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

भीत-चकित-सी ह्वै कह्यो सुनत मान-उपदेस;
धीरै कहु सुनि लेहिं सखि! स्थित मो हिय प्रानेस।

(अमरुकशतक से अनुवादित)

यह मान का उपदेश देनेवाली सखी के प्रति भीतानना—भयभीत-से मुखवाली—नायिका की भंग्यंतर से उक्ति है। 'हे सखि! तू मान करने की बातें बहुत धीरे-धीरे कह, क्योंकि मेरे हृदय में प्राणनाथ रहते हैं, वे कहीं सुन न लें।' यहाँ 'भीत-

चकित' पद 'धीरे कहु' की योग्यता प्रकाश करता हुआ प्रधानता से पति में अनुराग सूचन करता है। अतः इस एक पद से संभोग-शृंगार ध्वनित होने से पद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि है। इसी प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि के शब्द-शक्ति-मूल तथा अर्थ-शक्ति-मूल वस्तु या अलंकार-ध्वनि के पदगत उदाहरण होते हैं।

## वाक्यगत ध्वनि

'सुबरन फूलन की धरा' (पृष्ठ ८६) में के कई पदों से बने हुए सारे वाक्य में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि है। असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-ध्वनि के उदाहरण, रस-प्रकरण में, प्रायः वाक्यगत ही दिए गए हैं।

## प्रबंधगत ध्वनि

यह ध्वनि एक वाक्य या एक पद्य में नहीं होती, किंतु ग्रंथ-प्रबंध के कई पद्यों में हुआ करती है। महाभारत के शांतिपर्व के आपद्धर्म की १५३ अध्याय के गृध्र-गोमायु-संवाद आदि में बहुत मिलती हैं, देखिए! वहीं का उदाहरण—

गीध-स्यार कंकाल जुत है यह घोर मसान;
अतिहि भयंकर या समय रहिबो इत अज्ञान।
प्रानि-मात्र की गति यही प्रिय वा अप्रिय होड;
या जग में मरिके कवौं जीवित है नहिं कोउ।

संध्या के समय श्मशान में किसी मृतक बालक को उसके बंधुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने यह चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग दिन के रहते चले जायँ, तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये यहीं टिके रहें, तो फिर रात में गोध तो इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा।' उस प्रसंग में रात्रि में अंधे हो जानेवाले मांस-भक्षक गीध की मृतक के बांधवों से यह उक्ति है। 'ऐसे भयंकर श्मशान में इस संध्या-काल में तुम लोगों का यहाँ रहना बड़ा भयावह है।' यह स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोड़कर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यंग्य है।

और—

अथ्यो न रवि लखियतु अजौं विघन रूप यह काल ;<br>
रहहु निकट ही जिय परे फिरि कदाचि यह बाल।<br>
भई न याकी तरुन वय सुवरन बरन समान ;<br>
तजत याहि क्यों मूढ़ जन ! गीध-वचन तुम मान।

यह उस मृतक के उन्हीं बाँधवों के प्रति गीदड़ की उक्ति है। यह भी स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें मृत बालक को छोड़कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और वह वस्तु-रूप है। इन दोनो उदाहरणों में किसी एक ही पद या वाक्य से उक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किंतु सारे प्रबंध के वाक्य-समूह

द्वारा प्रतीत होता है, अतः यहाँ प्रबंधगत संलक्ष्यक्रम व्यंग्य अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

महाभारत में शांत-रस, श्रीरामचरित्र में करुण-रस, 'मालतीमाधव' और 'रत्नावली'-नाटकों में शृंगार-रस ग्रंथ-रूप प्रबंधगत ध्वनि के उदाहरण हैं।

## पदांशगत ध्वनि

रुचि है नहिं तोहिं अहारन में रु विहारन कोउ सुहावतु री;
रहै नासिका ओर निहारत ही मन एकहि ठौर लगावतु री।
गहैं मौन रहै यह मौन सबै यहै सूने-से तोहि लखावतु री;
कहु जोगिन है कि वियोगिनि तू ? सजनी ! यह क्यों न बतावतु री।

यह किसी वियोगिनी के प्रति उसकी सखी की परिहासोक्ति है। यहाँ 'अहारन में', 'कोउ', 'ही', 'कहु', 'सजनी' और 'कि' ये सब पदांश हैं। 'अहारन में' विषय सप्तमी विभक्ति है, इसमें सारे आहारों से वैराग्य होना व्यंग्य है। 'योगिनी शरीर-रक्षार्थ सात्त्विक आहार तो करती है, पर तू तो आहार-मात्र से विरक्त है।' यह ध्वनि है। 'कोउ' विशेषण है। इसमें यह ध्वनि है कि 'धार्मिक विषयों से—गंगास्नानादि से—योगिनी की निवृत्ति नहीं होती, किंतु तुझे तो भला या बुरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता'। 'निहारत' के आगे 'ही' है, 'ही' पदांश से निरंतरनासाग्र दृष्टि रखना, व्यंग्य है। 'यह' में व्यंग्य यह है कि 'तेरा यह प्रत्यक्ष विलक्षण मौन है'। 'सजनी' पद से

अंतरंगता ध्वनित होती है, अर्थात् मुझसे तेरा प्रेम छिपा नहीं है। 'री कहु' संबोधन से उपहास सूचित है। 'कि है?' से उसकी विरहावस्था सूचित है। यहाँ इन पदांशों का अपने-अपने विषयों को ध्वनित करना सहृदयों को ही अनुभवनीय है।

## वर्ण और रचनागत ध्वनि

इनके उदाहरण छठे स्तवक में ( 'गुण'-प्रकरण में ) दिए जायँगे।

यहाँ तक ध्वनि के जिन ५१ भेदों का निरूपण किया गया है, वे शुद्ध भेद हैं, अर्थात् इनमें एक ध्वनि में दूसरी ध्वनि का मिश्रण ( मिलाप ) नहीं है। जहाँ एक ध्वनि में दूसरी ध्वनियों का मिश्रण होता है, वहाँ ध्वनि-संकर और ध्वनि-संसृष्टी कही जाती है।

## ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

संकर के तीन भेद हैं—

( १ ) संशयास्पद-संकर—जहाँ कई ध्वनियों की प्रतीति होती है, और उनमें एक का साधक और दूसरी का बाधक प्रमाण नहीं मिलता है, अर्थात् 'यह कौन-सी ध्वनि है?' ऐसा संशय होता है, वहाँ संशयास्पद-संकर-ध्वनि कही जाती है।

( २ ) अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर—जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ होती हैं और उनमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि की पोषक

होती हैं—उनका अंगांगीभाव होता है—वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि कही जाती है।

जहाँ व्यंग्य दूसरे किसी व्यंग्य का अंग होता है, वहाँ वह गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है। अतएव यह प्रश्न होता है कि फिर इस अंगांगीभाव संकर को ध्वनि-भेद के अंतर्गत क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी कामिनी के कंठ में धारण किया हुआ कोई चमकीला आभूषण अपने चमत्कार को स्वतंत्रता से रखता हुआ भी उस कामिनी के कंठ का भी उपकार करता रहता है—शोभा बढ़ा देता है—उसी प्रकार जहाँ एक ध्वनि स्वतः चमत्कारी रहकर दूसरी ध्वनि का भी कुछ उपकार कर देती है, न कि दूसरी ध्वनि का सर्वथा अंग ही हो जाती है, वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि कही जाती है।

(३) एकव्यंजकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही पद या एक ही वाक्य में एक से अधिक प्रकार की ध्वनि होती है, वहाँ एकव्यंजकानुप्रवेश संकर-ध्वनि कही जाती है।

जहाँ निरपेक्षता से—परस्पर संबंध न रखकर स्वतंत्रता से—एक से अधिक ध्वनियाँ अपने स्वरूप में स्थित होती हैं, वहाँ 'ध्वनि संसृष्टी' कही जाती है।

संशयास्पद संकर का उदाहरण—

"सीता हरन तात! जनि कहेउ पितासन जाय;
जो मैं राम तो कुल-सहित कहहि दसानन आय।"

यह गृध्रराज के प्रति श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। 'जो मैं राम हूँ' यह पद 'मैं सूर्यवंशी महाराज दशरथ का अतुल बलशाली पुत्र यदि राम हूँ' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है, अतः क्या अविवक्षितवाच्य अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि है? या 'जो राम हूँ तो' इस पद से 'मैं जानकी को हरण करनेवाले रावण का शीघ्र ही वध करूँगा' यह अनुरणन रूप व्यंग्य सूचित होने से क्या विवक्षितवाच्य अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि है? यह संशय होता है, क्योंकि एक को स्वीकार करने में साधक और दूसरी का त्याग करने में बाधक प्रमाण नहीं है—दोनो की ही समानता से प्रतीति होती है। अतः यहाँ संशयास्पद संकर-ध्वनि है।

अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि का उदाहरण संसृष्टी के उदाहरण में दिखाया जायगा।

एकव्यंजकानुप्रवेश संकर का उदाहरण—

उन्नत पीन उरोज लसैं जुग दीरघ चंचल दीठ विलोकित ;
ठाढ़ी है गेह की देहरी पै पिय-आगम के उतसाह-प्रलोभित।
कंचन-कुंभ कुसुंभ सजे पट, कंजन-वंदनवार सुसोभित ;
मंगल ये, उपचार किए बिन ही श्रम कंजमुखी समयोचित।

'उन्नत उरोजोंवाली और बड़े तथा चंचल नेत्रोंवाली घर के दरवाज़े पर खड़ी हुई सुंदरी ने अपने पति के आने के समय समयोचित मांगलिक कार्य—दो पूर्ण कलशों को

सम्मुख लाना और पुष्पों की वंदनवार लगाना—विना ही कुछ यत्न के संपादन कर दिए'। इस वाच्यार्थ में 'स्तन ही कलश हैं और सुदीर्घ एवं चंचल दृष्टि ही कमलों की वंदनवार है' इन दोनों वाक्यों में रूपक अलंकार की ध्वनि और शृंगार-रस की ध्वनि एक ही आश्रय में हैं, अर्थात् जिन वाक्यों द्वारा रूपक की ध्वनि होती है, उन्हीं वाक्यों द्वारा शृंगार-रस भी ध्वनित होता है। यहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि दोनों हैं, अतएव एकव्यंजकानुप्रवेश संकर-ध्वनि है।

## संसृष्टी और संकर का मिलाव

छावौ घनघोर घटा क्यों न नभ-मंडल पै,
  स्यामल छटा हू ये लीपौ चहुँ ओरन सों;
सीतल समीर धीर मेरे का करैगो पीर,
  ह्वै है का मेव-मित्र मोरन के सोरन सों।
राम हौं कठोर-हिय भुवन-प्रसिद्ध मैं तो,
  सहौंगो सबै ही ऐसे दुःख बरजोरन सों;
प्यारी सुकुमारी हाय जनकदुलारी ताकी-
  होयगी दसा कहा पावस झकोरन सों।

वर्षा-काल के उद्दीपक विभावों को देखकर सीताजी के विरह में भगवान् श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। 'आकाश को श्याम रंग की कांति से लीपनेवाले मेघ भले ही उमड़ें,

शीतल-मंद समीर भले ही चले और मेघ के मित्र मयूरों की भी भले ही कूक होती रहे; मैं अत्यंत कठोर हृदय राम हूँ; सब कुछ सहन कर सकूँगा। पर हाय! सुकुमारी वैदेही की क्या दशा होगी?' यहाँ (१) ध्वनि-संसृष्टी, (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक ध्वनि-संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश ध्वनि-संकर, तीनो एकत्र हैं— (१) आकाश निराकार है। उस पर लेप नहीं हो सकता, अतः यहाँ 'लीपत' का लक्ष्यार्थ व्याप्त करना है। 'मित्रता' चेतन व्यक्ति का धर्म है। जड़ मेघ से मयूरों की मित्रता होना संभव नहीं, इस मुख्यार्थ का बाध होने से मित्रता का लक्ष्यार्थ 'मयूरों को सुख देनेवाला' ग्रहण किया जाता है। इसमें अतिशय कामोद्दीपकता व्यंग्य है। अतः ये दोनो अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि हैं। इनकी यहाँ परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने से संसृष्टी है। (२) इन दोनो (अत्यंत तिरस्कृत वाच्य) ध्वनियों के साथ अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से संकर भी है, क्योंकि यहाँ वक्ता स्वयं राम हैं। केवल 'मैं' कहने से भी राम का बोध हो सकता था, अतः 'मैं राम हूँ' ऐसा कहना अनावश्यक था, पर 'राम' पद 'राज्य-भ्रंश, वन-वास, जटा-चीर-धारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखों को सहन करनेवाला मैं राम हूँ' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है। इस अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि में रामचंद्रजी का अपनी अवज्ञा सूचित करना व्यंग्य है। उपर्युक्त 'लीपत' और 'मित्र' पदों से जो कामोद्दीपकता की

अधिकता व्यंग्य है, वह इस अवज्ञा का अंग है, अर्थात् 'राम'-शब्द से सूचित होनेवाली अवज्ञा की मेघ-काल की उद्दीपकता से पुष्टि होती है। अतः इन दोनो ध्वनियों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव संकर है। (३) 'एकव्यंजकानुप्रवेश-ध्वनि-संकर' इस प्रकार है कि 'राम' पद से जिस प्रकार रघुनाथजी द्वारा अपनी अवज्ञा सूचित होती है, उसी प्रकार सीताजी का वियोग सहन करना भी सूचित होता है, अतः विप्रलंभ-शृंगार भी 'राम' पद में व्यंग्य है। अतः 'राम' इस एक ही पद में अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि और विप्रलंभ-शृंगारात्मक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि दोनो होने से एकव्यंजकानुप्रवेश संकर भी है।

## संसृष्टी

अनतंद्रित चंद्रमुखी-मुख जो अरविंदन से विकसाय रहे ;
तिनके मकरंद के सौहृद-गर्वित मारुत सों धधकाय रहे।
अलि-पुंजन की मन-रंजन ये मद-गुंजन कों सरसाय रहे ;
विन कंत वसंत के वासर ये तरुनीन असंत नराय रहे।

यह वसंत-वर्णन है। 'अनतंद्रित' इत्यादि में लक्षणा-मूलक ध्वनियों की संसृष्टी है। 'अनतंद्रित' का अर्थ है तंद्रा-रहित अर्थात् निरालस्य। चंद्रमा जड़ है, उसे निरालस्य कहने में मुख्यार्थ का बाध होने के कारण गौणी लक्षणा से 'प्रकाश-युक्त' अर्थ बोध होता है, क्योंकि जिस प्रकार आलस्य-रहित

पुरुष प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार वसंत-ऋतु का चंद्रमा भी तुषार या बद्लों से रहित प्रकाशित रहता है। यहाँ प्रकाश की अधिकता व्यंग्य है। वायु को कामिनियों के मुख की मकरंद के सौहृद्य का गर्व करनेवाला कहा गया है। किंतु वायु में न तो सौहृद्य हो सकता है और न गर्व ही, क्योंकि ये चेतन के धर्म हैं। अतः सौहृद्य का 'सादृश्य' और गर्व का 'उत्कर्ष' यार्थ है, क्योंकि मित्र प्रायः बराबरवाले ही होते हैं और गर्व करनेवाले उत्कृष्ट ही होते हैं। 'जराय रहे' कहने में वसंत द्वारा जलाना नहीं हो सकता है, इसका लक्ष्यार्थ है 'जलाने के समान दुःख देनेवाला'। इनमें लक्षण-लक्षणा होने से अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। इन तीनो लक्षणाओं में चंद्रमा के प्रकाश की, वायु को सुगंध की उत्कृष्टता की, और वियोग-दुःख की अधिकता सूचित करना प्रयोजन—व्यंग्य—है। यहाँ एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि का अंग नहीं, तीनो पृथक्-पृथक् स्वतंत्रता से प्रतीत होती हैं। अतः ध्वनियों का 'संकर' नहीं, किंतु ध्वनियों की संसृष्टी है।

## ध्वनि के भेदों की संख्या

ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के परस्पर एक का दूसरे के साथ मिश्रण होने पर (५१ से ५१ का गुणन करने पर) २६०१ मिश्रित भेद होते हैं। इन २६०१ भेदों के तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टी द्वारा (२६०१ को चार के गुणन

करने पर ) १०,४०४ मिश्रित ( मिले हुए संकीर्ण ) भेद होते हैं। इन १०,४०४ भेदों में ५१ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ध्वनि के कुल १०,४५५ भेद होते हैं।

यहाँ तक काव्य के प्रथम भेद ध्वनि का निरूपण किया गया है। अब काव्य के दूसरे भेद गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण किया जायगा।

---

# पंचम स्तवक

## गुणीभूतव्यंग्य

**जो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से गौण होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।**

'गौण' का अर्थ है अप्रधान, और 'गुणीभूत' का अर्थ है गौण हो जाना। वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य है 'वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना'—'वाच्यार्थ के समान चमत्कारक होना' या 'वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारक होना।'

जो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान होता है, उसे ध्वनि कहते हैं, और जो व्यंग्यार्थ अप्रधान रहता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं—इनमें यही भेद है।

(१) अगूढ़, (२) अपरांग, (३) वाच्यसिध्यंग, (४) अस्फुट, (५) संदिग्ध, (६) तुल्यप्रधान, (७) काकाक्षिप्त और (८) असुंदर होने से व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है। अतएव गुणीभूत व्यंग्य के प्रधानतः ये ही आठ भेद होते हैं।

## ( १ ) अगूढ़ व्यंग्य

**जो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, उसे अगूढ़ व्यंग्य कहते हैं।**

कुछ-कुछ प्रकट होनेवाला व्यंग्यार्थ ही चमत्कारक होता है—सर्वथा स्पष्ट होनेवाला नहीं। अतः स्पष्ट प्रतीत होनेवाला व्यंग्य, प्रधान न रहकर, गौण हो जाता है। कहा है—

नांध्रीपयोधर[1] इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ;
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ।

लक्षणा-मूला अगूढ़ व्यंग्य—

पाननि जोरि नतानन ह्वै सरनागत सत्रु किते ढिग आइकै ;
चाहते जाकी कृपा-अवलोकन ठाढ़े सदा मुख-ओर लखाइकै।

---

१ तैलंगिनी के पयोधर की तरह न तो नितांत प्रकट एवं गुर्जर-रमणी के स्तनों की तरह न सर्वथा ढका हुआ ही, किंतु महाराष्ट्र-कामिनी के कुचों की तरह कुछ खुला और कुछ ढका हुआ व्यंग्यार्थ शोभित होता है। किसी कवि ने यों भी कहा है—

'सर्व ढके सोहत नहीं उघरें होत कुभेस ;
अरध ढके छवि देत अति कवि-अच्छर कुच केस।'

सो अब नाँचि रिझावत हौं अरु मेखला की रसरीन बनाइकै;
जीवत हौं न, अहो धिक है जरि जाय ये क्यों न हियो धधकाइकै।

विराट राजा के यहाँ गुप्त रूप में पाँडवों के रहने के समय, कीचक की नीचता को सुनाती हुई द्रौपदी से अर्जुन के ये वाक्य हैं। अर्जुन जीता हुआ ही यह कह रहा है, अतः अर्जुन के 'ज़ीवत हौं न' वाक्य के मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'मेरा प्रशंसनीय जीवन नहीं है' यह लक्ष्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'इस जीवन से मरना ही अच्छा है।' यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ, के समान, स्पष्ट है। 'जीवत हौं न' का वाच्यार्थ 'मेरा श्लाघनीय जीवन नहीं' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है; अतः जिस प्रकार लक्षणा-मूला अविवक्षित वाच्य में अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है, उसी प्रकार यहाँ अविवक्षित वाच्य अर्थांतर संक्रमित अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य है। इसमें अगूढ़ व्यंग्य उपादान लक्षणा होती है।

और भी—

"औरइ कुंद-कली अली देत गुहे बिन पात सु जानन लागी;
औरइ कोमल विद्रुम-पल्लव ओंठनि सों ठनि मानन लागी।
'बेनीप्रवीन' मृनाल विना द्दग औरइ कौंल बखानन लागी;
आवत ही सिखई गुरु-जोबन ये उपमा उर आवन लागी।"

यहाँ 'सिखई गुरु-जोबन' का मुख्यार्थ 'यौवन द्वारा शिक्षा देना' है। शिक्षा देने का कार्य चेतन का है, अतः अचेतन यौवन द्वारा शिक्षा का कार्य असंभव होने से इस मुख्यार्थ

का बाध है। यह मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया गया है। अतः अत्यंततिरस्कृत वाच्य है, और व्यंग्यार्थ है 'यौवन के आने पर अंगों में स्वतः लावण्य का आ जाना'। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है, अतः अगूढ़ है। और भी—

गृह-वापिन[1] में अरविंदन के बन ये सजनी! विकसाने लगे;
चहुँ ओर मधुव्रत वृंद वहाँ मकरंद-लुभे मँडराने लगे।
तुव आनन की छवि चंदमुखी! तजि चंद अबै पियराने लगे;
रवि हू उदयाचल-चुंबि भए लखु री यह कैसे सुहाने लगे।

यहाँ सूर्य-बिंब द्वारा उदयाद्रि का चुंबन किया जाना मुख्यार्थ है। व्यंग्यार्थ है प्रभात का हो जाना। सूर्य द्वारा चुंबन असंभव होने से वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'उदयाचल के साथ सूर्य का संयोग होना' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, अतः अत्यंततिरस्कृत वाच्य है। और व्यंग्यार्थ 'प्रभात का होना' वाच्यार्थ के समान स्पष्ट बोध होता है, अतः अगूढ़ है। ऊपर के सभी उदाहरण लक्षणा-मूला के हैं।

"केलि-कला की कलानि कों केलि रची 'रस रासि' सची मुख थाती;
अंगन अंग समोय रही कछु सोइ रही रस-आसव-माती।
ऐसे में आय गयो है अचानक कंज-पराग-भरयो[2] उतपाती;
प्रीतम के हिय लागी तऊ दहिं सीरे समीर जराई दी छाती।"

---

1 घर में बने हुए तालाबों में। 2 कमलों की रज से भरा हुआ।

यहाँ भी प्रभात का होना व्यंग्यार्थ है, किंतु 'कंज-पराग-भर्‌यो' 'सीरे समीर' के कथन से प्रभात का होना स्पष्ट प्रतीत नहीं होता—उसकी प्रतीति विचार करने से ही होती है। अतः गूढ़-व्यंग्य होने से यहाँ ध्वनि है। अगूढ़ से गूढ़ व्यंग्य में यही विशेषता है।

## अर्थ-शक्ति-मूलक अगूढ़ व्यंग्य

हूआ था फणि-पाश१-बंधन यहाँ, द्रोणाद्रि लाया यहाँ;
तेरे देवर२ के लिये अयि प्रिये! ला मारुती३ ही वहाँ।
सौमित्री-शर से सुरेंद्र-जित भी स्वर्गस्थ हूआ यहीं;
कीया था दशकंठ का वध यहीं देखो किसी ने कहीं।
(राजशेखर की बालरामायण से अनुवादित)

विमान पर बैठकर अयोध्या को लौटते समय विजयी श्री-रघुनाथजी की जनकनंदिनी के प्रति यह उक्ति है। चौथे पाद का वाच्यार्थ है—'रावण का वध किसी ने यहीं कहीं किया था'। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि—'हमने किया था'। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है, इसलिये अगूढ़ है। जिस प्रकार अभिधा-मूला अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि में वस्तु से वस्तु-रूप गूढ़ व्यंग्य होता है, उसी प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु-रूप अगूढ़ व्यंग्य है। 'किसी ने' के स्थान पर 'उसका भी' कर देने

१ नाग-पाश। २ लक्ष्मणजी के लिये। ३ हनूमानजी।

पर 'ध्वनि' हो जाती है। क्योंकि 'उसका भी' पद का प्रयोग रावण के लिये किया जाने से रावण का वध करनेवाले श्रीरामचंद्रजी की गूढ़-व्यंग्य द्वारा प्रतीति होती है। और भी—

"द्रोन कहै भृकुटी करि बंक भए सुत कायर मंगल गावैं;
राज-सभा बिच नाहर रूप रु काम परे पर स्यार कहावैं।
क्यूँ तुमसे नृप पूत दुसासन! गाल बजाइ कै वीरता पावैं;
सात्यकी तें बचे जन्म भयो नयो सूप बजावै कि थार बजावैं।"

( पांडवयशेंदुचंद्रिका )

सात्यकी से पराजित दुश्शासन के प्रति द्रोणाचार्य के ये वाक्य हैं। 'सात्यकि से पराजित होकर तुझे सकुशल आया हुआ देखकर हम तेरा नया जन्म हुआ समझते हैं। इस नए जन्म के हर्ष में सूप बजावैं या थाली।' यहाँ जो यह व्यंग्य है कि 'तुझे कन्या समझें या पुरुष?' यह वाच्य के समान स्पष्ट है; क्योंकि पुत्र-जन्म के समय थाली और कन्या-जन्म के समय सूप बजाने की लोक-प्रसिद्ध प्रथा है।

'अगूढ़-व्यंग्य'-शब्द-शक्ति-मूलक वस्तु रूप और अलंकार रूप नहीं हो सकता, और न असंलक्ष्यक्रम ही हो सकता है, क्योंकि शब्द-शक्ति-मूलक अर्थांतर ( व्यंग्य ) की प्रतीति सहसा नहीं हो सकती, अतः वह गूढ़ व्यंग्य ही होता है। असंलक्ष्य-क्रम में विभावादिकों द्वारा 'व्यंग्य' की विलंब से प्रतीति होती है, अतः वहाँ भी व्यंग्य 'गूढ़' रहता है।

# ( २ ) अपरांग व्यंग्य

**जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अंग हो जाता है, उसे अपरांग व्यंग्य कहते हैं।**

अर्थात् रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य; जहाँ रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अथवा वाच्यार्थ के अंग हो जाते हैं, वहाँ उन्हें अपरांग व्यंग्य कहते हैं।

जैसे शरीर के अंग हाथ-पैर आदि होते हैं, और कपड़े का अंग सूत, इस प्रकार के अंगों से यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'अंग' का अर्थ है 'अपने संयोग से अपने अंगी को ( वाच्यार्थ आदि को ) उद्दीपन करना, जैसे अग्नि को घृत आदि उद्दीपन करते हैं।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के प्रकरण में रस, भाव आदि को ध्वनि के भेद बता आए हैं। यहाँ इनको गुणीभूत व्यंग्य बताने का कारण यह है कि वहाँ ये प्रधान व्यंग्य होकर ध्वनित होते हैं; अर्थात अलंकार्य रूप ( दूसरे से शोभायमान होनेवाले ) होते हैं। इसलिये वहाँ इनकी ध्वनि संज्ञा है। यहाँ ये गौण ( अप्रधान ) होते हैं—अपरांग ( दूसरे के अंग ) होते हैं, अर्थात् अलंकार ( दूसरे को शोभित करनेवाले ) होते हैं; इसलिये गुणीभूत व्यंग्य कहे जाते हैं।

यह प्रश्न होता है कि जब निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव भी रस के अंग हैं, और रस के शोभाकारक हैं, फिर उन्हें अलंकार क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर यह है कि जैसे शरीर के हाथ-पैर आदि अवयव, यद्यपि शरीर की शोभा करते हैं, पर उन्हें अलंकार नहीं कहा जाता, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव यद्यपि रस के अवयव हैं—उन्हीं से रस की सिद्धि होती है—पर अलंकार नहीं कहे जाते।

## रस में रस की अपरांगता

जो रस गौण होकर जहाँ गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है, वहाँ उस रस के स्थायीभाव को ही समझना चाहिए। रस किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता। उदाहरण—

उरु-जघनन सपरस करन कुच न विमर्दनहार ;
हा ! यह पिय-कर है वही ! नीवी खोलनवार ।

( महाभारत स्त्रीपर्व, अ० २४–१६ से अनुवादित )

भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को अपने हाथ में लेकर उसकी स्त्री यह कारुणिक क्रंदन कर रही है। 'यह' पद हाथ की वर्तमान दशा को सूचित करता है। और 'वही' पद पहले की सजीव अवस्था की उत्कृष्ट दशा का स्मरण कराता है। अर्थात् इस समय जो हाथ अनाथ की भाँति रण-भूमि की मिट्टी से मलिन और जिसको खाने के लिये गिद्ध दृष्टि डाल रहे हैं, 'यह' वही हाथ है, जो पहले शत्रुओं का गर्व चूर्ण करने में

समर्थ था, शरणागतों को अभय देनेवाला और काम के रहस्यों का मर्मज्ञ था। यहाँ स्मरण किया गया शृंगार-रस, करुण-रस को पुष्ट कर रहा है; अतः करुण का अंग हो जाने से अपरांग शृंगार है। शृंगार करुण का अंग हो गया है, अतः असंलक्ष्य क्रम का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अंग है।

भाव, रसाभास और भावाभास आदि किसी का जब रस अंग हो जाता है, तब यह (रस का संबंधी हो जाने के कारण) 'रसवत्' अलंकार कहा जाता है।

## भाव में रस की अपरांगता

इच्छा मेरे न धन-जन या काम भोगादिकों की,
होते हैं ये सुखद न सदा कर्म-आधीन जो कि।
है तेरे से सविनय यही प्रार्थना मातु! मेरी,
गंगे! पादांबुज-युगल की दीजिए भक्ति तेरी।

पहले दोनो चरणों में वैराग्य का वर्णन होने से शांत रस की व्यंजना है। उत्तरार्द्ध में श्रीगंगाजी के विषय में जो देव-विषयक रति—भक्ति-भाव—की व्यंजना है, उसको शांत रस की व्यंजना पुष्ट कर रही है। इसलिये यहाँ शांत रस देव-विषयक रति-भाव का अंग हो गया है। यह भाव में रस की अपरांगता है।

## भाव में भाव की अपरांगता

जब एक भाव किसी दूसरे भाव का अंग हो जाता है तब उसे, अत्यंत प्रिय हो जाने के कारण, 'प्रेयस्' अलंकार कहते हैं।

जाते ऊपर को अहो ! उतर के नीचे जहाँ से कृती,
है पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।
स्वर्गारोहण के सदैव इनके हैं मार्ग कैसे नए,
देखो ! भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किए !

यहाँ स्वर्ग-मार्ग की विचित्रता का जो वर्णन किया गया है, उसमें 'विस्मय' भाव है। वह गंगा-विषयक रति-भाव का अंग है, अतः यहाँ एक भाव दूसरे भाव का अंग है।

और भी—

रुधिर-लिप्त-वसना सिथिल खुले केस दुति-हीन ;
रजवति युवति समान नृप ! तू रिपु-सेना कीन।
( हरिवंश से अनुवादित )

यहाँ रजस्वला की अवस्था के वर्णन में ग्लानि-भाव की व्यंजना है। यह, शत्रु-सेना की तादृश अवस्था में जो ग्लानि एवं त्रास भाव की व्यंजना है, उसका अंग है। क्योंकि रजस्वला की उपमा से, शत्रु-सेना में जो ग्लानि और त्रास की व्यंजना होती है, उसकी पुष्टि होती है। और, ये ग्लानि एवं त्रास-भाव दोनो राज-विषयक रति-भाव के अंग हैं—इनके द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष ध्वनित होता है।

## रसाभास की अपरांगता

इसे उर्जस्वी अलंकार कहते हैं।

बलि बन फिरत सुछंद नृप ! तुव रिपु-रमनीन सों ;
करतु विलास पुलिंद तजि निज प्रिय वनितान कों।

यहाँ उभय-निष्ठ रति नहीं। राजा की रिपु-रमणियों का प्रेम भीलों में नहीं है, भीलों का (पुलिंदों का) ही प्रेम उन रमणियों में है। भीलों का प्रेम राज-रमणियों में होना अनुचित है, अतः रसाभास है। यह रसाभास कवि की राज-विषयक रति-भाव का अंग है, क्योंकि इस वर्णन से राजा की प्रशंसा का उत्कर्ष होता है, इसलिये भाव का रसाभाव अंग है।

## भावाभास की अपरांगता

इसे भी उर्जस्वी अलंकार कहते हैं।

सफल जनम निज हम गिन्यो रन तुव दरसन पाय ;
यों अरि नृप हू कहत तुहि जस फैल्यो भुवि माय।

विजयी राजा को शत्रुओं द्वारा प्रशंसा को जाने में जो राज-विषयक रति-भाव है वह भावाभास है, क्योंकि विजित शत्रु द्वारा की गई विजयी राजा की चाटुकारी में प्रशंसा का आभास-मात्र है। यह भावाभास कवि द्वारा की हुई राजा की प्रशंसा का उत्कर्षक है, अतः यहाँ भावाभास राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

इसी प्रकार—

"भौन भरे सिगरे व्रज सौंह सराहत तेरेई सील सुभाइन ;
छाती सिरात सुने सबकी चहुँ ओर ते चोप चढ़ी चितचाइन।
एरी बलाइ ल्यौं मेरी भट्ू ! सुनि तेरी हौं चेरी परौं इन पाइन ;
सौंतिहु की अँखियाँ सुख पावति वो मुख देखि सखी सुखदाइन।"

'सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति' में भावाभास है—नायिका विषयक सपत्नि का रति-भाव आभास-मात्र है। सखी द्वारा नायिका के शील की जो प्रशंसा की गई है, वह नायिका-विषयक सखी का रति-भाव है। और उक्त भावाभास इस रति-भाव का अंग है, क्योंकि इसके द्वारा नायिका के शील का उत्कर्ष सूचित होता है।

## भाव-शांति की अपरांगता

इसे 'समाहित' अलंकार कहते हैं।

गरजन अति तरजन करत रहे जु असिन घुमाय;
लखि तुहि रन उन अरिन को मद सब गयो विलाय।

यहाँ गर्व-भाव की शांति है। और यह भाव-शांति राजा के महत्त्व की उत्कर्षक है, अतः राज-विषयक रति-भाव का अंग है। यहाँ 'मद' का अर्थ गर्व नहीं, तलवार घुमाना आदि है; अतः 'मद'-शब्द से गर्व-संचारी का शब्द द्वारा कथन नहीं समझना चाहिए। और भी—

"तेरे वैरि-भूपति अनूप रति-मंदिर में,
सुंदरनि संग लै अनंग रस लीने हैं;
भनै 'उजियारे' विपरीत चढ़ घोर मौह,
भारे भए दया भूप कौतुक नवीने हैं।
वैनी मृगनैनी की परी है कंठ आइ ताहि,
तेरो वेग सुमरि सुभाइ चित चीने हैं;

छाँडि परजंक सैं मयंक-मुखी अंक तें सु,

भाजत ससंक तैं अतंक भय भीने हैं।"

यहाँ रति-भाव की शांति है, यह राजा के महत्त्व की उत्कर्षक है, अतः राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

## भावोदय की अपरांगता

इसे 'भावोदय' अलंकार कहते हैं।

"बाजि गजराज सिवराज सेन साजत ही,

दिल्ली दलगीर दसा दीरघ दुखन की;

तनिया न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,

घामैं घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।

'भूषन' भनत पति-बाँह बहियाँ न तेऊ,

छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन[1] की;

बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन[2] पर,

लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।"

यहाँ शिवाजी की सेना के सजने पर यवन-रमणियों में त्रास-भाव का उदय ध्वनित होता है। यह भावोदय कविराज भूषण की की हुई शिवाजी की स्तुति का पोषक है, अतः राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

---

[1] रूखों (वृक्षों) की छाया। [2] अलि (भौंरे) जैसे कमलों पर मँडराते हैं, उसी प्रकार कानों की बालियाँ मुख पर गिर रही हैं।

## भाव-संधि की अपरांगता

इसे 'भाव-संधि' अलंकार कहते हैं।

हूत जात सहे न अहो ! लखिकै मृदुगात महातप-ताप तए;
गिरिजा-मुख की प्रिय बातन हू सों अघात न है अति भात हिए।
छल-वेष-हटावन कों जो त्वरा अरु शैथिल सों अभियुक्त भए;
वह शंकर या निज किंकर के हरिए भव-दुःख भयंकर ए।

तप करती हुई पार्वतीजी को छलने के लिये ब्रह्मचारी के वेष में गए हुए श्रीमहादेवजी की यह स्तुति है। "कठोर तप के कारण पार्वतीजी के अंगों को क्षीण होते हुए देखकर उन्हें वर देने के लिये अपना कपट-वेष छोड़ने की जिन्हें जल्दी लगी हुई है; और पार्वतीजी के साथ (कपट-वेष में) बातें हो रही हैं, वह आनंद भी छोड़ना नहीं चाहते, इसलिये उस कपट-वेष को छोड़ने को भी जिनका मन नहीं मानता; ऐसी अवस्था में फँसे हुए त्वरा और शैथिल्य भावों से अभियुक्त श्रीशंकर मुझ किंकर के सांसारिक दुखों को हरण करें।" यहाँ 'त्वरा' में आवेग और 'शैथिल्य' में धृति इन दोनो भावों की जो संधि है वह श्रीशंकर-विषयक रति (भक्ति) भाव का अंग है। यद्यपि आवेग और धैर्य परस्पर विरोधी हैं, किंतु यहाँ समान बल होने से एक से दूसरे का उपमर्दन नहीं है।

## भाव-शबलता की अपरांगता

इसे भाव-शबलता अलंकार कहते हैं।

पट देहु लला ! करि जोरि कहैं बरजोरी भला न इती पकरो ;
हम जाय पुकारहिंगी नृपसों बढ़ि जाइगो नाहक ही झगरो ।
लखि लोग कहा कहिहैं? समुझो ! ब्रज-गोरिनसों न अनीति करो ;
हँसि वीर बुलायके चीर दिए यदुवीर वही भव-भीर हरो ।

यहाँ 'करजोरि कहैं' में दीनता, 'बरजोरी' में असूया, 'जाय पुकारहिंगी' में गर्व, 'बढ़ि जाइगो झगरो' में स्मृति, 'लखि लोग' में व्रीड़ा, 'कहा कहिहैं' में वितर्क, और 'अनीति न करो' में विबोध भाव है। इन सब भावों का एक साथ प्रतीत होना भाव-शवलता है। यहाँ यह भाव-शबलता श्रीकृष्ण-विषयक रति-भाव का अंग है। अतः यहाँ भाव की शवलता अपरांग है।

कुछ ग्रंथों में इन रसवत् आदि अलंकारों को अलंकार-प्रकरण में लिखा है ; पर वास्तव में ये गुणीभूतव्यंग्य ही हैं। इनमें केवल नाम-मात्र को ही अलंकारता है, अतएव इसी प्रकरण में लिखना उचित है।

'उरुजघनन सपरसकरन' ( पृष्ठ ३३६ ) उदाहरण में यह शंका हो सकती है कि जब वहाँ प्रकरणगत करुण-रस की प्रधानता संभव है[1], तब उसे ध्वनि न मानकर गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा तो कोई भी विषय नहीं, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में एक के साथ दूसरे का संकर या संसृष्टी रूप से मिलाव न हो।

---

१ क्योंकि अपने मृतक पति के शोक में उसकी पत्नि का क्रंदन है।

अर्थात् ध्वनि में गुणीभूत व्यंग्य का और गुणीभूत व्यंग्य में ध्वनि का मिश्रण प्रायः रहता ही है। किंतु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् जहाँ जिसकी प्रधानता होती है—जिसमें अधिक चमत्कार होता है—उसी के नाम का व्यवहार हुआ करता है। अतएव उक्त उदाहरण में शृंगार-रस की गौणता ही प्रधान है, क्योंकि उसी में अधिक चमत्कार है। इसलिये करुण-रस न मानकर शृंगार-रस की गौणता के कारण गुणीभूत व्यंग्य माना गया है।

## शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्य क्रम का वाच्यार्थ के अंगभूत होना

कीन्हों[१] मैं भ्रमन जनथानन त्यों कानन मैं,
कनक-मृग-तृष्णा सों मति को भ्रमाई है;
बोल्यो वार-वार मुख वैदेही पुकार धार—
तेती वार आँखन सों अश्रु को ढराई है।
कान लगे ताने ता कलंक।भरता के वान,
धीरज न छाँड़ि सारी घटना घटाई है;
पाई है अवश्य अविराम तासों राम ताकों,
जानकी हू आई पै न हाथ वहाँ पाई है।

निराशा को प्राप्त होकर किसी राज-सेवक की यह उक्ति है।

---

१ जिस 'जनस्थाने भ्रांत' पद्य का यह अनुवाद है, वह भट्ट वाचस्पति के नाम से कविकंठाभरण में है।

'मैंने रामता—श्रीरामचंद्र के समान कर्म करके उनकी समानता—तो अवश्य प्राप्त कर ली, किंतु उन्होंने जिन कामों को करके जानकीजी को प्राप्त किया था, यद्यपि मैंने भी उन कामों को किया, पर मुझे वे (सीताजी) कहीं न पाईं'। यहाँ 'जानकी' और 'पाई' पदों के शब्द-शक्ति द्वारा दो अर्थ होते हैं। दूसरा अर्थ यह है कि 'मेरे जान को आई अर्थात् भटकते-भटकते प्राणों तक की नौबत आ गई, पर कहीं एक पाई भी हाथ न आई।' ऊपर के तीनो पदों में वही श्रीरामचंद्र के कार्यों की श्लिष्ट पदों द्वारा समानता दिखाई गई है। अर्थात् श्रीरामचंद्रजी ने कनक-मृग की तृष्णा से जनस्थान नाम के कानन में (वन में) भ्रमण किया था, मैं भी जन अर्थात् लोगों के स्थानों में और जंगलों में सुवर्ण की अर्थात् धन की मृग-तृष्णा से भटकता फिरा। उन्होंने वैदेही का (सीताजी का) नाम कह-कहकर आँखों से अश्रुपात छुटाए थे, मैंने भी वै-देही अर्थात् 'ज़रूर दो' 'कुछ तो ज़रूर दो' इस प्रकार कह-कहकर दुःख के आँसू बार-बार बहाए। उन्होंने लंका के भर्ता (स्वामी) रावण के ऊपर कान तक तानकर बाण चलाए थे, और धैर्य से बहुत-सी युद्ध की रचना रची थी, मैंने भी भर्ता के (स्वामी के) ताने अर्थात् वचनों के बाण सुने, जो मेरे लिये कलंक रूप थे। और ये घटनाएँ धैर्य से सहता रहा, किंतु जिसके लिये उन्होंने ये कार्य किए थे, वह जानकी उनको तो मिल गई, पर हाय! मैं यों ही रहा! पाई भी कहीं हाथ न आई।

यहाँ 'जनथानन' इत्यादि शब्दों के दो अर्थ होने के कारण श्रीरामचंद्र का सादृश्य ( अर्थात् उपमा ) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन ध्वनि द्वारा वक्ता में प्रतीत होता है, इसलिये यह प्रधान व्यंग्य हो सकता था, किंतु शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से प्रतीत होनेवाला यह सादृश्य चौथे पाद के 'रामता पाई' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया। अतः यह वाच्य हो गया—छिपा हुआ व्यंग्य नहीं रहा। अर्थात् ऊपरवाले तीनो पादों में जो-जो व्यंग्यार्थ है—दूसरे अर्थ प्रतीत होते हैं—वे वाच्यार्थ के पोषक हो गए, अतः वाच्यार्थ का अंग हो जाने से वह व्यंग्यार्थ प्रधानता से गिरकर गुणीभूत व्यंग्य हो गया है। यह शब्द-शक्ति-मूलक इसलिये है कि 'जनथान', 'कनक-मृग-तृष्णा' और 'वैदेही' आदि पदों के स्थान पर इसी अर्थ के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। 'संल-च्यक्रम व्यंग्य अनुरणन' इसलिये है कि श्रीरामचंद्र-विषयक जो वाक्यार्थ है, उसके पश्चात् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। और, यहाँ शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन रूप जो श्रीरामचंद्र का उपमान भाव और वक्ता का उपमेय भाव अर्थात् व्यंग्य उपमा है, वह व्यंग्य 'रामता पाई' इस वाच्य का अंग होने से अपरांग गुणीभूत व्यंग्य है, न कि वाच्यसिद्ध्यंग। क्योंकि 'रामता पाई' इस वाच्यार्थ की सिद्धि 'जनस्थान-भ्रमण' आदि विशेषण रूप वाच्यार्थ से ही हो जाती है—उसके लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं। 'वाच्य सिद्ध्यंग'

में तो व्यंग्यार्थ के विना वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती है, जैसा कि वाच्यसिद्ध्यंग के उदाहरणों में आगे स्पष्ट किया जायगा।

## अर्थ-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम का वाच्य के अंग-भूत होना

विरह-विकल नलिनी निकट आय अनत रहि रात ;
पाद-पतन सों जतन करि अब रवि इहिं विकसात।

अनुनय के विना ही मान छोड़ देनेवाली नायिका से सखी की यह उक्ति है। हे सखि! देख, सारी रात अन्यत्र रहकर, प्रभात में विरह-व्याकुला कमलिनी के निकट आकर, सूर्य अब पाद-पतन से (पैरों में गिरकर या श्लेषार्थ से अपनी किरणों द्वारा) इसे विकसित कर रहे हैं (प्रफुल्लित कर रहे हैं या मना रहे हैं)।

यहाँ सूर्य और कमलिनी का वृत्तांत वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से नायक और नायिका का जो वृत्तांत प्रतीत होता है, वह अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ है। कवि ने यह वर्णन सूर्य-कमलिनी का किया है, पर इसके द्वारा नायक और नायिका के शृंगार-रस का भी आस्वादन होता है; अतएव यहाँ इस व्यंग्यार्थ से उक्त वाच्यार्थ का उत्कर्ष होता है। शब्द बदल देने पर भी इस व्यंग्यार्थ की (नायक-नायिका-वृत्तांत की) प्रतीति हो सकती है, इसलिये अर्थ-शक्ति-मूलक है। यह सूर्य-कमलिनी का वृत्तांत जो वाच्यार्थ है, वह

प्राकरणिक है । इस वाच्यार्थ द्वारा प्रसिद्धि-वश जो अन्यासक्त नायक और नायिका का वृत्तांत समान व्यवहार से प्रतीत होता है, वह व्यंग्यार्थ अप्राकरणिक है, और उस ( व्यंग्यार्थ ) को प्रधानता नहीं—केवल वाच्यार्थ में आरोपित होकर वह वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ा देता है। इसलिये व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का अंग है, अर्थात् अपरांग-गुणीभूत व्यंग्य है। यहाँ भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रथम ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः वाच्यसिद्धयंग नहीं। 'समासोक्ति' अलंकार में यही अपरांग-गुणीभूत व्यंग्य होता है। क्योंकि समासोक्ति में वाच्य अर्थ की प्रधानता रहती है। और अपरांग व्यंग्य में अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का विषय इसे न समझना चाहिए।

## ( ३ ) वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य

**जो व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करनेवाला होता है, उसे वाच्यसिद्धयंग कहते हैं।**

जलद-भुजग-विष विषम अति विरहिन दुखद अपार ;
अरति अलस चित-भरम ह्वै करतु मरन तन छार।

अर्थात् मेघ-रूप भुजंग ( सर्प ) का विष अर्थात् जल ( विष का अर्थ जल भी है ) अत्यंत विषम है। वह वियोगियों को विषयों से विरक्त करनेवाला एवं उनके आलस्य, चित्त-भ्रम

और मरण का कारण है—शरीर को जला देता है। यहाँ मेघ को सर्प कहा है, पर यह तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक विष अर्थात् जल में विष (जहर) की व्यंजना नहीं होती है। 'जलद'-शब्द के समीप होने के कारण विष का अर्थ जल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है, और व्यंजना द्वारा विष का व्यंग्यार्थ जहर प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि होती है, अर्थात् व्यंग्यार्थ ही वाच्यार्थ को सिद्ध करता है। और भी—

"करत प्रकास सु दिसिन कों रही ज्योति अति जागि ;
है प्रताप तेरो नृपति ! वैरी - बंस - दवागि।"
(सभाप्रकाश)

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है। 'हे राजन्, सारी दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला तेरा प्रदीप्त यश शत्रुओं के वंश के लिये दावानल है'। यहाँ प्रताप को दावानल कहा गया है। जंगल में लगनेवाली अग्नि को दावानल कहते हैं; अतएव जब तक जंगल की तरह जलनेवाली कोई वस्तु न कही जाय, तब तक प्रताप को दावानल कहना सिद्ध नहीं होता। 'वंस' पद बाँस और कुल दोनो का वाचक है। उसका अर्थ 'वैरी'-शब्द की समीपता के कारण कुल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है। व्यंग्य से शत्रु-कुल में बाँस के जंगल की प्रतीति होती है, और इसके द्वारा प्रताप को दावानल कहना सिद्ध हो जाता है; अतः यह वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य है। 'अपरांग-व्यंग्य' में व्यंग्य द्वारा वाच्यार्थ को सिद्ध करने की

आवश्यकता नहीं रहती—वहाँ व्यंग्य, वाच्यार्थ का केवल उत्कर्षक होता है। यहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि करने के लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है; यही इन दोनो में भेद है।

## (४) अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य अर्थ स्फुट रूप से—अच्छी तरह से—प्रतीत नहीं होता है, उसे अस्फुट व्यंग्य कहते हैं।

अन देखे देखन चहैं देखें बिछुरन भीत;
देखे बिन, देखेहु पै तुमसों सुख नहिं मीत।

मित्र के प्रति किसी की उक्ति है—'जब आप नहीं दीखते हैं—दूर रहते हैं—तब तो आपको देखने की उत्कट इच्छा बनी रहती है, इसलिये सुख नहीं मिलता। जब आप दृष्टिगत रहते हैं—समीप रहते हैं—तब पुनः वियोग होने का भय रहता है। अतएव न तो आपको बिना देखे ही सुख है, और न देखने पर ही'। यहाँ 'आप सदैव समीप ही रहिए' यह व्यंग्य है, किंतु इसकी प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है। अतः अस्फुट है। और भी—

"सालि सिंगार हुलास बिलास ध्वास तें पीवम-वास पधारी;
देह की दीपति ऐसी लसै जिहिं देखत दामिनि कोटिक वारी।

आगे ह्वै नाइकै आदरकै कर पै कर राखि लै आप मुरारी ;
भैंचकी हेरि हँसी बिलखी तिय भीतर भौन भयो रंग भारी।"

( कुलपति मिश्र का रस-रहस्य )

यहाँ 'भैंचक' और 'बिलखने' में क्या व्यंग्य है, सो प्रतीत नहीं होता। बहुत कठिनता से हर्ष के कारण किलकिंचित् भाव सूचित होता है, अतः अस्फुट है।

## ( ५ ) संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है या व्यंग्यार्थ में ? जहाँ ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है, उसे संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

ऊगत ही ससि उदधि ज्यों कछुइक धीरव छोर ;
त्रिनयन तव निरखन लगे उमा-वदन की ओर।

( कुमारसंभव से अनुवादित )

कामदेव द्वारा वसंत-ऋतु का आविर्भाव किया जाने पर पार्वतीजी के सम्मुख श्रीशिवजी की जो अवस्था हुई, उसका यह वर्णन है। 'श्रीशिवजी का पार्वती की तरफ़ देखना' वाच्यार्थ है और व्यंग्यार्थ है 'अन्य अभिलाषाएँ।' इन दोनो ही अर्थों में समान चमत्कार है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता है या वाच्यार्थ की ? यह संदेह-जनक है ; इसलिये संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य है।

## ( ६ ) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान होता है, उसे तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

विप्रन को अपराध नहिं करिबो ही कल्यानु;
जामदग्न्य यह मित्र पै दुर्मन ह्वैहि है जानु।

राक्षसों के उपद्रवों से क्रोधित परशुरामजी का रावण के पास भेजा हुआ यह संदेश है। 'ब्राह्मणों का अपराध ( तिरस्कार ) नहीं करने में ही तुम लोगों का कल्याण है। मैं जामदग्न्य—परशुराम—तुम्हारा मित्र हूँ, किंतु यदि तुम ब्राह्मणों पर आक्रमण करोगे तो हम दुर्मन हो जायँगे' यह वाच्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'मैं यदि तुम लोगों पर बिगड़ जाऊँगा, तो सारे राक्षस-कुल का सर्वनाश समझना।' यहाँ व्यंग्य और वाच्यार्थ दोनो प्रधान हैं—दोनो में समान चमत्कार है। अतः तुल्यप्राधान्य व्यंग्य है।

## ( ७ ) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

'काकु' द्वारा आक्षिप्त अर्थात् खिंचकर आया हुआ व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है।

'काकु' एक प्रकार की कंठ की ध्वनि होती है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कहने के साथ ही वाच्यार्थ के

विपरीत अर्थ में बदल जाता है। यह व्यंग्य गौण इसलिये है कि तत्काल सहज ही में जान लिया जाता है।

उदाहरण—

"जो हरि कों तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई ;
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई विभिचारिनि कामिनि कोई।
'सुंदर' ताहि न आदर जान फिरै विमुखी अपनी पति खोई ;
बूड़ मरै किन कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई ?"

'कहा जग जीवत है सठ सोई ?' यह काकु-उक्ति है। इसके कहने के साथ ही वह जीता नहीं है (जीता हुआ ही मरा है) यह व्यंग्यार्थ, जो वाच्यार्थ से विपरीत है, प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार—

अंध-सुत कौरवन सारे सत बंधुन कों,
ह्वैकै क्रुद्ध-मत्त कहा युद्ध में पछारौं ना ?
करिकै कबंध ताहि रंध्रसौं जु पीवे काज,
दुःसासन उर हू सों रक्त कों निकारौं ना।
मारौं ना सुयोधन हू विदारौं ना ऊरू कहा ?
मेरी वा प्रतिज्ञा हू की अवज्ञा विचारौं ना ?
करौ क्यों न संध पाँच ग्रामन प्रबंध रूप,
भूप वो तिहारो है न चारो हौं निवारौं ना ?

(वेणीसंहार-नाटक से अनुवादित)

कौरवों से पाँच गाँव लेकर संधि करने की बात सुनकर

सहदेव के प्रति कुपित भीमसेन की यह उक्ति है। वाच्यार्थ में तो कौरवों को न मारने के लिये और संधि करने के लिये कहा है। किंतु जिस भीमसेन ने दुर्योधनादि एक सौ कौरव भ्राताओं को मारने की, दुश्शासन के रुधिर पीने की और दुर्योधन की उरू भंग करने की प्रतिज्ञा की है, उसके मुख से, क्रोध के आवेश में कंठ की एक विशेष ध्वनि द्वारा, कहे हुए 'क्या मैं कौरव-बंधुओं को न मारूँ' इत्यादि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ तत्काल यह व्यंग्यार्थ आक्षिप्त हो जाता है कि 'मैं कौरव-बंधुओं को अवश्य मारूँगा' इत्यादि। अतः यह काकाक्षिप्त व्यंग्य है।

पूर्वोक्त काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में भी 'काकु'-उक्ति के कारण ही व्यंग्य होता है। वहाँ उसे ध्वनि और यहाँ इसे गुणीभूत क्यों माना गया? इस विषय में पहले काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में लिखा जा चुका है[1]। काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ निषेधात्मक व्यंग्य तत्काल जान लिया जाता है, और वाक्य पूरा हो जाता है; उसके पश्चात् जहाँ कोई दूसरा व्यंग्यार्थ नहीं हो सकता वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। जहाँ काकु-उक्ति के प्रश्न का व्यंग्यार्थ रूप निषेध सूचित हो जाने के पश्चात् भी अन्य व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है और जो तत्काल प्रतीत नहीं हो सकती—विलंब से काव्य-मर्मज्ञों को ही प्रतीत होती है—वहाँ काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य होता है।

---

१ देखो पृष्ठ ६६।

## ( ८ ) असुंदर व्यंग्य

व्यंग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ चमत्कारक होता है, उसे असुंदर व्यंग्य कहते हैं।

उड़े विहग वन-कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल,
सिथलित तन विकलित भई गृह-कारज-रत बाल।

'समीप के वन की कुंज में पक्षियों के उड़ने के शब्द सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका व्याकुल हो गई'। इस वाच्यार्थ में 'संकेत किया हुआ प्रेमी कुंज में पहुँच गया और नायिका न जा सकी' यह व्यंग्यार्थ है। वाच्यार्थ में पक्षियों के शब्द श्रवण-मात्र से सारे अंगों में शिथिलता और विकलता हो जाने में जैसा चमत्कार है वैसा व्यंग्यार्थ में नहीं, इसलिये असुंदर व्यंग्य है।

## गुणीभूत व्यंग्य के भेदों की संख्या

गुणीभूत व्यंग्य के इन प्रधान आठ भेदों के, ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के ९ भेदों को, जिनमें केवल वस्तु से अलंकार व्यंग्य होता है, छोड़कर, शेष ४२ भेद ध्वनि के समान ही होते हैं। अर्थात्—

१ स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य—वस्तुगत, वाक्यगत और प्रबंधगत।

२ कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य—पद, वाक्य और प्रबंधगत।

३ कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य—पद, वाक्य और प्रबंधगत।

ये नौ भेद गुणीभूत व्यंग्य के नहीं हो सकते। प्रथम तो, वस्तु रूप वाच्यार्थ से वाच्यार्थ का अलंकार स्वतः ही अधिक चमत्कारक होता है, क्योंकि अलंकार की योजना ही इसलिये की जाती है। दूसरे, व्यंग्य होने पर अलंकार का चमत्कार और भी बढ़ जाता है। अतएव व्यंग्य-अलंकार गुणीभूत नहीं हो सकता। महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

'व्यंजंते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा;
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।'

(ध्वन्यालोक २।२२)

गुणीभूत व्यंग्य के जो ४२ शुद्ध भेद ऊपर लिखे हैं, वे अगूढ़ आदि आठो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य के ३३६ शुद्ध भेद होते हैं। ३३६ शुद्ध भेदों के, परस्पर में एक दूसरे से मिश्रित होने पर, (३३६ से ३३६ गुणन करने पर) १,१२,८९६ भेद होते हैं। ये १,१२,८९६ भेद तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टी भेद से (चार के गुणन् से) ४,५१,५८४ संकीर्ण (मिश्रित) भेद होते हैं। और इनमें ३३६ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ४,५१,९२० गुणीभूत व्यंग्य के भेद होते हैं।

सजातीय सजातीय भेद से अर्थात् ध्वनि से ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य से गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार से अलंकार जिस प्रकार मिश्रित होकर भेद उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार विजातीय

विजातीय ( जैसे ध्वनि से गुणीभूत व्यंग्य एवं अलंकार के ) भेदों से मिलकर असंख्य मिश्रित भेद उत्पन्न करते हैं।

ध्वनि से ध्वनि के सजातीय मिश्रण के उदाहरण, ध्वनि-प्रकरण में, संकर और संसृष्टी के दिखाए गए हैं।

ध्वनि के साथ गुणीभूत व्यंग्य के मिश्रण (संकर) का उदाहरण 'उरु जघनन सपरस करन' ( पृष्ठ २३६ ) है। उसमें करुण-रस की प्रधानता को लेकर ध्वनि है, और शृंगार-रस की गौणता को लेकर गुणीभूत व्यंग्य है, और इनका अंगांगी भाव संकर है।

ध्वनि के साथ अलंकार के मिश्रण का उदाहरण 'करके तल सों जु कपोलन को...' ( पृष्ठ २६२ ) है। उसमें श्लेष, रूपक और व्यतिरेक ये तीनो अलंकार विप्रलंभ-शृंगार के अंग होने के कारण असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और अलंकारों का अंगांगी भाव संकर है।

गुणीभूत व्यंग्य के साथ अलंकार के मिश्रण का उदाहरण—

"बैठी जहाँ गुरुनारि समाज में गेह के काज में है वस प्यारी;
देख्यो तहाँ बनते चलि आवत नंदकुमार कुमार विहारी।
लीन्हें सखी कर-कंज में मंजुल मंजरी-वंजुल कुंज चिन्हारी;
चंदमुखी मुखचंद की कांति सों भोर के चंद-सी मंद निहारी।"

( कुमारमणि भट्ट का रसरसाल )

'कुंज में मिलने का संकेत करके नायिका वहाँ न जा सकी' यहाँ यह व्यंग्यार्थ है। इस व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है। अतः गुणीभूत व्यंग्य है। नायिका के मुख की म्लानता को

प्रभात के चंद्रमा की जो उपमा दी गई है, उससे उक्त व्यंग्यार्थ की पुष्टि होती है। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य का उपमा अलंकार अंग हो जाने से गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार का अंगांगी भाव संकर है।

इसी प्रकार अन्य मिश्रित भेदों के उदाहरण होते हैं। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' आदि अलंकारों में वाचक शब्द के अभाव में जो उपमा आदि अलंकार व्यंग्य रहते हैं, वे गुणीभूत व्यंग्य होते हैं। वाच्यार्थ अलंकारों में जो अलंकार 'व्यंग्य' रूप होते हैं (जिनकी ध्वनि निकलती है और जिन्हें ध्वनि-प्रकरण में दिखाया जा चुका है), वे अलंकार प्रधानता से ध्वनित होते हैं, अतः उन्हें ध्वनि का भेद माना गया है। किंतु दीपक, तुल्ययोगिता आदि में जो उपमा आदि व्यंग्य होते हैं, वे प्रधानता से ध्वनित नहीं होते। इनमें (दीपक आदि में) जो उपमा आदि व्यंग्यार्थ में रहते हैं, उनके ज्ञान के बिना 'दीपक' आदि अलंकारों की रचना के चमत्कार में ही आस्वाद आ जाता है—व्यंग्य रूप से रहनेवाले उपमादि तक दूर जाने की आवश्यकता नहीं रहती, कवि का तात्पर्य वहाँ व्यंग्यार्थ में नहीं रहता। ध्वनिकार ने कहा है—

'अलंकारांतरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ;  
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्यतः।'

(ध्वन्यालोक २। ३०)

अर्थात् वाच्यार्थ के अलंकार में अन्य अलंकार की प्रतीति होने पर भी जहाँ कवि का तात्पर्य उसमें (अन्य अलंकार की प्रतीत में) नहीं होता वहाँ ध्वनि नहीं होती।

जो व्यंग्य शब्द द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है, वह भी गुणीभूत हो जाता है। शब्द द्वारा स्पष्ट कर देने से व्यंग्यार्थ की रमणीयता कम हो जाती है। जैसे—

गोपराग-हृत दृष्टि सों कछुइ न सकी निहारु;
स्खलित भई हौं नाथ! अब पतितन लेहु उधारु।
पतितन लेहु उधारु! देहु अवलंबन केसव!
सरन आप ही एक खिन्न सब अबलन को अब।
यों सलेश कहि वचन सुखद मृदु सरस राग-भृत;
मुदित किए नँदलाल, बाल दृग-गोपराग-हृत।

श्रीकृष्ण के समीप गई हुई किसी गोपी को दूर खड़े हुए श्रीकृष्ण में अन्य गोप का भ्रम हो गया। जब वह समीप पहुँची, तब उस गोपी की श्रीनंदनंदन के प्रति यह उक्ति है—'हे केशव, गो-पराग अर्थात् गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूलि से, दृष्टि धुँधली हो जाने से मैं स्पष्ट नहीं देख सकी और मार्ग भूल गई हूँ। मुझ भटकती हुई को आप सहारा दीजिए। आप ही दुर्बलों के शरण्य हैं'। इस प्रकार श्लेष से मधुर वाक्य कहकर ब्रजांगना ने श्रीनंदनंदन को प्रसन्न कर लिया। यह वाच्यार्थ है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि 'मेरी दृष्टि गोप-राग अर्थात् किसी अन्य गोप के राग से हृत (भ्रांत) हो जाने से मैं

कुछ देख न सकी—आपको पहचान न सकी—इसलिये मैं स्खलित हो गई हूँ—मैंने भूल की है—अब आपके चरणों में गिरी हुई हूँ। आप मुझे स्वीकार करें। खिन्न अबलाओं के (काम-तापित रमणियों के) आप ही एकमात्र शरण्य हैं।' इस व्यंग्यार्थ को कवि ने 'सलेश' पद द्वारा प्रकट कर दिया है। अतः व्यंग्य की रमणीयता कम हो जाने से वह गुणीभूत व्यंग्य हो गया है। यदि यहाँ 'सलेश' पद न होता, तो यह ध्वनि हो सकती थी।

## ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विषय-विभाजन

गुणीभूत होकर भी व्यंग्य रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से ध्वनि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ध्वनिकार ने कहा है—

"प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंगयोऽपि ध्वनिरूपताम्;
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।"

(ध्वन्यालोक ३। ४१)

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से गुणीभूत व्यंग्य को भी ध्वनि समझा जायगा, तो गुणीभूत व्यंग्य का कोई विषय ही नहीं रहेगा? उत्तर यह है कि ध्वनि या गुणीभूत का निर्णय या भेद इनकी प्रधानता पर ही निर्भर है। रसात्मक वर्णन में जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ उसकी ध्वनि संज्ञा होगी, और जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होगा, वहाँ वह गुणीभूत व्यंग्य ही कहा जायगा। कहा है—

'प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ;
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ।'

(ध्वन्यालोक ३ । ४०)

अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य, इन दोनो में जहाँ जिसका माना जाना युक्ति-युक्त हो—जिसमें अधिक चमत्कार हो—वहाँ उसी को मानना चाहिए। सर्वत्र ध्वनि नहीं होती।

जैसे—

फूलन को गजरा गुहि लाल ने प्यारी कों चाह्यो कराइबो धारन ;
टेरत में मुख ते निकस्यो तब भूलिके सौति को नाम अकारन।
हास हुलास गयो उड़ि भामिनि बोलि कछू न कियो जु उचारन ;
'लेखन भूमि लगी पद के नख और लगी अँसुवा दृग ढारन।

(किरातार्जुनीय से अनुवादित)

अथवा—

करिबे को सिंगार बिदा के समै हुलसाय हिये सजनी मिलि आई ;
पद-पंकज में मेंहँदी को रचाय सखी इक यों कहिकै मुसकाई।
'पिय सीस की चंदकला छुहिबो करै' आसिष ये है हमारो सदाई ;
मुख ते न कह्यो कछु पै गिरिजा मनि-माल को लै तिहिं ओर चलाई।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

तात्पर्य का विचार करने पर इन दोनो पद्यों में शृंगार-रस की व्यंजना है। क्योंकि यहाँ पहले पद्य में भाव-शांति और दूसरे पद्य में व्रीड़ा, अवहित्था, ईर्ष्या और गर्व-भाव ध्वनित होते हैं, अतः असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य ध्वनि है। किंतु 'बोल

कछू न कियो है उचारन' और 'मुख ते न कह्यो कछु' इन वाक्यों द्वारा भाव-शांति और व्रीड़ा आदि व्यंग्यार्थ भाव स्पष्ट हो गए हैं, अतएव उनकी ध्वनि संज्ञा न रहकर अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य प्रधान हो गया है।

इसी प्रकार जहाँ रसादि व्यंग्यार्थ केवल नगरी आदि के वर्णन के अंग हो जाते हैं, वहाँ भी गुणीभूत व्यंग्य ही समझना चाहिए। जैसे—

नीवी ग्रंथी-शिथलित जहाँ चीर विद्याधरों के—
खैंचे जाते चपल कर से काम-रागी-प्रियों के।
वे भोली ह्री-विवश, मणि के दीप चाहैं बुझाना,
हो जाता है विफल उनका चूर्ण मुट्ठी-चलाना।
(हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ संभोग-शृंगार अलकापुरी के वर्णन का अंग है; अतः गुणीभूत व्यंग्य है।

## व्यंजनाशक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यंजना-शक्ति के ही आश्रित है। किंतु मीमांसक आदि व्यंजना का मानना अनावश्यक बताते हैं—वे अभिधा और लक्षणा ही मानते हैं। इस गंभीर विषय पर ध्वन्यालोक और

काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना की गई है। व्यंजना-शक्ति के विरोधियों की सारी दलीलों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खंडन किया है। उसी को यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।

व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिये सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षित वाच्य के नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यंजना को निमूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधा के अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षित वाच्य ध्वनि में कुछ उपयोग ही नहीं होता। अविवक्षित वाच्य के अर्थांतर संक्रमित वाच्य में अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है; जैसे 'कदली-कदली ही जु है' इत्यादि में१। और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ सर्वथा ही छोड़ दिया जाता है; जैसे 'सुवरन फूलन की धरा' इत्यादि में२।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है, परंतु जब लक्षणा द्वारा ध्वन्यार्थ का प्रतिपादन हो सकता है, तब व्यंजना का आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है? हाँ, यह ध्वनि लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती है; किंतु लक्षणा तो

१ देखो पृष्ठ ८९। २ देखो पृष्ठ ८९।

केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिये लक्षणा की जाती है, उसका लक्षणा कदापि बोध नहीं करा सकती। जैसे—

'गंगा पर घर' उदाहरण में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसमें लक्षणा केवल 'गंगा'-शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है। जिस प्रयोजन के लिये (अपने निवास-स्थान में शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिये) इस वाक्य का प्रयोग किया है, वह लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता। अर्थात् लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ ही है और वह व्यंजना का व्यापार है। उस (प्रयोजन) का बोध केवल व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है[१]। यदि 'गंगा पर घर' वाक्य में उक्त प्रयोजन न माना जायगा, तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा नहीं हो सकती। और, अविवक्षित वाच्य ध्वनि के व्यंग्यार्थ का चमत्कार व्यंजना पर ही निर्भर है।

'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नहीं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का बाध नहीं होता, और वाच्यार्थ के बाध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती। हाँ, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि में होता है, क्योंकि वाच्यार्थ

---

१ देखो पृष्ठ ६०-६१।

का व्यंग्यार्थ व्यंजना द्वारा बोध होता है। अर्थ-शक्ति-मूलक भेदों में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती, और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिये एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है; और वह शक्ति व्यंजना के सिवा और कौन हो सकती है?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये व्यंजना के माने जाने में और भी बहुत-से कारण हैं—

## पर्याय शब्द

समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, किंतु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

जैसे—

सोचनीय अब द्वै भए मिलन कपाली हेत ;
कांतिमती वह ससिकला अरु तू कांति-निकेत।
(कुमारसंभव से अनुवादित)

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशंकर की यह उक्ति है। 'हे पार्वती, कपाली के (मुंडमाला धारण करनेवाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो—एक तो चंद्रमा की वह कांतिमयी कला, और दूसरी नेत्रानंद-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त

का व्यंग्यार्थ व्यंजना द्वारा बोध होता है। अर्थ-शक्ति-मूलक भेदों में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती, और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिये एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है; और वह शक्ति व्यंजना के सिवा और कौन हो सकती है ?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये व्यंजना के माने जाने में और भी बहुत-से कारण हैं—

## पर्याय शब्द

समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, किंतु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

जैसे—

सोचनीय अब द्वै भए मिलन कपाली हेत ;
कांतिमती वह ससिकला अरु तू कांति-निकेत।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशंकर की यह उक्ति है। 'हे पार्वती, कपाली के (मुंडमाला धारण करनेवाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो—एक तो चंद्रमा की वह कांतिमयी कला, और दूसरी नेत्रानंद-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त

हो गए हैं; अर्थात् पहले चंद्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जायँ, तो भी वाच्यार्थ तो वही रहेगा—शंकर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली'-शब्द के प्रयोग में जो 'अशुद्ध नर-कपाल धारण करनेवाला' कहकर श्रीशंकर का अपने को अस्पृश्य सूचित करना है, वह व्यंग्यार्थ व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है, वह पर्याय शब्द से सूचित नहीं हो सकेगा। यदि व्यंजना न मानी जायगी, तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो काव्य का महत्त्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जाता है।

प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि की वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कारण भी व्यंजना का माना जाना आवश्यक है। देखिए—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी को एक यही बोध होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया'—इसके सिवा दूसरा कोई वाच्यार्थ बोध नहीं हो सकता। किंतु व्यंग्यार्थ प्रकरणादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रकरण में सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ होगा 'शीघ्र धावा करो, यह मौक़ा अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रकरण में दूती यह वाक्य नायिका से कहेगी, तो इसका व्यंग्यार्थ होगा कि

अभिसार के लिये प्रस्तुत हो। वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में व्यंग्य होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है।' भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमें काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य में 'संध्यादि कर्म करने चाहिए' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति गृहस्थ के इस वाक्य में 'गौओं को घर में ले आओ' यह व्यंग्य होगा। भृत्यों के प्रति दूकानदार के इस वाक्य में 'बिक्री की वस्तुओं को समेटकर रक्खो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य में 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा; इत्यादि-इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण और वक्ता तथा बोद्धाओं की भिन्नता से एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

'अहो भगत निधरक विचर...' (देखो पृष्ठ ९१) इस पद्य में उस भक्त को निश्शंक आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधिरूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है, अतः व्यंग्यार्थ निषेध रूप है। 'कुच के तट चंदन छूट्यो सबै...' (देखो पृष्ठ ९३) इस पद्य में वाच्यार्थ निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि रूप है। इसी प्रकार—

पूछत हैं मतिमानन सों जन जे मति मत्सरता तें विहीन के ;
सेवन जोग बताओ नितंब गिरीन के हैं अथवा तरुनीन के ?
त्यों चित ध्याइवे जोग है जोग वा भोग-विलास कहो रमनीन के ?
यों तन लाइवे जोग बभूत है कै मृदु अंग हैं चंद-मुखीन के ?

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ संशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की, किंतु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शांत-रस की और शृंगारी वक्ता में शृंगार-रस की व्यंजना निश्चयात्मक होती है।

और—

दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न और;
अति सुकुमार सरीर में सहे जु छत हित-मोर।

यहाँ वाच्यार्थ स्तुति-रूप है, और व्यंग्यार्थ निंदा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यंजना को मानना पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यंग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है, अतः काल-भेद के कारण भी व्यंजना का मानना आवश्यक है।

वाच्यार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किंतु व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है; जैसा 'ध्वनि'-प्रकरण से स्पष्ट है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यंजना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ;
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।'
( ध्वन्यालोक उ०, १-७ )

अतः यह निमित्त-भेद भी व्यंजना का प्रतिपादन करता है। वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार ( आस्वादन का आनंद ) उत्पन्न होता है, अतः यह कार्य-भेद भी व्यंजना के मानने का एक कारण है।

और—

१प्रिया-अधर छत-युत निरखि किहिके होइ न रोष ;
बरजत हू स-मधुप कमल सूँघत भई स-दोष ।

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अधर पर क्षत दीख पड़ता था, और जिसे यह वाक्य कहा गया है। 'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं' इस व्यंग्य का विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन करने के लिये यह व्यंग्योक्ति है। 'मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही

---

१ उपपति द्वारा अपनी कांता के अधर को दष्ट देखकर, विदेश से आए हुए नायक के कुपित होने पर नायिका की चतुर सखी का, उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायक को सुनाते हुए, यह चातुर्य-गर्भित वाक्य है । हे सखि ! दंतक्षत-युक्त अपनी प्रिया के अधर को देखकर किसे रोष नहीं होता ? यह तेरा ही दोष है, जो मेरे रोकने पर भी तूने उस कमल को सूँघ ही तो लिया, जिसके भीतर भौंरा बैठा हुआ था, और उसने तेरे अधर पर व्रण कर दिया। अब अपने पति के कोप को सहन कर।

हूँ' यह जो दूसरा व्यंग्य है, उसका विषय पड़ोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खड़ी हुई पड़ोसिन को व्यंग्योक्ति से सूचन की गई है। और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नि है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यंजना का मानना परमावश्यक है। इसी प्रकार—

"मायके तें कब हौं कित ही निकसी न सदा घर ही महँ खेली ;
'वृंद' कहैं अब हौं मनभावती आइकै खेलि हैं संग सहेली ।
कालि ही कंटक वृच्छन के लगि कंटक अंग कहा गति मेली ;
हौं बरजौं चित के हित तें वन-कुंजन में जिन जाय अकेली ।"

ये नायिका की सखी के वाक्य हैं। यहाँ वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अंगों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पड़ते हैं। 'इसके अंगों में, वन की कुंजों में, काँटे लग गए हैं ( अर्थात् नख-क्षत नहीं है )'। इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिए—

जिस लक्षणावृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के संबंध आदि की अपेक्षा रखती है, किंतु अभिधा-मूला व्यंजना में—विवक्षितअन्यपर-वाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यंग्य-अर्थ प्रतीत होता है।

जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ अनेक प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं; जैसे—'राम हौं कठोर हिय भुवन प्रसिद्ध मैं तो......' ( पृष्ठ ३२४ ) में 'राम हौं' का 'अनेक दुःखों को सहन करनेवाला' लक्ष्यार्थ है।

और—

क्रूर निसाचर रावन ने निज दारुनता ही के जोग कियो वहि;
उच्च कुलोचित तेरे हू जोग प्रिये! रहिबो उत दुःखन को सहि।
पै रघुवंस कहाइ कै वीर कहाइ वृथा धनुवानन को गहि;
प्रानन सों रखि मोह या राम ने हा! कछु प्रेम के जोग कियो नहिं।

इसमें वियोगी श्रीरामचंद्रजी जनकनंदिनी को उद्देश्य करके कहते हैं—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नीचता के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म-पालन के कारण असह्य दुःख सहन कर रही है, वह भी उच्च कुलोत्पन्न तेरे योग्य ही है। किंतु अपने प्राणों से मोह रखनेवाले इस राम ने प्रेम का पालन नहीं किया'। वक्ता स्वयं राम है। अतः 'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्षणा द्वारा 'कायर' होता है। इसी प्रकार—

दसहु दिसिन जाको सुजस महत सात-सुर गातु;
तात वही यह राम है त्रिभुवन-मल्ल-विख्यातु।

( राघवानंद-नाटक से अनुवादित )

रावण के प्रति विभीषण की इस उक्ति में 'राम' पद का लक्ष्यार्थ है 'खर-दूषणादिकों का वध करनेवाला'।

जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। जैसे व्यंग्य के अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य, अत्यंततिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। फिर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही क्या है? अतएव व्यंजना का लक्ष्यार्थ से पृथक् मानना अनावश्यक है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ भी अनेक अवश्य हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ की तरह नियत (मर्यादित) रहता है। क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत संबंध नहीं होता, उसकी लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार लाक्षणिक शब्द भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य-अर्थ का नियत संबंधी होता है। जैसे 'गंगा पर घर' में गंगा शब्द के प्रवाह रूप वाच्य-अर्थ का नियत (नित्य)[1] संबंधी 'तट' है, अतः तट ही में गंगा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की तरह नियत-संबंध में होता है, पर व्यंग्य-अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-संबंध में, (२) अनियत-संबंध में, और (३)

---

१ प्रवाह के साथ तट का नित्य संबंध इसलिये है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सदैव संबंध रहता है।

संबंध-संबंध में होता है। जैसे—'हौं इत सोवत सास उत' (देखो, पृष्ठ ७१) में 'इच्छानुकूल विहार' रूप एक ही व्यंग्य है, दूसरा कोई व्यंग्य नहीं, इसलिये यहाँ व्यंग्यार्थ का वाक्य के साथ नियत संबंध है। 'प्रिया अधर-छत-युत निरखि...' (देखो, पृष्ठ ३७०) में विषय-भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं। इन व्यंग्यों का एक ही ज्ञाप्य या बोध्य नहीं है, पर भिन्न-भिन्न हैं, अतएव अनियत संबंध है। और—

> नाभि-कमल-थित[१] विधिहि लखि रति-विपरीत लजाय;
> ढकि दहिनो हरि-दृग कियो कमला तुरत उपाय।

'हरि' पद से दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता व्यंग्य से सूचित होती है, क्योंकि पुराणों में विष्णु भगवान् का दक्षिण नेत्र सूर्य-रूप और वाम नेत्र चंद्र-रूप कहा गया है। दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। सूर्यास्त पर कमल का संकुचित हो जाना तीसरा व्यंग्य है। कमल के संकुचित हो जाने पर ब्रह्मा का अदृश्य हो जाना यह चौथा व्यंग्य है। और ब्रह्मा के अदृश्य हो जाने पर लज्जा का कारण न रहने से प्रतिबंध-रहित विलास-रूप पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर संबंध से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अर्थात्

---

१ विपरीत रति के समय विष्णु भगवान् के नाभि-कमल पर ब्रह्माजी को देखकर लक्ष्मीजी ने लज्जित होकर उनका (विष्णु का) दाहना नेत्र अपने हाथ से ढककर अपने रहस्य-दर्शन-जन्य लज्जा की रक्षा कर ली।

एक व्यंग्य की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही संबंध-संबंधिता है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यंजना-शक्ति का मानना अनिवार्यतः आवश्यक है।

## महिम भट्ट के मत का खंडन

महिम भट्ट व्यंजना और ध्वनि-सिद्धांत के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धांत के खंडन पर 'व्यक्तिविवेक'-नामक ग्रंथ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यंजनावृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धांत का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यंजना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिंग को—अनुमान किए जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिंगी उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन ( हेतु ) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योंकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान में व्याप्ति-संबंध रहता है,

अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी अवश्य है। और यह व्याप्ति-संबंध ही अनुमान है।

महिम भट्ट कहते हैं कि जिसे तुम व्यंजक कहते हो—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होना बतलाते हो—वह अनुमान का साधन ( हेतु ) है। अर्थात् जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे माने हुए व्यंजक शब्द या अर्थ से उस अर्थ का, जिसे तुम व्यंग्यार्थ मानते हो, अनुमान हो जाता है।

अपने मत की पुष्टि में महिम भट्ट ने वे ही अनेक पद्य, जिनको ध्वनिकार ने ध्वनि के उदाहरणों में दिखाए हैं, उद्धृत करके उनमें 'अनुमान' होना सिद्ध किया है।

जैसे—

अहो भगत निधरक विचर वह न स्वान दृत आज ;
हत्यो वाहि जो रहत इहि गोदा-तट मृगराज।

यह पद्य किसी कुलटा स्त्री द्वारा उस धार्मिक व्यक्ति का कहा हुआ है, जो उस कुलटा के एकांतस्थल में पुष्प लेने के लिये प्रतिदिन आया करता था[१]। ध्वनिकार ने कहा है—'इस पद्य के वाच्यार्थ में कुत्ते से डरनेवाले उस धार्मिक को, सिंह द्वारा कुत्ते के मारे जाने से, निश्शंक आने के लिये कुलटा कह रही है। किंतु व्यंग्यार्थ में उस कुलटा ने उसे, सिंह का भय दिखाकर, आने का निषेध किया है। क्योंकि जो व्यक्ति कुत्ते से

१ देखो, पृष्ठ ११।

भयभीत होता था, वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की बात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यंग्यार्थ है।'

महिम भट्ट कहते हैं—'जिस वाच्यार्थ में निश्शंक आने के लिये कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन ( हेतु ) है; अर्थात् जिसको व्यंग्यार्थ बताया जाता है, वह व्यंजना का व्यापार नहीं, किंतु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे, अग्नि का अनुमान करने के लिये धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना आने के निषेध का हेतु है।' इसी प्रकार की दलीलों से उन्होंने व्यंजना का खंडन किया है।

आचार्य मम्मट ने इन दलीलों का बड़ी सार-गर्भित युक्तियों द्वारा खंडन किया है। श्रीमम्मट कहते हैं—"सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकांतिक है—निश्चयात्मक नहीं। अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे, अग्नि का अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित है। यदि धुएँ के अस्तित्व में संशय है, तो अग्नि का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है। क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भयवाले

स्थान पर जाना हो सकता है। अतएव यहाँ हेतु नहीं—हेतु का आभास है। फिर वहाँ पर सिंह का होना, न तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, और न अनुमान सिद्ध ही। सिंह को बतलानेवाली एक कुलटा है, जिसका कथन आप्तवाक्य ( सत्यवादी ऋषियों का वाक्य ) नहीं हो सकता, प्रत्युत ऐसी स्त्रियों का झूठ बोलना तो स्वभाव-सिद्ध है। अतएव वहाँ सिंह है या नहीं ? यह भी संदेहास्पद है। इस प्रकार व्याप्ति-संबंध, जिसका होना अनुमान के लिये परमावश्यक है, संदिग्ध है। ऐसी अवस्था में अनुमान सिद्ध नहीं होता।' इसी प्रकार महिम भट्ट के सभी आक्षेपों का समुचित उत्तर देकर श्रीमम्मटाचार्य ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि व्यंजना अवश्य है, और उसका व्यापार व्यंग्यार्थ, अनुमान का विषय किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

# षष्ठ स्तवक

## गुण

काव्य की आत्मा रस है। गुण रस में रहते हैं, अर्थात् रस के धर्म हैं। गुण रस के अंतरंग हैं और अलंकार बहिरंग, क्योंकि अलंकार रस का धर्म नहीं। इसलिये अलंकारों के पहले गुणों का विवेचन किया जाता है।

गुण के महत्त्व के विषय में भगवान् वेदव्यास ने आज्ञा की है—

'अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्;
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्[1]।

( अग्निपुराण ३४६ । १ )

## गुण का सामान्य लक्षण

**जो रस के धर्म एवं उसके उत्कर्ष के कारण हैं, और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।**

---

१ गुण-रहित काव्य, अलंकार-युक्त होने पर भी, आनंद-प्रद नहीं होता। जैसे कामिनी के लालित्य आदि गुण-रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।

जैसे शूरता आदि चेतन आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं। इसीलिये गुणों को रस के धर्म कहे गए हैं।

'गुण' दोष का अभाव है, अतएव इन्हें रस के उत्कर्षक कहे गए हैं, क्योंकि किसी वस्तु का उत्कर्ष तभी हो सकता है, जब उसमें दोष नहीं होता है।

'गुण' रस के साथ नित्य रहनेवाले हैं। जहाँ रस की स्थिति होती है, वहाँ गुण रस का अवश्य उपकार करते हैं। इसलिये रस के साथ गुण की अचलस्थिति कही गई है।

रसवाले काव्य में ही गुण रहते हैं—नीरस काव्य में नहीं। सुकुमार वर्णोंवाले नीरस काव्य को भी लोग 'मधुर' कह देते हैं, किंतु ऐसा कहना औपचारिक है। जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, किंतु किसी व्यक्ति में वस्तुतः शूरत्व न रहने पर भी केवल उसके शरीर की स्थूलता देखकर अदूरदर्शी लोग उसे शूरवीर कह देते हैं। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि रस-विवेचन तक नहीं पहुँच सकती, वे लोग वर्ण-रचना (पद-समूह) की आपात रमणीयता देखकर नीरस काव्य को भी माधुर्य-युक्त कह देते हैं। वास्तव में माधुर्य आदि गुण केवल वर्ण-रचना के आश्रित नहीं, वे रस के धर्म हैं और समुचित वर्ण, समास और रचना द्वारा व्यंजित होते हैं। यह मत आचार्य मम्मट का है। पंडितराज

जगन्नाथ वर्ण-रचना में भी गुणों की स्थिति मानते हैं[1]।
अस्तु।

## गुण और अलंकार

गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के उत्कर्षक हैं। किंतु इनके सामान्य लक्षणों पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण रस के साथ नित्य रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़कर नीरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सदैव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रहकर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं। जैसे—

"हौं ही व्रज वृंदावन, मोही में बसत सदा,
जमुना - तरंग स्यामरंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसी - वट - तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक - बनक ताल -ताननि की,
तनक - तनक तामैं झनक चुरीन की।"

यहाँ 'तरंग', 'रंग', 'कुंजनि', 'गुंजनि', 'भनक', 'बनक' इत्यादि में अनुप्रास अलंकार है। यह अलंकार पहले तो शब्दों

---

1 'तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः' (रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ४९)

को अलंकृत करता है—उनकी शोभा बढ़ाता है—फिर शृंगार-रस का उपकार करता है। क्योंकि अनुस्वार की अधिकता शृंगार-रस-व्यंजक है। इसी प्रकार—

छिन-छिन विष की-सी लहर बढ़त-बढ़त ही जाहिं;
लगी निगोड़ी लगन यह छोड़ी छूटत नाहिं।

यहाँ लगन को 'विष की-सी लहर' कहने में 'उपमा' अलंकार है। यह अलंकार अर्थ को अलंकृत करता हुआ रस का उपकार करता है, क्योंकि लगन को—पूर्वानुराग को—विष के समान फैलने की उपमा देने से विप्रलंभ शृंगार का उत्कर्ष होता है। अतः यहाँ अर्थालंकार द्वारा रस का उपकार है।

जब रसात्मक काव्य में अलंकारों का समावेश अवसर पर किया जाता है, और निर्वाह अंत तक नहीं किया जाता, अथवा निर्वाह किया जाता है, तो अलंकार को प्रधानता न देकर उस रस का अंगभूत रक्खा जाता है, तभी अलंकार रस के उपकारक हो सकते हैं। इस विषय का विशद विवेचन पहले किया जा चुका है[1]।

रस के अनुपकारक अलंकार का उदाहरण—

"देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि;
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिन फारि।"

नायक के प्रति नायिका के पूर्वानुराग का सखी द्वारा वर्णन होने से यहाँ शृंगार-रस है। 'ट' की कई आवृत्ति होने

---

[1] देखो, पृष्ठ २६३—२७१।

से छेकानुप्रास अलंकार भी है। किंतु यह अलंकार रस का उपकारक नहीं, प्रत्युत अपकर्ष करनेवाला है, क्योंकि 'ट' वर्ण की रचना शृंगार-रस के विरुद्ध है।

रस-रहित अलंकार का उदाहरण—

"दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै दुख द्वंद ;
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि-चंद।"

यहाँ पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है, अतः अर्थांतरन्यास अलंकार है, किंतु यहाँ कोई रस की व्यंजना नहीं। अतः स्पष्ट है कि रस के बिना भी अलंकार की स्थिति हो सकती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलंकारों का रस के साथ होना या उनके द्वारा रस का उपकार होना नियत—निश्य—नहीं है। 'हार' आदि भूषणों से शरीर की शोभा होती अवश्य है, पर इनके न होने पर भी शरीर की कुछ हीनता प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार रस भी अलंकारों से अलंकृत—शोभित—अवश्य होता है, पर इनके न होने से भी रस की कुछ हानि नहीं होती। किंतु 'गुण' रस के साथ अनिवार्य रहते हैं। यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। यहाँ केवल काव्यप्रकाश के सिद्धांत का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। अस्तु।

## गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के विषय में मत-भेद है। श्रीभरत मुनि ने १०

गुण बतलाए हैं[1]। आचार्य दंडी ने गुणों की संख्या और नाम तो भरत मुनि के अनुसार ही लिखे हैं, किंतु गुणों के लक्षणों में भिन्नता है[2]। वामनाचार्य के अनुसार १० शब्द के और १० अर्थ के गुण होते हैं[3]। महाराज भोज के मत के अनुसार गुणों की संख्या और भी अधिक है[4]। भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन ही गुण माने हैं, और अन्य शेष गुणों में से कुछ को तो इन तीनो गुणों के अंतर्गत बताया है और शेष को गुण ही नहीं माना है, उन्हें दोषों के अभाव रूप बतलाए हैं[5]। श्रीमम्मट के इस मत को प्रायः सभी उत्तरकालीन साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। इन तीन गुणों के नाम हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

## ( १ ) माधुर्य गुण

जिस आनंद के कारण अंतःकरण द्रवीभूत हो जाता है, उसे माधुर्य गुण कहते हैं।

द्रवीभूत का अर्थ है चित्त का आर्द्र हो जाना—पिघल जाना। अर्थात् काठिन्य[6], दीप्तत्व[7] और

---

१ देखिए, नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर-संस्करण, अध्याय १९। ९२-१०२। २ देखिए, काव्यादर्श, परिच्छेद १। ४१-६३। ३ देखिए, काव्यालंकारसूत्र-अधिकरण ३ अध्याय प्रथम और द्वितीय। ४ देखिए, सरस्वतीकंठाभरण, निर्णयसागर-संस्करण, प्रथम परिच्छेद; पृष्ठ ४१-७२। ५ देखिए, काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास। ६ किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभाव-सिद्ध कठिनता को काठिन्य कहते हैं। यह चित्तवृत्ति वीर आदि रसों में होती है। ७ क्रोध और अनुताप आदि के कारण चित्त का दीप्तत्व रौद्र आदि रसों में होता है।

विक्षेप[1] चित्तवृत्तियों के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत आनंद के उत्पन्न होने के कारण माधुर्य गुण-युक्त रस के आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है। यह गुण संभोग-शृंगार से करुण में, करुण से वियोग-शृंगार में, और वियोग-शृंगार से शांत रस में अधिकाधिक होता है। यहाँ शृंगार का कथन उपलक्षण-मात्र है, अर्थात् शृंगार के आभास आदि में भी माधुर्य होता है।

ट, ठ, ड, ढ के अतिरिक्त स्पर्श[2] वर्ण अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म; और वर्गांत के ङ, ञ, ण, न, म से युक्त अर्थात् अनुस्वार-सहित वर्ण (जैसे अङ्ग, रञ्जन, कान्त, कम्प) ह्रस्व 'र' और 'ण'; समास का अभाव, अथवा दो-तीन या अधिक-से-अधिक चार पद मिले हुए समास और मधुर, कोमल पद-रचना; ये सब माधुर्य-गुण के व्यंजक हैं।

उदाहरण—

अलि-पुंजन की मृदु-गुंजन सों, बन-कुंजन मंजु बनाय रह्यो;
लगि अंग अनंग-तरंगन सों, रति-रंग उमंग बढ़ाय रह्यो।
विकसे सर कंजन कंपित कै, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो;
मलयानिल मंद दसो दिसि ये, मकरंद अमंद फलाय रह्यो।

---

१ विस्मय और हास्य आदि से होनेवाली चित्त की अवस्था को विक्षेप कहते हैं। यह अद्भुत और हास्य आदि रसों में होती है।
२ 'क' से 'म' तक के वर्णों की व्याकरण में स्पर्श संज्ञा है।

इसमें ट, ठ, ड, ढ रहित स्पर्श वर्ण हैं। पुंज, गुंज, अंग, मंद और कंप आदि शब्द वर्ग के अंत के वर्णों से (ञ, ङ, न, म से) युक्त हैं—स्वानुस्वार हैं। 'र' ह्रस्व है। मद-गंजन, वन-कुंजन आदि में छोटे-छोटे समास हैं। अतः यहाँ माधुर्य-गुण की व्यंजना है।

## ( २ ) ओज गुण

**जिसके श्रवण से मन में तेज उत्पन्न होता है, वह ओज गुण है।**

इसके द्वारा चित्त ज्वलित-जैसा हो जाता है। अर्थात् ओज गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त में जोस उत्पन्न होता है। यह वीर-रस में रहता है। वीर-रस से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र में इसकी अधिकाधिक स्थिति रहती है।

कवर्ग आदि के पहले और तीसरे वर्णों का, दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग होना अर्थात् क, च आदि का, ख, छ आदि के साथ (जैसे कच्छ, पुच्छ) और ग, ज, आदि का घ, झ के साथ (जैसे दिग्घ, जुज्झ) होना। 'र' का योग जैसे वक्र, अर्थ, निद्रा। ट, ठ, ड, ढ की अधिकता। बहुत-से पद मिले हुए लंबे समास और कठोर वर्णों की रचना। ये सब ओज गुण को व्यक्त करते हैं।

देखिए—

"क्रुद्ध ह्वै प्रबुद्ध वीर जुद्धत विरुद्ध गति,
उद्धत त्रिसुद्ध रन रंग के प्रसंग में;

प्रबल सुभट्ट ठट्ट दंत कटकट्टत हैं,
अट्टै हैं दुपट्टैं औ उचट्टैं लोम लंग में।
भिंडिपाल पट्टि सपरिघ औ, कृपान सूल,
कटत कड़ाका दे झड़ाका आगि अंग में;
'रसिक बिहारी' वीर रंचहू न लावैं पीर,
वीरन के प्रान कढ़ि जात तीर संग में।"

(काव्यसुधाकर)

यहाँ 'क्रुद्ध' और 'प्रबल' में रकार मिला हुआ है। 'प्रबुद्ध', 'जुद्ध', 'भट्ट' आदि में पहले वर्ण के साथ उसी वर्ग के दूसरे वर्ण मिले हुए हैं। टवर्ग की अधिकता है, और कठोर रचना है। इसके सिवा रस-प्रकरण में रौद्र और वीर-रस के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे ओज गुण-युक्त हैं।

## (३) प्रसाद गुण

सूखे ईंधन में अग्नि की तरह, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह, जो गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है।

प्रसाद गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है—खिल उठता है।

यह सभी रसों में और सारी रचनाओं में हो सकता है। शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण का व्यंजक होता है।

उदाहरण—

"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन भव-भय दारुनं ;
नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर - कंज - पद - कंजारुनं ।
कंदर्प अगनित अमित छवि नव - नील - नीरज सुंदरं ;
पट पीत मानहुँ तड़ित-रुचि सुचि नौमि जनकसुतावरं ।
भजु दीनबंधु दिनेस दानव - दैत्य - वंस - निकंदनं ;
रघुनंद, आनँदकंद, कोसलचंद, दसरथनंदनं ।
सिर मुकट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषनं ;
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्राम - जित खर-दूषनं ।
इति वदत 'तुलसीदास' शंकर शेष-मुनि-मन - रंजनं ;
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल-दल-गंजनं ।"

( विनयपत्रिका )

यह सरल सुबोध और मृदु ( मधुर ) पदावली-युक्त बड़ी सुंदर प्रसाद-गुण-व्यंजक रचना है । और भी—

गत जब रजनी हो, पूर्व संध्या बनी हो ;
उडुगण क्षय भी हों, दीखते भी कहीं हों ।
मृदुल, मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा ;
तब पिक ! करती तू शब्द प्रारंभ तेरा ।
अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती ;
रसिक जन सभी की नींद तू है छुटाती ।
मनहरण सुनाके माधुरी वो प्रभाती ;
अलसित चित को भी सत्य ही है लुभाती ।

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे ;
उस समय दिखाते शब्द-चातुर्य सारे ;
रव तब उनके वे व्यर्थ है तू बनाती ;
जब पिक ! अपनी तू चातुरी है दिखाती।
सघन उपवनों में, वाटिका में कभी तू—
गिरि-सरित-तटों के प्रांत में भी कभी तू।
सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू ;
सु-मधुर-मतवाली कूक को कूजती तू।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं लुभाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानंद गाते।
बस अधिक कहूँ क्या मान काफ़ी यही तू,
अनुपम गुणवाली भाग्यशाली बड़ी तू।

माधुर्य आदि गुणों की व्यंजना के लिये वर्ण-रचना आदि के उक्त नियम सर्वत्र एक समान हैं। किंतु वक्ता, वाच्य, अर्थ, अभिधेय और प्रबंध—महाकाव्य या नाटक—की विशेष-विशेष अवस्था के कारण उक्त नियमों के विपरीत भी कहीं-कहीं वर्ण, समास और रचना की जाती है। जैसे, आख्यायिका में शृंगार-रस के वर्णन में भी कोमल पदावली नहीं होती। कथा में रौद्र रस के वर्णन में भी अत्यंत उद्धत वर्ण आदि नहीं होते, और नाटकादि में रौद्र रस में लंबे समास आदि नहीं होते। निष्कर्ष यह है कि उचित-अनुचित का विचार करके वर्णादि का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि-प्रकरण ( पृष्ठ ३२१ ) में वर्ण और रचना-ध्वनि के उदाहरण छठे स्तवक में दिखाने को इसलिये कहा गया है कि रस में रहनेवाले माधुर्य आदि गुणों का स्वरूप-ज्ञान होने पर ही उनके व्यंजक, वर्ण और रचना का ज्ञान होना संभव है। यहाँ माधुर्य आदि गुणों के व्यंजक जो उदाहरण हैं, वे वर्ण और रचना-ध्वनि के हैं। वैदर्भी, गौणी और पांचाली रीतियों को[1] रचना कहते हैं, ये रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं। 'गुण' रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं, इसलिये वर्ण और रचना में गुण और रस की व्यंजना एक ही साथ होती है।

---

१ इन रीतियों को श्रीमम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला-वृत्ति के नाम से लिखा है। और माधुर्य गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज गुण-व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनो में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति बतलाया है। देखो, काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास।

# सप्तम स्तवक

## दोष

काव्य में 'गुण' आदि का होना आवश्यक है, पर उससे कहीं अधिक उसका निर्दोष होना आवश्यक है।

'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।'

अर्थात् सुंदर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक चिह्न से दुर्भग हो जाता है। इसी प्रकार थोड़े-से 'अनौचित्य' के कारण भी काव्य दूषित हो जाता है। कारण यह है कि दोष काव्य के आस्वाद में उद्वेग उत्पन्न कर देता है—

'उद्वेगजनको दोषः'—अग्निपुराण।

## दोष का सामान्य लक्षण

**मुख्य अर्थ की प्रतीति को हानि ( अपकर्ष ) पहुँचानेवाली वस्तु को दोष कहते हैं।**

मुख्य अर्थ—कवि जिस वस्तु में जहाँ चमत्कार दिखाना चाहता है, वही 'मुख्य अर्थ' है। जहाँ रस और भावादि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार होता है, वहाँ रसभाव आदि मुख्य अर्थ है। जहाँ वाच्य अर्थ में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'वाच्य अर्थ' और जहाँ शब्द में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'शब्द' मुख्य अर्थ

समझना चाहिए। रस, भाव आदि का उपकारक होने के कारण वाच्यार्थ को और रस, भाव आदि तथा वाच्यार्थ का उपयोगी होने के कारण शब्द को भी यहाँ मुख्यार्थ माना है। अतएव रस, भाव आदि व्यंग्यार्थ में, वाच्यार्थ में और शब्द में—इन तीनो में—दोष हो सकता है। फलतः दोष भी सामान्यतः तीन भेदों में विभक्त है—( १ ) शब्द-दोष, ( २ ) अर्थ-दोष और ( ३ ) रस-दोष।

अपकर्ष—अपकर्ष तीन प्रकार से होता है—( १ ) काव्य के आस्वाद ( आनंद ) के रुक जाने से, ( २ ) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करनेवाली किसी वस्तु के बीच में आ जाने से, और ( ३ ) काव्य के आस्वाद में विलंब करनेवाले कारणों की स्थिति हो जाने से। इन तीनो में से एक भी जहाँ होता है वहाँ दोष आ जाता है। काव्यप्रकाश में ७० प्रकार के दोष बताए गए हैं—३७ शब्द के, २३ अर्थ के और १० रस के।

रस-विषयक दोषों का निरूपण रस-प्रकरण में किया जा चुका है।

## शब्द-दोष

वाक्यार्थ का बोध होने के प्रथम जो दोप प्रतीत होते हैं वे शब्द के आश्रित हैं। अतः वे शब्द के दोष हैं। शब्द के दोप—( १ ) पदांशगत, ( २ ) पदगत और ( ३ ) वाक्यगत होते हैं। इनके भेद इस प्रकार हैं—

## ( १ ) श्रुति-कटु

कानों को अप्रिय मालूम होनेवाली कठोर वर्णों की रचना। जैसे—

कार्तार्थी१ तब होहुँगी, मिलिहैं जब प्रिय आय।

यहाँ 'कार्तार्थी' श्रुति-कटु पद है। यह विप्रलंभ-शृंगार का वर्णन है। इसमें कठोर वर्णों की रचना नियम-विरुद्ध है। यह दोष शृंगारादि कोमल रसों में ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसों में यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारों में भी यह दोष नहीं होता है।

## ( २ ) च्युतसंस्कार

व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग। जैसे—

"छंद को प्रबंध त्यों ही व्यंग नायिकादि भेद,
उद्दीपन भाव अनुभाव पति बामा के;
भाव संचारी असथाई रस भूषण हू,
दूषण अदूषण जो कविता ललामा के।
काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोप,
काव्य-परभाकर में साजि काव्य सामा के;
कोविद कवीशन को कृष्ण मानि भेट देत,
अंगीकार कीजै चारि चाँवर सुदामा के।"

( श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु'-काव्यप्रभाकर )

---

१ कृतार्थी।

यहाँ 'असथाई' पद में च्युत संस्कार दोष है। स्थायी का अपभ्रंश ब्रजभाषा में 'थायी' हो सकता है। पर असथाई तो अस्थायी या अस्थिर का ही अपभ्रंश हो सकता है, न कि स्थायी का।

## ( ३ ) अप्रयुक्त

अप्रचलित प्रयोग।

जैसे—

पुत्र-जन्म उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय।

यहाँ दान के अर्थ में 'स्पर्श' पद का प्रयोग है। स्पर्श का अर्थ दान भी है—विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्—अमर-कोष। दान के अर्थ में इसका प्रयोग काव्यों में देखा नहीं जाता है[१]।

## ( ४ ) असमर्थ

अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का नहीं होना। जैसे—

कुंभ हनन कामिनि करत।

यहाँ गमन-अर्थ में 'हनन' पद का प्रयोग है। 'हन्' धातु का गति अर्थ भी है—हन् हिंसागत्योः। किंतु हनन पद की सामर्थ्य से यहाँ 'गमन' अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता।

---

१ श्रीमद्भागवत में दान के अर्थ में 'स्पर्श' का प्रयोग है। किन्तु पुराणादि आर्ष ग्रंथों में यह दोष नहीं हो सकता। काव्य-ग्रंथ में ही यह दोष माना जाता है।

## ( ५ ) निहतार्थ

दो अर्थोंवाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग।

जैसे—

यमुना-शंबर विमल सों, छूटत कलिमल कोस।

यहाँ जल के अर्थ में 'शंबर' शब्द का प्रयोग है। शंबर पद जल का पर्यायवाची है—नीर क्षीरांबुशम्बरम्। किंतु काव्य में 'शंबर' का प्रयोग शंबर नाम के असुर के लिये ही होता है। अतः 'शंबर' शब्द उसी असुर के नाम में योगरूढ़ है। जल के अर्थ में यह शब्द अप्रसिद्ध है। उपर्युक्त 'अप्रयुक्त' दोष एकार्थी शब्द में होता है, पर यह दोष अनेकार्थी शब्द में। इन दोनो में यही भेद है।

## ( ६ ) अनुचितार्थ

अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करनेवाला प्रयोग।

जैसे—

ह्वै के पशु रन-यज्ञ में, अमर होहिं जग सूर।

शूर-वीरों को पशु के समान कहने में उनकी कायरता प्रतीत होती है, क्योंकि यज्ञ में पशु स्वेच्छा से नहीं, किंतु परवश होकर मरते हैं। शूरवीर उत्साह-पूर्वक स्वेच्छा से रण में खड़े होते हैं। अतः शूरवीरों को पशु की समता देने में अभीष्ट अर्थ का अर्थात् उनकी उत्कृष्टता का तिरस्कार होता है।

## ( ७ ) निरर्थक

पाद-पूर्ति के लिये अनावश्यक पद का प्रयोग।

जैसे—

आम्र-प्रवाल शिखि-पिच्छ प्रसून-गुच्छ,
धारैं गलैं कमल उत्पल-माल स्वच्छ।
सोहैं विचित्र छवि गोप-समाज माँही,
गावैं प्रवीन-नट रंग-थली यथा ही।

यहाँ 'यथा ही' में 'ही' शब्द निरर्थक है। केवल पाद-पूर्ति के लिये रक्खा हुआ है, अतः दोष है।

## ( ८ ) अवाचक

जिस वांछित अर्थ के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उस शब्द का वांछित अर्थ का वाचक न होना।

जैसे—

अधिक अँधेरी रात हू तो दरसन दिन होय।

मित्र के प्रति किसी ने यह कहा है—'आपके दर्शनों से अँधेरी रात्रि भी मेरे लिये प्रकाशमय हो जाती है।' यहाँ प्रकाश के अर्थ में 'दिन' का प्रयोग किया है। सूर्य होने से ही 'दिन' कहा जा सकता है, सूर्य के सिवा जो प्रकाश है वह दिन नहीं कहा जा सकता। अतः दिन शब्द को जिस अर्थ की इच्छा से प्रयोग किया गया है उस अर्थ का वह अवाचक है। दूसरा उदाहरण २२वें दोष में लिखा हुआ 'हंसी प्यारी' छंद में है।

## ( ६ ) अश्लील

यह दोष तीन प्रकार का होता है—( १ ) व्रीड़ा-व्यंजक, ( २ ) घृणा-व्यंजक और ( ३ ) अमंगल-व्यंजक । क्रमशः उदाहरण—

मद-अंधन कों जय करन तो साधन[1] जु महान ।

यहाँ राजा की प्रशंसा में कहा है कि तेरा साधन ( सैन्य बल ) महान् है । यहाँ 'साधन'-शब्द व्रीड़ा-व्यंजक है ।

पिचकारी प्यारी दई, मुख पैं डारि गुलाल ;
मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन ततकाल ।

यहाँ 'वायु' पद से अधोवायु का भी स्मरण होता है, इसलिये यह शब्द घृणा-व्यंजक है । यह पदगत घृणा-व्यंजक अश्लील है । वाक्यगत—

चोरत हैं पर उक्ति कों जे कवि ह्वै स्वच्छंद ;
वे उत्सर्ग रु वांत को उपभोगत मतिमंद ।

यहाँ 'उत्सर्ग[2] और वांत[3]' पद घृणोत्पादक हैं ।

"छांकि-छांकि तुव नाक सों यों पूछत सब गौड ;
किते निवासन नासिकै लियो नासिका नौंड ।"

यहाँ 'नासिकै' पद अमंगल-सूचक है ।

---

१ 'साधन' नाम पुरुष के गुह्यांग का भी है । २ मल । ३ वमन अर्थात् क़ै ।

## ( १० ) संदिग्ध

ऐसे शब्द का प्रयोग, जिससे वांछित और अवांछित दोनों अर्थ प्रतीत हों।

जैसे—

बंद्या पर करिए कृपा।

बंद्या का अर्थ वंदनीया और क़ैद की हुई भी है। अतः संदेह है कि किस अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है।

## ( ११ ) अप्रतीतार्थ

ऐसे शब्द का प्रयोग जो लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध न हो।

जैसे—

तत्त्वज्ञान प्रकास सों दलिताशय जो आहि;
विधि-निषेधमय कर्म सब बाधक होहिं न ताहि।

'आशय'-शब्द का अर्थ मिथ्या ज्ञान है। किंतु 'आशय' का प्रयोग केवल योग-शास्त्र में ही होता है—सर्वत्र नहीं।

## ( १२ ) ग्राम्य

ऐसे शब्द का प्रयोग जो केवल ग्राम्य जनों की—गँवारों की—बोलचाल में आता हो।

जैसे—

" 'दीन' अनूप छटायुत के रघुलाल के गाल गुलाल को रंग है।"

( सूक्ति-सरोवर )

'गाल' शब्द ग्राम्य है। काव्यप्रकाश आदि में 'कटि'-शब्द को भी ग्राम्य माना है, पर यह संस्कृत-काव्य में दूषित है। हिंदी में इस शब्द का प्रयोग प्रायः सभी महाकवियों ने किया है। आजकल के ग्रामीण तो 'कटि'-शब्द का अर्थ तक नहीं जानते। हाँ, कटि शब्द के पर्यायवाची 'कमर'-शब्द को हिंदी में ग्राम्य माना जा सकता है।

## ( १३ ) नेयार्थ

असंगत लक्षणावृत्ति।

जैसे—

तेरे मुख ने चंद्र के दई लगाय चपेट।

यहाँ 'चपेट' लगाने के मुख्यार्थ का बाध है। 'तेरे मुख की कांति चंद्रमा से अधिक है' यह अर्थ लक्षणा से होता है। किंतु लक्षणा रूढ़ि या प्रयोजन से ही होती है। यहाँ न रूढ़ि है और न प्रयोजन ही।

## ( १४ ) क्लिष्ट

ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका अर्थ-ज्ञान बहुत कठिनता से हो।

जैसे—

अहि-रिपु-पति-पिय-सदन है मुख तेरो रमनीय।

अहि = सर्प, उसका शत्रु = गरुड़, के पति = विष्णु, उनकी पत्नि = लक्ष्मी, उनका सदन अर्थात् निवास-स्थान = कमल,

उसके समान मुख। कमल के लिये इतने शब्दों के प्रयोग करने में कुछ चमत्कार नहीं, प्रत्युत अर्थ का ज्ञान बहुत कष्ट-कल्पना और विलंब से होता है, अतः दोष है।

## ( १५ ) अविमृष्ट विधेयांश

विधेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अंश का प्रधानता से प्रतीत न होना, उसका गौण हो जाना।

जैसे—

मैं रामानुज हों अरे! गरज डरावत काहि।

लक्ष्मणजी ने अपने को श्रीराम का संबंधी सूचन करके अपना उत्कर्ष बताना चाहा है, किंतु संबंधकारक षष्ठी विभक्ति का लोप होकर समास हो जाने से 'राम' पद की प्रधानता दब गई है। 'मैं राम का हूँ अनुज निशिचर! गरज से डरता नहीं', यदि इस प्रकार समास-रहित प्रयोग किया जाता तो राम के संबंध की प्रधानता बनी रहती, और दोष नहीं रहता। यह दोष केवल समास में होता है।

और भी—

नव-पुष्प कदंब गुही कल किंकिनि मोलसिरी की सुहाय रही;
अति पीन नितंबन सों खिसलै तिहिं बारहिंबार उठाय रही।
मनु फूलन के विसिखासन की सु द्वितीय प्रतंच सजाय रही;
स्मर की वा धरोहर कों गिरिजा कर-कंजन लै सम्हराय रही।

( कुमारसंभव के पद्य का भावानुवाद )

श्रीशंकर को पार्वतीजी पर मोहित करने के लिये कामदेव के माया-जाल में श्रीपार्वतीजी के सहायक होने का यह वर्णन है। नितंबों पर से खिसलती हुई कौंधनी में, जिसे पार्वतीजी ऊपर को उठा रही थीं, कामदेव के धनुष को दूसरी प्रत्यंचा—डोरी—की उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् पार्वतीजी खिसलती हुई कौंधनी क्या उठा रही हैं, मानो कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यंचा को, जो कामदेव की उनके पास रक्खी हुई धरोहर थी, सजा रही हैं। प्रत्यंचा का दूसरापन बताना ही उत्प्रेक्षा का प्रधान प्रयोजन है। किंतु 'द्वितीय प्रत्यंचा' पद में दूसरेपन का प्रधानत्व नहीं रहता। 'मानो कामदेव के धनुष पर दूसरी ही प्रत्यंचा चढ़ा रही है' यदि ऐसा कहा जायगा, तो दूसरेपन का प्रधानत्व हो जाता है।

## ( १६ ) विरुद्धमतिकृत

ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके द्वारा अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो।

जैसे—

सरद-चंद्र-सम विमल हो सदा उदार-चरित्र ;
गुन-गन कहे न जातु है आप अकारज मित्र।

यहाँ कहने का अभिप्राय तो यह है कि 'आप कार्य के विना ही अर्थात् स्वार्थ-रहित मित्र हैं।' किंतु 'अकारज मित्र' पद

से प्रतीत यह होता है कि आप अकार्य में अर्थात् अयोग्य कार्य में मित्र हैं, अतः 'अकारज' पद अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करता है। और—

नाथ अम्बिका-रमन हो मंगलमोद-निधान।

यहाँ 'अंबिका-रमण' पद विरुद्ध मति उत्पन्न करता है। अंबिका नाम माता का है। 'माता का पति' ऐसा कहने में अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार होता है। पूर्वोक्त च्युतसंस्कार-दोष के उदाहृत कवित्त के 'पतिवामा' वाक्य में भी यह दोष है।

इन शब्दगत १६ दोषों में च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक ये दोष पदगत ही होते हैं, शेष दोष पद और वाक्य दोनों में होते हैं और निम्न-लिखित शब्दगत २१ दोष केवल वाक्य में ही होते हैं—

## ( १७ ) प्रतिकूल वर्ण

अभीष्ट-रस के अर्थात् प्रकरणगत रस के प्रतिकूल वर्णों की वाक्य-रचना।

जैसे—

"सकुचि सुरत आरंभ ही बिछुरी लाज लजाइ;
टरकि ढार ढुरि ढिग गई डीठि ढिठाई आइ।"

यहाँ शृंगार-रस में टवर्ग के वर्णों की प्रतिकूल रचना है।

## (१८-२०) आहत विसर्ग, लुप्त विसर्ग और विसंधि

ये दोष संस्कृत ही में हो सकते हैं। हिंदी में प्रायः ये नहीं होते।

## (२१) हतवृत्त

(क) पिंगल-दोष न होने पर भी उच्चारण या श्रवण समुचित न होना।

(ख) पाद के अंत के लघु वर्ण का गुरु वर्ण का कार्य न दे सकना।

(ग) रस के अनुकूल छंद का होना।

"दुसाध्य रोग वियोग का तनिक न मिलती चैन।"

'दुसाध्य रोग वियोग का' इसमें दोहे के लक्षणानुसार १३ मात्रा हैं, पर बोलने और सुनने में दुःसह है। 'रोग दुसाध्य वियोग का' ऐसा पाठ होने से दोष नहीं रहता है।

न धजत न कटै कछू उदार!
जिविधर! सोचत व्यर्थ तू अपार।

यह पुष्पिताग्रा छंद है। इसके पदांत में दीर्घ वर्ण होता है। पर यहाँ प्रथम पाद के अंत का ह्रस्व वर्ण है, अतः दोष है। यद्यपि छंद-शास्त्र में पादांत में ह्रस्व वर्ण विकल्प से दीर्घ माना गया है, किंतु 'वसंततिलक', 'इंद्रवज्रा' आदि छंदों में ही प्रथम

पाद के अंत का ह्रस्व वर्ण, दीर्घ वर्ण का कार्य कर सकता है—सर्वत्र नहीं।

करुण-रस में मंदाक्रांता, पुष्पिताग्रा आदि, शृंगार आदि में पृथ्वी, स्रग्धरा आदि, वीर-रस में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि छंद अनुकूल होते हैं। हास्य-रस में 'दोधक' और शांत-रस में 'झूलना' छंद प्रतिकूल है।

## ( २२ ) न्यून पद

अभीष्ट अर्थ के वाचक-शब्द का न होना।

जैसे—

कृपावलोकन होय तो सुरपति सों का काम।

'कृपावलोकन' के पहले 'आपकी' न होने से अभीष्ट अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है।

और भी—

"वंशी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है,<br>
वंशी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है।<br>
धाये धाये सघन वन में घूमते गो चराते,<br>
धाया धाया जगत वन में घूमता गो चराता।"

( लाला भगवानदीन का सूक्ति सरोवर )

ग्रंथकार लाला भगवानदीनजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"हे कृष्ण! मैं आपसे कम नहीं हूँ। तुम्हारे पास मधुर-सुरवाली वंशी है, तो मेरे पास भी मधुर-भाषिणी वंश-

वाली प्यारी ( प्यारी कुलांगना ) है, इत्यादि। प्रथम पाद के 'साथ में' पद के पहले आपके और दूसरे पाद के 'साथ में' के पहले 'मेरे' का होना आवश्यक है। इनके विना वाक्य अपूर्ण रहता है। दूसरे पाद के 'वंशी'-शब्द में 'अवाचकता' दोष भी है। क्योंकि 'वंशी'-शब्द कुलांगना का वाचक नहीं है।

## ( २३ ) अधिक पद

अनावश्यक शब्द का प्रयोग।

जैसे—

"लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद ;
आवत नारि नवोढ लौं सुखद वायु-गति मंद।"

पुष्प की रज को ही 'पराग' कहते हैं। 'पराग' कहने से ही पुष्प-रज का बोध हो जाता है। 'पुहुप' पद अनावश्यक है।

## ( २४ ) कथित पद

एक वार कहे हुए शब्द का अनावश्यक दुबारा प्रयोग।

जैसे—

रति-लीला-श्रम को हरत लीला-युत चलि पौन।

यहाँ 'लीला'-शब्द का दुवारा प्रयोग अनावश्यक है। 'अर्थांतरसंक्रमित वाच्य' ध्वनि और 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार में यह दोष नहीं होता है।

## ( २५ ) पतत्प्रकर्ष

किसी वस्तु की उत्कृष्टता कहकर, फिर ऐसा वर्णन करना जिससे उसकी न्यूनता सूचित होती हो।

जैसे—

"कहँ मिश्री कहँ ऊख-रस नहीं पियूष समान ;
कलाकंद-कतरा अधिक तो अधरारस पान।"

( विक्रम-सतसई )

अधर-रस को मिश्री, ऊख-रस और पियूष से भी अधिक उत्कृष्ट बताकर फिर उसको कलाकंद से उत्कृष्ट कहना पूर्वोक्त उत्कर्ष का पतन है।

## ( २६ ) समाप्तपुनरात्त

वाक्य समाप्त हो जाने पर उसी वाक्य से संबंध रखनेवाले पद का प्रयोग।

जैसे—

नासतु हैं घन तिमिर कों विरहिन कों दुख देतु ;
रजनीकर की कर अहो! कुमुदन को सुख हेतु।

चंद्रोदय-वर्णन-संबंधी वाक्य तीसरे चरण में समाप्त हो गया है। फिर भी चौथे चरण में चंद्रमा का एक और विशेषण जोड़ दिया गया है। अतः दोष है।

## ( २७ ) अर्थांतरैकवाचक

छंद के पूर्वार्द्ध के वाक्य के कुछ भाग का छंद के उत्तरार्द्ध में होना।

जैसे—

रजनीकर की सुभ्रकर सजनी! करत जु गौर;
जग को, तज अब मान तू पीतम करत निहौर।

यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्य का कर्म कारक—'जग को'—उत्तरार्द्ध में है, यही दोष है।

## ( २८ ) अभवन्मतसंबंध

वाक्य का अन्वय भले प्रकार से न होना।

जैसे—

तेरे परत कटाच्छ जे तब स्मर छोड़त बान।

यहाँ 'जे'-शब्द का अन्वय काल-वाचक 'तब'-शब्द के साथ नहीं हो सकता। 'जे' के स्थान पर 'जब' कहना चाहिए। यहाँ पद के अर्थ का अन्वय नहीं होने से सारा वाक्य दूषित हो जाता है। पूर्वोक्त 'अविमृष्टविधेयांश' दोष में वाक्य का अन्वय तो हो जाता है, पर जिस अंश की प्रधानता होनी चाहिए, वह नहीं होती।

## ( २९ ) अनभिहितवाच्य

आवश्यक वक्तव्य का न कहा जाना।

जैसे—

तोही में रत नित रहौं विरत न होहुँ कदापि ;
कहा दोष को लेश तू लखि मुहि तजत तथापि ।

लेश के साथ 'भी' होना आवश्यक है । 'भी' न होने से यह प्रतीत होता है कि तुमने मेरा कोई बड़ा भारी अपराध देखा है । लेश-मात्र अपराध देखकर ऐसा नहीं करते । पूर्वोक्त 'न्यून पद' में वाचक पद की न्यूनता रहती है, और इसमें द्योतक पद की । इनमें यही भेद है ।

## ( २०-२१ ) अस्थानस्थ पद और समास

पद या समास का अयोग्य स्थान पर होना ।

जैसे—

सौत लखत पिय ने दई निज-कर गूँथि रसाल ;
म्लान भई हू प्रेम-बस न किहिं तजी वह माल ।
( किरातार्जुनीय का पद्यानुवाद )

यहाँ कहना तो यह है कि 'सपत्नि के देखते हुए प्रिय के द्वारा बनाकर दी हुई माला को म्लान हो जाने पर भी किसी एक रमणी ने नहीं त्यागा ।' किंतु 'न किहिं तजी' वाक्य का 'किसने नहीं तजी अर्थात् सभी ने तजी' यह अर्थ होता है, अतः 'किहिं इक तजी न' पाठ होना चाहिए । यह अस्थान-पद है ।

और—

"मतिरामहरी चुरियाँ खरकैं।"

'मतिराम' कवि ने कहा तो यह है कि 'हरी चूड़ियाँ खनकती हैं' पर 'मतिरामहरी' का समास हो जाने से 'राम ने मति हरी' ऐसा अर्थ हो जाता है। यह अस्थान-समास है।

## ( ३२ ) संकीर्ण

एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में होना।

जैसे—

छोड़ चंद्र अलि ! गगन में उदय होत अब मान ;

नायिका के प्रति मान-मोचन के लिये सखी की यह उक्ति है—'अब तू मान छोड़ दे, आकाश में चंद्रोदय हो रहा है।' 'छोड़' पहले वाक्य में है और 'मान' दूसरे वाक्य में। अतः दोष है।

## ( ३३ ) गर्भित

वाक्य के बीच में दूसरे वाक्य का आ जाना।

जैसे—

पर अपकारी खलन को मलिन जनन को संग ;

कहौ नीति सोसों यही तजिए परेहु प्रसंग।

दोहे का तीसरा पाद बीच में आ गया है, अर्थात् चौथा पाद पहले आकर, उसके बाद तीसरे पाद का कथन करना चाहिए।

## ( ३४ ) प्रसिद्धि त्याग

प्रयोग के विरुद्ध शब्द का प्रयोग। जैसे—

"जोन्ह१ ते खाली छपाकर२ भो छन में छनदा३ अब चाहत चाली;
कूजि उठी चटकाली चहूँ दिसि फैलि गई नभ ऊपर लाली।
साली मनोज-विथा उर में निपटै निठुराइ धरी वनमाली;
आली ! कहा कहिए कहि 'तोप' कहूँ पिय प्रीति नई प्रतिपाली।"

'चटकाली' ( एक जाति की चिड़िया ) के शब्द के लिये 'कूज उठी' पद का प्रयोग किया गया है। चिड़ियों के शब्द के लिये चहकना; मयूरों के लिये कूजना; सिंह और बद्दल के लिये गरजना; मेढकों के शब्द के लिये रव; नूपुर, किंकिणी, घंटा और भौंरों के लिये रणित, शिंजित, गुंजित आदि का प्रयोग प्रसिद्ध है। इनके विपरीत प्रयोग होने में दोष है। पूर्वोक्त 'अप्रयुक्त' दोष सर्वथा निषेध किए हुए शब्दों के प्रयोग में होता है। इस—प्रसिद्ध त्याग—में प्रसिद्ध अर्थ का त्याग होने से चमत्कार का अभाव हो जाता है।

"लखि निर्जन भौन जरा उठि सैन सौं चूमे लगैं अधरैं सुखदाई;
छल-मीलित नैन सु पी-मुख कों अवलोकत ही पुलकावलि छाई।
लुत लाज भई झट नम्रमुखी छवि वा कवि सौं वरनी कब जाई;
बस आनँद के हँस साहस सौं ससि की-सी कली पिय कंठ लगाई।"

( कविराजा मुरारीदानजी का जसवंतजसोभूषण )

---

१ चाँदनी। २ चंद्रमा। ३ रात्रि।

चंद्रमा की 'कली' का प्रयोग अप्रसिद्ध है—कहीं देखा-सुना नहीं जाता।

## ( २५ ) भग्न-प्रक्रम

प्रस्ताव के योग्य शब्द के प्रयोग का न होना।

जैसे—

निसानाथ के जात ही गई साथ ही रात;
यासों वदि कुल-तियन को और न धर्म दिखात।

'गई'-शब्द का प्रयोग भग्न-प्रक्रम है। 'निशानाथ के जात ही' है, अतः 'जात साथ ही रात' ऐसा होना चाहिए। एक जगह 'जात' और दूसरी जगह 'गई' के प्रयोग में क्रम-भंग होता है। 'जात'-शब्द दो बार हो जाने से कथित पद दोष की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य भाव में अर्थात् विषय-भेद से एक पद का दो बार प्रयोग हो सकता है।

जैसे—

उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहिं होवतु अस्त;
संपति और विपत्ति में सज्जन होतु न व्यस्त।

रवि के उदय और अस्त-काल में रक्तता का विधान है, क्योंकि दूसरी बार के 'रक्त' के स्थान पर 'ताम्र' आदि पर्याय-वाची शब्द कर देने पर अच्छा प्रतीत नहीं होता है—एक आकार की प्रतीति को—जो यहाँ आवश्यक है—दबा देता है। ऐसे स्थल पर कथित-पद में दोष नहीं होता है।

## ( ३६ ) अक्रम

जिस पद के पीछे जो पद उचित हो, वहाँ उस पद का क्रमशः प्रयोग न होना।

जैसे—

समय सबल निरबल करत कहत मनहु यह बात;
सरद सरस करि हंस-रव बरहिन रव बिरसात।

'यह'-शब्द पहले चरण के अंत में होना चाहिए।

## ( ३७ ) अमतपरार्थता

किसी रस के वर्णन में उसके विरोधी रस की व्यंजना का होना। शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत, हास्य और करुण परस्पर में विरोधी हैं।

जैसे—

राम-मदन-सर - हत - हृदय निसिचरि मनहु स-काम;
गई रुधिर - चंदन लगा जीवितेस के धाम।

( 'रघुवंश' से अनुवादित )

यह ताड़का के वध का वर्णन है। प्रसंगानुकूल बीभत्स-रस है। श्रीरामचंद्रजी में कामदेव का और ताड़का में निशिचरी ( रात्रि में गमन करनेवाली अभिसारिका ) नायिका का आरोप होने से शृंगार-रस भी सूचित होता है, अतएव दोष है। ये शब्द के ३७ दोष कहे गए, अर्थ के २३ दोष देखिए—

## ( ३८ ) अपुष्ट

ऐसे अर्थ का होना जिसके न होने पर भी अभीष्ट अर्थ की कोई क्षति न होती हो।

जैसे—

उदित विपुल नभ माहिं ससि अरी ! छोड़ अब मान।

यहाँ आकाश का विशेषण 'विपुल' अपुष्ट है। चद्रमा का उदय ही मान-मोचन का कारण हो सकता है। आकाश का बड़ा होना मान छोड़ने के कारण की पुष्टि नहीं करता। 'अधिक पद' दोष में अन्वय के समय ही शब्द की निरर्थकता का ज्ञान हो जाता है, पर यहाँ निरर्थक शब्द का अन्वय तो हो जाता है, किंतु अर्थ के समय निरर्थकता का ज्ञान होता है। इन दोनो में यही भेद है।

## ( ३९ ) कष्टार्थ

अर्थ की प्रतीति का कठिनता से होना।

जैसे—

बरसत जल-निज-करन-खैंचि दिनकर, नहिं घन यह ;
जमुना सविता - सुता मिली सुर-सरिता सों वह।
करत न को विश्वास कहो ? या व्यास-वचन में ;
मूढ़ - मृगी समुझै न तऊ जल रवि-किरनन में।

अप्रस्तुत वाच्यार्थ यह है कि अपनी किरणों द्वारा खींचे हुए जल को सूर्य बरसाता है, न कि मेघ। यमुनाजी सूर्य से

उत्पन्न हुई है, और वह गंगाजी में मिलती है। व्यासजी के इन वाक्यों में कौन विश्वास नहीं करता ? अर्थात् जब यमुना और वर्षा सूर्य से ही उत्पन्न हैं, तो सूर्य की किरणों में जल होना ही चाहिए, फिर भी मूर्ख मृगी सूर्य की किरणों में जल के होने में विश्वास नहीं करती। यह अप्रस्तुत अर्थ बड़ा दुर्बोध है। इस पद्य में मुग्धा नायिका का नायक पर अविश्वास करना जो व्यंग्य-रूप प्रस्तुत अर्थ है, उसका ज्ञान तो हो ही कैसे सकता है ? अतः कष्टार्थ दोष है। पूर्वोक्त 'क्लिष्टत्व' दोष में शब्द का परिवर्तन कर देने से अर्थ की प्रतीति में क्लिष्टता नहीं रहती, पर यहाँ शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी क्लिष्टता बनी रहती है। इनमें यही भेद है।

## ( ४० ) व्याहत

किसी वस्तु का महत्त्व दिखाकर फिर उसकी हीनता का सूचित होना, या पहले हीनता दिखाकर फिर महत्त्व का सूचित होना। जैसे—

औरन के मन-हरन को चंद्रकलादि अनेक ;
मोहिं सुखद दृग-चंद्रिका प्रिया वही है एक।

('मालती माधव' से भावानुवादित)

जिस चंद्रकला को पूर्वार्द्ध में आनंद-जनक नहीं माना है, उसी को उत्तरार्द्ध में—दृग-चंद्रिका पद से सुख-कारक माना है, अतः व्याहत है।

## ( ४१ ) पुनरुक्त

एक शब्द या वाक्य द्वारा अर्थ-विशेष का प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन करना। पूर्वोक्त 'अपुष्ट' दोष में अर्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती।

जैसे—

सहसा कबहुँ न कीजिए विपद-मूल अविवेक ;
आपुहि आवत संपदा जहाँ होय सुविवेक।

पूर्वार्द्ध में जो बात है, वही उत्तरार्द्ध में है। पूर्वार्द्ध में अविचार को विपदा का मूल कहा है। इसी बात से यह भी स्पष्ट है कि सुविचार से संपदा मिलती है, तथापि इस बात को उत्तरार्द्ध में 'सुविचार से संपदा मिलती है' इस वाक्य द्वारा दुबारा कहा गया है। यही पुनरुक्त दोष है।

और भी—

इक वो मदन-विशिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं ;
दूजे बद बदरा अरी ! घिरि-घिरि विष बरसाहिं।

( शृंगार-सतसई )

'मुरछि परी' कहकर फिर 'सुधि नाहिं' कहना पुनरुक्त है ; क्योंकि मूर्च्छा में सुधि कहाँ रहती है।

## ( ४२ ) दुष्क्रम

लोक या शास्त्र-विरुद्ध क्रम का होना।

जैसे—

नृप ! मोको हय दीजिए अथवा मत्त-गजेंद्र ;

घोड़े से पहले हाथी माँगना चाहिए, क्योंकि विकल्प से जो वस्तु माँगी जाती है, वह उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी की होती है। जो घोड़ा ही नहीं दे सकेगा, वह हाथी क्या दे सकेगा ?

और भी—

"यह वसंत न, खरी गरम अरी ! न सीतल वात ,
कह क्यों प्रकटे देखियत पुलक पसीजे गात।"

गर्मी से पसीना हुआ करते हैं, और शीत से रोमांच। पूर्वार्द्ध में पहले गरम और फिर शीतल शब्द है। इसी क्रम से उत्तरार्द्ध में पहले 'पसीजे' और फिर 'पुलक' चाहिए। यहाँ पहले 'पुलक' और तदनंतर 'पसीजे' है, यही अक्रम है।

## ( ४३ ) ग्राम्य

गँवार-भाषा का प्रयोग।

जैसे—

हौं सोवत मेरे निकट तू भी आ इत सोय ;

इसमें सरसता नहीं है। ऐसे वर्णन सहृदयों को उद्वेग-जनक होते हैं।

## ( ४४ ) संदिग्ध

कोई निश्चित अर्थ का न होना। जैसे—

सेवनीय रमनीन के अथवा गिरिन नितंब।

यहाँ यह संदिग्ध है कि इस वाक्य का कहनेवाला कोई शृंगार-रसिक है या विरक्त ?

## ( ४५ ) निर्हेतु

किसी बात के हेतु का नहीं कहा जाना ।

जैसे—

किया ग्रहण था तुझे पिता ने परिभव-भय के ही कारण;
यद्यपि था न उचित विप्रों को वह तेरा करना धारण ।
त्याग दिया है तुझे उन्होंने जब कि पुत्र-वध सुना वहाँ ;
अरे ! शस्त्र मैं भी करता हूँ अब तेरा यह त्याग यहाँ ।

( वेणीसंहार से अनुवादित )

द्रोण-वध के कारण शोकातुर अश्वत्थामा की अपने शस्त्र के प्रति यह उक्ति है । मेरे पिता ने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों से पराभव होने के भय से ही तुझे ग्रहण किया था । उन्होंने पुत्र का वध सुनकर—राजा युधिष्ठिर के मुँह से मेरा मरना सुनकर—तुझे त्याग दिया है । मैं भी अब तुझे छोड़ता हूँ । द्रोणाचार्य द्वारा शस्त्र के त्यागने का हेतु पुत्र-वध को सुनना बताया गया है, इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा शस्त्र त्यागने में कोई हेतु कहना चाहिए था । पर यहाँ ऐसा कोई हेतु नहीं कहा गया है, अतः दोष है ।

## (४६) प्रसिद्धि-विरुद्ध

अप्रसिद्ध बात का उल्लेख हो।

जैसे—

कंकन जो याकों कहैं है उनकी अति भूल;
मदन दियो निज-चक्र यह मृगलोचनि कर-मूल।

यहाँ हाथ के भूषण—कंकण—को कामदेव का शस्त्र कहा है। कामदेव का शस्त्र धनुष ही लोक में प्रसिद्ध है, न कि चक्र। चक्र का संबंध तो भगवान् विष्णु के साथ प्रसिद्ध है। यदि स्वयं कामदेव को चक्र-युक्त कहा जाय, तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक का प्रसिद्ध शस्त्र दूसरा धारण कर सकता है। पर कामदेव के शस्त्र की उपमा तो उसके धनुष से ही दी जा सकती है, न कि दूसरे किसी शस्त्र से।

और भी—

भूलि न जइयो पथिक! तुम तिहिं सरिता-पथ ओर;
तरुनि-पदाहत-अंकुरित नव-असोक उहिं ओर।

रक्त अशोक को देखकर विरहानुभवी किसी पथिक की अन्य पथिकों से यह उक्ति है। कामिनी के पाद के आघात से अशोक का पुष्पित होना ही कवि-संप्रदाय में प्रसिद्ध है, न कि अंकुरोद्गम का होना। अतः यहाँ 'अप्रसिद्ध बात का उल्लेख' है। यदि लोक-विरुद्ध कोई भी बात कवि-संप्रदाय में प्रसिद्ध होती है, तो वहाँ दोष नहीं माना जाता है।

## ( ४७ ) विद्या-विरुद्ध

शास्त्र-विरुद्ध वर्णन।

जैसे—

रद-छद सद नख-पद लगे कहँ देत सब गात।

यहाँ रद-छदों पर—अधरों पर—नख-क्षतों का होना काम-शास्त्र के विरुद्ध है। इसी प्रकार जहाँ धर्म, नीति आदि शास्त्र के विरुद्ध वर्णन होता है, वहाँ भी यह दोष होता है।

## ( ४८ ) अनवीकृत

अनेक अर्थों का एक ही प्रकार से होना, उनमें कोई विलक्षणता न होना।

जैसे—

सदा करत नभ गौन रवि सदा चलत है पौन;
सदा धरत भुवि सेष सिर धीर सदा रहँ मौन।

चारो चरणों में 'सदा' पद का प्रयोग है। इसके अर्थ में विलक्षणता नहीं है, अतः दोष है। ऐसे वर्णनों में विलक्षणता हो जाने पर दोष नहीं रहता।

जैसे—

इक हय-युत रवि गौन सेष सदा धरनी धरत;
निसि दिन वहत जु पौन नृपति-धर्म हू है यही।

इसमें उपर्युक्त बात का स्वरूप बदल जाने से विलक्षणता आ गई है। कथित पद-दोष में पर्याय-वाची शब्द के बदल देने

से दोष नहीं रहता। यहाँ पर्याय-वाची शब्द के बदल देने पर भी दोष रहता है। इनमें यह भेद है।

## ( ४९ ) सनियम परिवृत्तता

जिस बात को नियम से कहना चाहिए, उसको नियम से नहीं कहना। नियम का अर्थ है किसी वस्तु का एक स्थान पर नियम किया जाने पर उसका अन्यत्र निषेध होना।

जैसे—

दीखत के रमनीय ये जग में विषय-विलास;
ह्वै निमग्न तिनमें वृथा करत कहा सुख-आस।

यहाँ 'दीखत' पद के साथ 'ही' होना चाहिए। 'ही' के कारण यह नियम हो जाता है कि 'विषय-विलास केवल देखने में ही सुरम्य है, वस्तुतः नहीं।'

## ( ५० ) अनियम परिवृत्तता

जिस बात को नियम से न कहना चाहिए, उसको नियम से कहा जाना।

जैसे—

हैं नेत्र नील-अरविंद खिले सुहाएँ,
तन्वंगि ! मंजुल मृनालमयी भुजाएँ।
आवर्त्त ही ललित नाभि न क्या बता तू ?
लावण्य-अंबु परिपूरित वापिका तू।

यहाँ नायिका को लावण्य-रूप जल की नदी बताया है। नेत्रों में खिले कमल का, भुजाओं में मृनाल का, नाभि में आवर्त ( जल के भँवर ) का आरोप किया गया है।

'आवर्त' के साथ 'ही' का प्रयोग अनुचित है—केवल आवर्त कहना चाहिए। क्योंकि 'ही' के कारण यह नियम हो गया है कि आवर्त ही नाभि है, और कोई वस्तु नाभि नहीं, अतः दोष है।

## ( ५१ ) विशेष परिवृत्तता

जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना।

जैसे—

> क्यों न करहु काजर छिरक सजनी ! रजनी कारि ;
> काहू विधि चूरन करहु ससिहि सिला पै डारि।
>
> ( राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका'-नाटक से अनुवादित )

विरहिणी के कहने का अभिप्राय यह है कि इस चाँदनी रात को प्रकाश-हीन कर दो। किंतु 'रजनी'-शब्द अँधेरी और चाँदनी दोनो तरह की रात्रि का बोध कराता है, यह सामान्य शब्द है, इसलिये चाँदनी रात के वाचक 'उजेरी' आदि किसी विशेष शब्द का प्रयोग होना चाहिए था, अर्थात् यहाँ विशेष शब्द के स्थान पर सामान्य शब्द का प्रयोग होने के कारण दोष है।

## ( ५२ ) अविशेष परिवृत्तता

जिस अर्थ के लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना ।

जैसे—

विद्रुम-निधि तू है जलधि ! महिमा कही न जाय ;

समुद्र को एक ही रत्न-विशेष-विद्रुम का निधि कहना अनुचित है ; क्योंकि समुद्र केवल विद्रुम का ही नहीं, किंतु अनेक रत्नों का निधि है। अतः विद्रुम के स्थान पर 'रत्न' आदि सामान्य-वाचक शब्द होना चाहिए था ।

## ( ५३ ) साकांक्ष्य

अर्थ की संगति के लिये किसी शब्द या वाक्य की आकांक्षा ( आवश्यकता ) का रहना ।

जैसे—

भंग भई निज याचना पुनि अरि को उतकर्ष ;
स्त्री रत्नहु दसमुकुट ! तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष ।
( महावीर-चरित से भावानुवादित )

सीताजी के लिये याचना करके हताश हुए माल्यवान् की रावण के प्रति यह उक्ति है। 'स्त्री रत्नहु' के आगे 'छोड़िबो' इत्यादि की आकांक्षा रहती है। क्योंकि केवल 'स्त्री रत्नहु' के साथ 'तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष' का अन्वय नहीं हो सकता ।

## ( ५४ ) अपदयुक्त

जहाँ ऐसे अनुचित स्थान में अर्थ का योग हो, जिससे प्रकरणार्थ के विरुद्ध अर्थ को प्रतीति हो।

जैसे—

आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति,
लंकापुरी, विमल-वंश, अपार-शक्ति।
है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो,
एकत्र सर्व-गुण किंतु कहीं नहीं हो।

( राजशेखर-कृत बाल-रामायण से पद्यानुवादित )

यहाँ रावण में रावणत्व ( सब लोगों को रुलानेवाली क्रूरता ) रूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है। चौथे पाद के अर्थांतरन्यास के कारण उस दोष में लघुता आ गई है। अर्थात् रावण की अत्यंत क्रूरता यह कह देने से कि 'सब गुण एक स्थान पर नहीं हो सकते' एक साधारण बात हो गई है। अतएव चौथे पाद में जो बात कही गई है, उसे नहीं कहना चाहिए था।

## ( ५५ ) सहचर भिन्न

उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का, या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन होना। जैसे—

गलित पयोधर कामिनी, सज्जन संपति-हीन ;
दुर्जन को सनमान यह हिय-दाहक हैं तीन।

यहाँ कामिनी और सज्जन के साथ में दुर्जन का वर्णन है, यही सहचर-भिन्नता है।

## ( ५६ ) प्रकाशित विरुद्ध

अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

राज्य-लक्ष्मि को प्राप्त हो नृप ! तव जेष्ठ कुमार।

राजा को यह कहना कि 'आपका जेष्ठ कुमार राज्य-लक्ष्मी को प्राप्त करे' राजा का मरना सूचित करता है। क्योंकि राजा की जीवित अवस्था में राजकुमार को राज्य-श्री नहीं मिल सकती। राजा का मरना सूचित होना प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति है। पूर्वोक्त 'विरुद्धमतिकृत' दोष शब्द के आश्रित है—वहाँ शब्द-परिवर्तन से दोष नहीं रहता है। यहाँ शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी दोष रहता है, इन दोनो में यही भेद है।

## ( ५७ ) विध्ययुक्त

अविधेय ( विधान करने के अयोग्य ) का विधान होना। जैसे—

वंदिन सो प्रतिबुद्ध ह्वै अब सुख सोय नृपाल !
करौं अपांडव भुवि अबै काटौं सब रन-जाल।
( वेणीसंहार से भावानुवादित )

द्रोणाचार्य के कारण कुपित अश्वत्थामा की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति है—'हे राजन्, अब तक तुम्हें पांडवों के भय से निद्रा नहीं आती थी। अब तुम 'वंदीजनों की स्तुति से

उठकर निःशंक सुख से सोना।' कहना यह चाहिए था कि अब सुख से सोकर वंदीजनों की स्तुति से उठना। वंदीजनों की स्तुति से प्रथम सोने का विधान है, यही अविधेय का विधान है।

## ( ५८ ) अनुवाद अयुक्त

विधि के अनुकूल अनुवाद का नहीं होना। जैसे—

गौरी पति-चूड़ा भरन! हरन विरहि-जन प्रान;
निरदयता कीजै न ससि! मुहि अबला जिय जान।

विरहिणी की चंद्रमा से प्रार्थना है। चंद्रमा को 'विरहि जन-प्राण-हरण' संबोधन दिया गया है, वह प्रार्थना के प्रतिकूल है। क्योंकि जिसे विरही जनों का प्राण-घातक कहा जाय, उसी से निर्दयता न करने की प्रार्थना करना अनुचित है। यही अनुवाद अयुक्त दोष है।

## ( ५९ ) त्यक्तपुनः स्वीकृत

किसी अर्थ का त्याग करके फिर उसी का स्वीकार करना। जैसे—

"प्यारे पानि गह्यो मानि भौन मैं अकेली जानि
नैनन चढ़ाय के सलौनी सतरात है;
नैनन हँसौहैं दीठि राखत है सौहैं
मुसकाय के लजौहैं अंग-अंग ठहरात है।
भयो मन चाह्यो ज्यों सुरत सुख पायो
हिए आनँद बढ़ायो नेक नेकनि डरात है;

झटकि छुटावैं वाहि मिल्यो चाहैं मनमाहिं,
करैं नाहीं-नाहीं याही मिस नियरात है।"

तीसरे चरण के 'सुख पायो' वाक्य तक रति-क्रीड़ा के वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर तीसरे चरण के उत्तरार्द्ध और चौथे चरण में क्रीड़ा की पूर्वावस्था का वर्णन करना त्यक्त पुनःस्वीकृत दोष है।

## ( ६० ) अर्थ अश्लील

लज्जास्पद आदि अर्थ की प्रतीति होना।

जैसे—

मारन उद्यत ह्वै रह्यो छिद्रान्वेषी स्तब्ध ;
ज्यों ह्वै याको पतन पुनि तो न वेगि ह्वै क्षुब्ध।

यहाँ दूसरे के छिद्र को ढूँढ़नेवाला, मारने को उद्यत और स्तब्ध ऐसे किसी दुष्ट का पतन करने को कहा गया है। यहाँ पुरुष के गुह्यांग-विशेष के वर्णन की भी प्रतीति होती है, इसलिये अश्लील है।

शब्द और अर्थ के ये ६० प्रकार के दोष कहीं-कहीं दोष नहीं भी होते हैं, और कहीं-कहीं ये प्रत्युत गुण भी हो जाते हैं।

जैसे—

कर्णावतंस इसके अति दर्शनीय,
हैं शोभनीय श्रुति - कुंडल अद्वितीय ;

आमोद से दिशि प्रमोदित हो रही हैं,
आती प्रलोभित जहाँ अमरावली हैं।

'अवतंस' और 'कुंडल' कानों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर पहनने के 'आभूषण होते हैं। केवल 'अवतंस' और 'कुंडल' कहने-मात्र से यह ज्ञान हो सकता है, कि ये कानों में पहनने के आभूषण हैं। तथापि यहाँ 'कर्ण' और 'श्रुति'-शब्द भी हैं। किंतु इनका प्रयोग पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि कर्ण और श्रुति शब्दों के प्रयोग के कारण कर्ण की समीपता प्रतीत होती है, जिससे कानों में पहने हुए अवतंस और कुंडलों से कामिनी की शोभा का उत्कर्ष सूचित किया गया है। बिना पहने हुए अन्यत्र रक्खे हुए तादृश शोभित नहीं होते। ऐसे वर्णनों में 'पुनरुक्ति' दोष नहीं होता।

और भी—

ललित हाव अरु तरुन वय अरु तरुनी मुखचंद;
कुसुम-माल लखि अलिन ज्यों किहि को है न अनंद।

यद्यपि 'माला'-शब्द से ही पुष्पमाला की प्रतीति हो सकती है, किंतु यहाँ पुष्पमाला कहने से अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि द्वारा उत्कृष्ट पुष्पों का सूचन होता है। ऐसे प्रयोगों में पुनरुक्त या अपुष्ट दोष नहीं होता।

लोक-प्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुक'-दोष नहीं होता है।

जैसे—

ससि-गत लहत न कमल-गुन कमल-गत न ससि आभ ;
श्रियहि उमा-मुख पाय भो उभयाश्रित गुन-लाभ।

( कुमारसंभव से अनुवादित )

रात्रि में चंद्रमा के आश्रित रहकर श्री को ( शोभा को ) कमल के सौरभादि गुण प्राप्त नहीं हो सकते, और दिन में कमल के आश्रित हो जाने से उसे चंद्रमा के कांति आदि गुण प्राप्त नहीं हो सकते ; किंतु पार्वतीजी के मुख के आश्रित होकर उस ( श्री या शोभा ) को कमल और चंद्रमा दोनो के गुण प्राप्त हो गए हैं । यहाँ रात्रि में चंद्रमा के आश्रित श्री को कमल के गुणों के न मिलने में कमल का रात्रि में संकुचित हो जाना ही हेतु है, और दिन में चंद्रमा के गुण न मिलने में दिन में चंद्रमा का निस्तेज हो जाना हेतु है। ये दोनो यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहे गए हैं, पर ये हेतु लोक-प्रसिद्ध हैं। इनके न कहने पर भी स्वयं इनका ज्ञान हो जाता है, इसलिये निर्हेतु दोष नहीं है।

श्लेष और यमक आदि अलंकारों में 'अप्रयुक्त' और 'निहतार्थ' दोप नहीं माने जाते हैं । सुरतारंभ-गोष्ठी में व्रीड़ा-व्यंजक अश्लील, वैराग्य की कथाओं में वीभत्स-व्यंजक अश्लील और भावि-वर्णन में अमंगल-व्यंजक अश्लील दोष नहीं माना जाता, प्रत्युत गुण समझा जाता है। जैसे—

उदर फटे मंडूक-सम स्रवत रु रहत उतौन ;
अस तिय के व्रण में कहो है रत कृमि बिन कौन ।

इसमें व्रीड़ा और बीभत्स-व्यंजक वर्णन है, किंतु वैराग्य के प्रसंग में होने के कारण दोष नहीं है।

वाच्यार्थ के महत्त्व से 'संदिग्ध' दोष, 'व्याजस्तुति' अलंकार आदि में गुण समझा जाता है।

जैसे—

> पृथुकार्तस्वर[१] पात्र है भूषित परिजन देह;
> नृप! अपने दोऊन के हैं समान ही गेह।

यहाँ दो अर्थवाले पद होने से संदिग्ध अर्थ है। किंतु राजा और कवि दोनो में अपने-अपने अनुकूल अर्थ के बोधक होने के कारण दोष नहीं है।

जहाँ वक्ता और श्रोता दोनो व्यक्ति वर्णनीय शास्त्र-विषय के ज्ञाता होते हैं, वहाँ 'अप्रतीत' दोष नहीं होता है।

जहाँ वक्ता नीच पात्र होता है, वहाँ 'ग्राम्य' दोष नहीं होता है।

---

१ किसी राजा के प्रति उक्ति है—'हे राजन्! आपके घर में पृथुकार्तस्वर पात्र हैं अर्थात् पृथु (बहुत-से) कार्तस्वर (सुवर्ण) के पात्र हैं; मेरे घर में भी पृथुकार्तस्वर पात्र हैं, अर्थात् पृथुक (बालक) आर्तस्वर—क्षुधा-पीड़ित दीन ध्वनि के पात्र—हो रहे हैं। आपके घर में परिजनों के देह भूषित हैं, अर्थात् आभूषणों से शोभित हैं; मेरे घर में परिजनों के शरीर भूषित अर्थात् पृथ्वी पर सोते हैं। अतः आपके और मेरे घर में समानता है।

जहाँ अध्याहार के कारण शीघ्र ही प्रतीति हो सकती हो, वहाँ 'न्यून पद'-दोष नहीं होता है।

'अधिक पद' दोष भी कहीं दोष न रहकर गुण हो जाता है।

जैसे—

स्वारथ हित खल करत जो ठगिबे मीठी बात;
सो न सुजन जानत न पै जानत कृपा दिखात।

खल पुरुष अपने लाभ के लिये ठगने को मीठी-मीठी बातें सज्जनों के सामने करते हैं। उनकी वे बातें क्या सज्जन नहीं जानते हैं? जानते हैं, पर जानकर भी उन पर कृपा दिखाते हैं। यहाँ 'जानत' पद दो बार है। दूसरी बार का 'जानत' पद अधिक होने पर भी वह दूसरे लोगों से सज्जनों की पृथक्ता दिखाने के लिये है अर्थात् खलों की करतूत को जानते हुए भी सज्जन ही उन पर कृपा करते हैं—अन्य नहीं।

'लाटानुप्रास', 'कारणमाला' अलंकारों में और 'अर्थांतर संक्रमितध्वनि में, 'कथित पद'-दोष न रहकर प्रत्युत गुण हो जाता है।

जैसे—

सहृदय जन आदर करैं तब ही गुन प्रकटाहिं;
भानु अनुग्रह पाय ही कमल कमल दरसाहिं।

( विषमबाणलीला से अनुवादित )

दूसरी वार के 'कमल' पद में अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी वार का 'कमल' पद कमल को विकास, सौरभ और सौंदर्य आदि गुण-युक्त सूचित करता है। लाटानुप्रास और कारणमाला के उदाहरण अलंकार-प्रकरण में देखिए।

अनुप्रासादि अलंकारों में एक ही पद्य में कहीं विपर्यांतर हो जाने पर 'पतत्प्रकर्ष'-दोष नहीं माना जाता है।

प्रथम भाग समाप्त। द्वितीय भाग में अलंकार के विषय का निरूपण किया जायगा।

# विषयानुक्रमणिका

## सहायक संस्कृत-ग्रंथों की नामावली


अग्निपुराण—भगवान् वेदव्यास, आनंदाश्रम, पूना

अभिधावृत्तिमातृका—मुकुल भट्ट, निर्णयसागर-प्रेस, बंबई, सन् १९१६

अलंकारसर्वस्व—रुय्यक और मंखक, जयद्रथ-कृत विमर्शनी व्याख्या नि० सा० सन् १८९३

अलंकारसूत्र—रुय्यक और मंखक, समुद्रबंध-कृत व्याख्या, अनंतशयन सन् १९२६

अलंकारशेखर—केशव मिश्र, नि० सा०, बंबई, सन् १८९५

उज्ज्वलनीलमणि—श्रीरूपगोस्वामी, नि० सा०, बंबई सन् १९१३

एकावली—विद्याधर, बांबे संस्कृत-सीरीज़

औचित्य विचार-चर्चा—क्षेमेंद्र, नि० सा०, बंबई, सन् १८८६

कविकंठाभरण—क्षेमेंद्र, नि० सा०, बंबई, सन् १८८६

काव्यप्रकाश—आचार्य श्रीमम्मट, वामनाचार्य-कृत बाल-बोधि व्याख्या नि० सा०, सन् १९०१

काव्यप्रकाश—श्रीमम्मट, काव्यप्रदीप और उद्योत आनंदाश्रम, पूना

काव्य-मीमांसा—राजशेखर, गायकवाड़ बड़ौदा, सन्

काव्यालंकार—आचार्य भामह, चौखंबा संस्कृत-विलास, बनारस, सन् १९२८

काव्यालंकारसार-संग्रह—उद्भट, भंडारकर, पूना

काव्यालंकारसार-संग्रह—उद्भट, नि० सा०,

काव्यालंकारसूत्र—वामन, सिंह, भूपाल-कृत कामधेनु व्याख्या विद्याविलास, बनारस, सन् १९०७

काव्यालंकार—रुद्रट, नमिसाधु-कृत टिप्पणी, नि० सा० सन् १८८६

काव्यादर्श—दंडी, पूना संस्करण, सन् १९२४

काव्यानुशासन—हेमचंद्र विवेक व्याख्या, नि० सा०, सन् १९०

काव्यानुशासन—वाग्भट, नि० सा०, सन् १९१५

कुवलयानंद—अप्पय्य दीक्षित, श्रीवेंकटेश्वर-प्रेस, बंबई, विसंवत् १९५२

चंद्रालोक—पीयूषवर्ष जयदेव, गुजराती प्रिंटिंग, बंबई, सन् १९२

चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, नि० सा०, सन् १८९३

दशरूपक—धनिक, नि० सा०, सन् १९२७

ध्वन्यालोक—ध्वनिकार और श्रीआनंदवर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत लोचन व्याख्या नि० सा०, सन् १८९१

नाट्यशास्त्र—श्रीभरतमुनि, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत अभिनवभारती व्याख्या अध्याय १-६, गायकवाड़ बड़ौदा, सन् १९२६

नाट्यशास्त्र—श्रीभरतमुनि मूल, नि० सा०, सन् १८९४

भगवद्भक्तिरसायन—श्रीमधुसूदन स्वामी, अच्युत-ग्रंथमाला स्यन्द ', वि० सं० १९८४

स्वेद

सात्त्विक ...गाधर—पंडितराज जगन्नाथ, नि० सा०, सन् १८९४

भरत मु। ...जीवित—कुंतक या कुंतल, ओरियंटल सीरीज़, कलकत्ता

भोजराज

मम्मटाचार्य ...—महिम भट्ट, नि० सागर, बंबई

विश्वनाथ का ...— वाग्भट, नि० सा०, सन् १९२८

हेमचंद्राचार्य का ...य दीक्षित, नि० सा०, सन् १९१०

सादृश्य संबंध ...—श्रीमम्मट, नि० सा०

साधारणीकरण १५